दयानन्द-ग्रन्थ-माला

(द्वितीय भाग)

(संस्कारविधि तथा आर्याभिविनय)

ओ३म्

दयानन्द-ग्रन्थ-माला

(द्वितीय भाग) 98965

(संस्कारविधि तथा आर्याभिविनय)
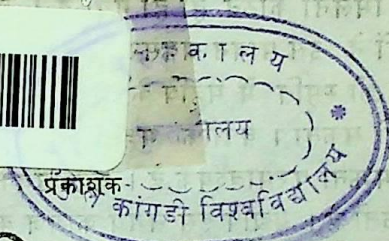
प्रकाशक-

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

२ एफ, कमला नगर, दिल्ली-११०००७
दूरभाष—२५१७३७७, २५२६८२८, २३३११२, २३८३६०

शाखा—२ एफ, कमला नगर, दिल्ली-७
विक्रय केन्द्र—४५५ खारीबावली, दिल्ली-११०००६

सृष्टि-संवत्—१,९६,०८,५३,०८२
दयानन्दाब्द १५७
विक्रमी संवत् २०३८

मूल्य तीनों भागों का ७०) रु०

प्रथम संस्करण २२००

प्रकाशकीय

महर्षि-दयानन्द के अमर ग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश की शताब्दी के शुभावसर पर आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दयानन्द-ग्रन्थमाला को तीन भागों में प्रकाशित कर आर्य-जगत् की सेवा में समर्पित कर रहा है, यह अतीव प्रसन्नता की बात है। यद्यपि दयानन्द-ग्रन्थमाला (दो भागों में) प्रथम अर्धशताब्दी के शुभावसर पर प्रकाशित हो चुकी है, परन्तु वह अब उपलब्ध न होने से महर्षि के ग्रन्थों का एकत्र मिलना कठिन ही हो गया है। हमारे ट्रस्ट की सभा में सभी सदस्यों ने इस पावन अवसर पर यह हार्दिक इच्छा प्रकट की कि महर्षि की स्मृति में महर्षि के ग्रन्थों के उपहार से उत्तम अन्य कार्य नहीं हो सकता। क्योंकि महर्षि को समझने के लिए उनके ग्रन्थों को समझना परमावश्यक है। यही उनके प्रति सर्वोत्तम श्रद्धाञ्जलि हो सकती है। यद्यपि इस समय कागज की मंहगाई तथा साधनों की कीमत बढ़ने से इस ग्रन्थ-माला के प्रकाशन में अनेक प्रकार की बाधायें सामने आईं, पुनरपि पूर्व निश्चय के अनुसार बढ़िया कागज पर उत्तम छपाई के साथ लागतमात्र मूल्य पर यह कार्य परम-पिता परमात्मा की कृपा से पूर्ण हो ही गया। एतदर्थ ट्रस्ट के सभी सहयोगी धन्यवाद के पात्र हैं।

और इस ग्रन्थ-माला के प्रकाशन का विशेष उद्देश्य भी है। महर्षि के कुछ ग्रन्थों को छोड़कर दूसरे ग्रन्थ बाजार में उपलब्ध न होने से जहाँ पाठक पूर्ण लाभ उठा नहीं सकते थे, वहाँ महर्षि के ग्रन्थों की सुरक्षा भी नहीं हो सकती थी। जो ग्रन्थ पठन-पाठन में नहीं आते, धीरे-धीरे वे जन-मानस से ओझल ही हो जाते हैं। इससे आर्य-जगत् की महती हानि हो सकती है। पाँच हजार वर्षों के पश्चात् महर्षि-दयानन्द ने जिस लुप्त वेद-विद्या का प्रकाश अपने ग्रन्थों में किया है, लोग उस विद्या से वञ्चित ही रह जाते। अतः समस्त ग्रन्थों के एकत्र प्रकाशन से पठन-पाठन में सुविधा के साथ-साथ इन ग्रन्थों की सुरक्षा भी होती है। महर्षि-दयानन्द ने

वेदादि समस्त सत्यशास्त्रों का पूर्णरूपेण मन्थन करके सर्वसामान्य की भाषा में जो वेद-विद्या का प्रकाश किया है, वह उनकी अलौकिक प्रतिभा तथा लोकहित-भावना का परिचायक है। मध्य-कालीन अनार्ष ग्रन्थों और मत-मतान्तरों की भयंकर काली घटाओं ने सत्यविद्या के प्रकाशक वेद-सूर्य को इस प्रकार ढक दिया था कि मानव अज्ञानान्धकार में ही भटकता फिरता था। और मानव-जीवन को निष्फल ही कर रहा था। लोकहितैषी, परम आस्तिक महर्षि-दयानन्द ने कुशल वैद्य की भांति इस रोग को परखा और उचित उपचार करने के लिए भौतिक सुखों का सर्वथा त्याग करके लोकहित के कार्य में लग गये। और वैदिक वाङ्मय का मन्थन करके नीर-क्षीर विवेक की भाँति सत्यासत्य का निर्णय किया और उसका प्रकाश अपने ग्रन्थों में किया है। आज यदि कोई निष्पक्ष तथा जिज्ञासुभाव से वेद-विद्या को सीखना चाहता है तो वह महर्षि के ग्रन्थों का अध्ययन किये बिना वेदादि शास्त्रों के सत्यार्थ को नहीं समझ सकता। अतः वेद-ज्ञान की प्राप्ति के लिए महर्षि के ग्रन्थ सोपान की भांति परम सहायक हैं। जो व्यक्ति महर्षि के ग्रन्थों को एक बार पढ़ लेता है उसका मानों कायाकल्प ही हो जाता है और वह असत्य एवं अज्ञान पूर्ण विकट मार्ग से बचकर सन्मार्ग का पथिक बन जाता है। इसलिये, प्रत्येक वेदभक्त को वेदार्थ-ज्ञान प्राप्ति के लिये, प्रत्येक परमेश्वर के उपासक को सच्ची उपासनापद्धति जानने के लिये, निष्पक्ष व्यक्ति को सत्यासत्य-निर्णय करने के लिये और संस्कृत से अनभिज्ञ होने पर भी शास्त्रीय ज्ञानप्राप्ति के लिये महर्षि-दयानन्द के ग्रन्थों को एक बार अवश्य पढ़ना चाहिये। इनको पढ़ने से मानव की बुद्धि का आवरण दूर होता है और पारस्परिक मत-मतान्तरों के झगड़ों से बचकर मानव मानव बन जाता है।

प्रस्तुत द्वितीय भाग में महर्षि के दो ग्रन्थों का संग्रह किया गया है—(१) संस्कारविधि और (२) आर्याभिविनय। महर्षि के ये दोनों ग्रन्थ भी मानव-जाति के लिये परमोपयोगी हैं। १६ संस्कारों से मानव का शरीर और आत्मा दोनों संस्कृत होते हैं। संस्कारों के विना मनुष्य एक-जन्म होने से द्विज नहीं बन सकता, शूद्र ही रहता है। और संस्कारों से संस्कृत होकर मानव सच्चा ब्राह्मण, देव, तथा ऋषि बन जाता है। परन्तु संस्कारों के विषय में तथा उनकी पद्धति में भी मध्यकाल में जो अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ प्रचलित हो गई थीं; महर्षि ने इस ग्रन्थ में उन सबका निराकरण कर शास्त्रीय आधार पर सत्यपद्धति को ही रखा है, और संस्कारों में प्रचलित अशास्त्रीय पद्धति को सर्वथा दूर कर दिया है।

और इस भाग में दूसरा ग्रन्थ है—आर्याभिविनय। इसमें वेदों से चुन-चुनकर महर्षि ने ऐसे उत्तम मन्त्रों का संग्रह किया है, जो वेद के स्वाध्यायशील तथा ईश्वर-स्तुति प्रार्थना करने वाले के लिये अतीव उपयोगी हैं। वैदिक स्तुति तथा प्रार्थनाओं का यह अत्युत्तम स्रोत है। महर्षि की आत्म-भक्ति का भी परिचायक है। साथ ही ट्रस्ट ने इस पर विशेष कार्य भी करवाया है। जो व्यक्ति साधारण संस्कृत ही जानते हैं, उन्हें पदार्थ समझने में बहुत कठिनाई होती थी। एतदर्थ महर्षि की व्याख्या से पदार्थ छांटकर पृथक् भी प्रकाशित किया गया है। जिससे स्वाध्याय करने वाले को मन्त्रार्थ का हृदयंगम सरलता से हो जाता है। आशा है, इन ग्रन्थों के पाठक इनकी उपर्युक्त विशेषताओं से अवश्य लाभान्वित होंगे और अपने जीवन को सुसंस्कृत बनाकर परमेश्वर के सच्चे स्तोता, प्रार्थी तथा उपासक बनने का प्रयास कर जीवन उन्नत बना सकेंगे।

विनीत—

आषाढ़ शुक्ला नवमी
सं० २०३८ वि०
दिनांक—१० जौलाई, १९८१

दीपचन्द आर्य
प्रधान—आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

ओ३म्

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

संस्कारविधिः

वेदानुकूलैर्गर्भाधानाद्यन्त्येष्टिपर्यन्तैः षोडश-
संस्कारैः समन्वितः

आर्यभाषया प्रकटीकृतः

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्येण श्रीमद्दयानन्द-
सरस्वतीस्वामिना निर्मितः

प्रकाशक

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

२ एफ, कमला नगर, दिल्ली-११०००७
शाखा—४५५ खारीबावली, दिल्ली-११०००६
दूरभाष—२२१३२७, २२६५४७, २३८३६०, २३३१३२

सृष्टि-संवत् १९६०८५३०८१
संवत् २०३७, मार्च, १९८१
दयानन्दाब्द १५६

पूर्व प्रकाशित ९५००
तृतीय संस्करण ५५००
योग १५०००

मूल्य : अजिल्द ४)
कपड़ा जिल्द ६)

संस्कारविधेर्विषयसूचीपत्रम्

*

प्राक्कथन

संस्कारों का महत्त्व—

मानव-जीवन की उन्नति में संस्कारों का विशिष्ट महत्त्व है। मानव की शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक उन्नति के लिए जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त भिन्न-भिन्न समय पर संस्कारों की व्यवस्था प्राचीन ऋषि-मुनियों ने बहुत ही सुन्दर ढंग से की है। संस्कारों से ही मानव को द्विज बनने का अधिकार मिलता है। महर्षि मनु ने इस विषय में बहुत ही सत्य लिखा है—

(क) वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ।। मनु० २।२६ ।।

अर्थ—द्विजों के गर्भाधानादि संस्कार वैदिक पुण्य कर्मों के द्वारा सम्पन्न होने चाहिये। क्योंकि इस लोक तथा परलोक में पवित्र करने वाले संस्कार हैं।

(ख) गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ।। मनु० २ । २७ ।।

अर्थ—गर्भसम्बन्धी हवन (गर्भाधान, पुंसवन तथा सीमान्तोन्नयन-संस्कार) जातकर्म, चूडाकर्म और उपनयन संस्कारों के द्वारा द्विजों के गर्भ एवं वीर्य-सम्बन्धी दोष दूर हो जाते हैं।

इस प्रकार मनु जी का संस्कारों के विषय में स्पष्ट निर्देश है कि माता-पिता के वीर्य एवं गर्भाशय के दोषों को गर्भाधानादि संस्कारों से दूर किया जाता है। अतः संस्कार शरीरादि की शुद्धि करते हैं। इससे अगले श्लोक में तो (मनु० २ । २८) में लिखा है कि यज्ञ, व्रतादि से मानवशरीर व आत्मा को ब्रह्मप्राप्ति के योग्य बनाया जाता है।

महर्षि दयानन्द ने संस्कारों को परमोपयोगी समझकर ही प्राचीन ऋषि-

मुनियों की पद्धति का अनुसरण करके संस्कारविधि की रचना की है। उसमें महर्षि ने संस्कारों का महत्त्व इस प्रकार बताया है—

(क) 'जिस करके शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त हो सकते हैं और सन्तान अत्यन्त योग्य होते हैं। इसलिए संस्कारों का करना सब मनुष्यों को अति उचित है।' (सं० वि० भूमिका)

(ख) **संस्कारैस्संस्कृतं यद्यन्मेध्यमत्र तदुच्यते।**
असंस्कृतं तु यल्लोके तदमेध्यं प्रकीर्त्यते॥ ४॥
अतः संस्कारकरणे क्रियतामुद्यमो बुधैः।
शिक्षयौषधिभिर्नित्यं सर्वथा सुखवर्धनः॥ ५॥

(संस्कार० पृ० १)

अर्थात् संस्कारों से संस्कृत ही पवित्र तथा असंस्कृत को अपवित्र कहते हैं। अतः शिक्षा तथा ओषधियों से सुखवर्धक संस्कारों के करने में बुद्धिमानों को सदा उद्यम करना चाहिए।

जीवात्मा अमर तथा नित्य है। जन्म-जन्मान्तरों में उसके साथ सूक्ष्मशरीर मुक्तिपर्यन्त रहता है। और यही सूक्ष्मशरीर जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों या वासनाओं का वाहक होता है। ये संस्कार शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं। जब जीवात्मा दूसरे शरीर में प्रवेश करता है, उसको नई परिस्थिति के भी बहुत से शुभाशुभ प्रभाव मिलते हैं। उनमें बुरे प्रभावों को अभिभूत करने तथा शुभ प्रभावों को उन्नत कराने के लिए संस्कारों तथा स्वच्छ वातावरण की परमावश्यकता है। महर्षि दयानन्द ने इसलिए माता-पिता को सचेत करते हुए लिखा है—

"माता और पिता को अति उचित है कि गर्भाधान के पूर्व, मध्य और पश्चात् मादक द्रव्य मद्य, दुर्गन्ध, रूक्ष, बुद्धिनाशक पदार्थों को छोड़ के जो शान्ति, आरोग्य, बल, बुद्धि, पराक्रम और सुशीलता से सभ्यता को प्राप्त करें, वैसे घृत, दुग्ध, मिष्ट, अन्नपानादि श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन करें, जिससे रजस् वीर्य भी दोषों से रहित होकर अत्युत्तम गुण युक्त हों।" (स० प्र० द्वि० समु०)

अतः माता-पिता के शुद्धाहार व शुद्ध विचारों का बालक पर बहुत प्रभाव

होता है। वालक के पूर्वजन्मस्थ अशुभ संस्कार पवित्र वातावरण को पाकर वैसे ही ओझल हो जाते हैं, अथवा दग्धबीजवत् प्रसवगुणरहित हो जाते हैं, जैसे पोदीना या धनिया के पौधे वर्षा की प्रतिकूल परिस्थिति को पाकर मुर्झा जाते हैं, और वर्षा के बाद अनुकूल परिस्थिति पाकर फिर से प्रस्फुटित तथा विकसित हो जाते हैं। संस्कारों में प्रथम तीन संस्कार तो बच्चे के जन्म से पूर्व ही किए जाते हैं, जिनका पूर्ण उत्तरदायित्व माता-पिता पर ही है। यदि बच्चे के पूर्वजन्म के संस्कार भी उत्तम हों, गर्भावस्था में भी माता-पिता के उत्तम संस्कार पड़े हों और जन्म के बाद भी उत्तम वातावरण प्राप्त हो जाए, तो ऐसे बच्चे महाभाग्यशाली होते हैं। महर्षि ने इनके विषय में ही लिखा है—'वह सन्तान बड़ा भाग्यवान्, जिसके माता और पिता धार्मिक और विद्वान् हों।' (स० प्र० द्वि० समु०)

स्वयं संस्कार शब्द भी संस्कारों की महत्ता को बताता है। संस्कार शब्द में सम् उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय है। और पाणिनि के 'सम्पर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे' सूत्र से अलंकार अर्थ में सुडागम होता है। इसके अनुसार भी संस्कार शब्द का अर्थ है—जिससे शरीरादि सुभूषित हों, उन्हें संस्कार कहते हैं। अथवा भाव में 'घञ्' प्रत्यय करके—

'संस्करणं गुणान्तराधानं संस्कारः' अर्थात् अन्य गुणों के आधान को संस्कार कहते हैं। संस्कारों से मानव की सर्वाङ्गीण उन्नति तो होती ही है, साथ ही पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति से मानव अपने जीवन-लक्ष्य को प्राप्त करने में भी समर्थ हो जाता है। अतः आर्यों के जीवन में संस्कारों को विशेष महत्त्व दिया गया है।

संस्कारविधि की आवश्यकता—महर्षि दयानन्द ने संस्कारविधि की आवश्यकता बताते हुए लिखा है—

कृतानीह विधानानि ग्रन्थग्रन्थनतत्परैः।
वेद-विज्ञानविरहैः स्वार्थिभिः परिमोहितैः॥ (सं० वि० पृ० १)
प्रमाणैस्तान्यनादृत्य क्रियते वेदमानतः।
जनानां सुखबोधाय संस्कारविधिरुत्तमः॥ (सं० वि० पृ० १)

अर्थात् वेदादि शास्त्रों से अनभिज्ञ, स्वार्थी तथा मुग्ध मनुष्यों ने संस्कारों के सम्बन्ध में जो मिथ्याग्रन्थों की रचना की है, उनका वेदादि के प्रमाणों से खण्डन करके लोगों को सरलता से बोध कराने के लिए यह उत्तम संस्कारविधि की रचना की है। इससे स्पष्ट है कि आर्यजाति में वेदादि शास्त्रों में विहित संस्कारों में जो दूषित मान्यताएँ प्रविष्ट हो गई थीं, अथवा जिन शुद्ध परम्पराओं को लोग भूल गये थे, उन दोषों को दूर करके आर्यजाति के पुनरुत्थान के लिए इस अलौकिक संस्कारविधि ग्रन्थ की महर्षि ने रचना की है

आजकल के नवीन वेदान्ती जो यह मिथ्याप्रचार करते रहते हैं कि कर्म-काण्ड तो जगत् में फंसाता है, अतः मुमुक्षु जनों को ज्ञानकाण्ड को तो अपनाना चाहिए और कर्मकाण्ड की उपेक्षा करनी चाहिए। ऐसी मिथ्या भ्रान्तियों का खण्डन करते हुए महर्षि ने लिखा है—

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते। (यजु० ४०।१४)।

अर्थात् 'अविद्या=कर्मोपासना से मृत्यु को तर के विद्या=अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।' (सत्यार्थ० नवम०)

इस वेदप्रमाण के अनुसार ज्ञानकाण्ड व कर्मकाण्ड की आवश्यकता बता कर महर्षि ने खण्डन किया है। इसी प्रकार ईश्वर के सच्चे स्वरूप तथा उसकी सच्ची उपासना-पद्धति बताने के साथ-साथ इस संस्कारविधि में संस्कारों का सच्चा स्वरूप बताकर संस्कारों के महत्त्व को अक्षुण्ण बनाया है। और भ्रान्तिपूर्ण अविद्याग्रस्त आर्य-सन्तति को संस्कारों की सत्य-पद्धति का सप्रमाण दर्शन कराकर एक अतीव प्रशस्त कार्य किया है।

क्या स्वस्तिवाचन व शान्तिकरण के मन्त्रार्थ ईश्वर-परक ही हैं ?

संस्कारविधि के प्रारम्भ में स्वामी जी ने ईश्वरस्तुति, प्रार्थना तथा उपा-सना के आठ मन्त्र लिखकर 'स्वस्तिवाचनम्' तथा 'शान्तिकरणम्' के मन्त्र लिखे हैं। इन दोनों प्रकरणों के मन्त्रों का अर्थ स्वामी जी ने संस्कारविधि में नहीं लिखा है। इनके अर्थों के विषय में स्वामी जी ने स्पष्ट निर्देश किया है।

"मन्त्रों के यथार्थ अर्थ मेरे किये वेद-भाष्य में लिखे ही हैं। जो देखना चाहें, वहां से देख लेवें।" (सं० वि० भूमिका)

इन दोनों प्रकरणों के अर्थों के विषय में प्रायः यह भ्रान्ति बनी हुई है कि इन मन्त्रों में भी ईश्वर-स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना का ही वर्णन किया है। इसके लिए मन्त्रों के त्रिविध अर्थ मानकर विद्वान् या पुरोहित अर्थ करने की चेष्टा भी करते रहते हैं। किन्तु उनकी यह धारणा सत्य नहीं। यदि ये समस्त मन्त्र ईश्वर-स्तुत्यादि के ही होते, तो तीन प्रकरण बनाने की क्या आवश्यकता थी? और स्वामी जी के वेदभाष्य में इनके जो अर्थ उपलब्ध होते हैं, उनमें स्वामी जी ने भी सब की ईश्वरपरक व्याख्या नहीं की है। 'स्वस्तिवाचन तथा शान्तिकरण' जो इन मन्त्रों का नामकरण किया है, उससे भी यही स्पष्ट होता है, कि सु+अस्ति=स्वस्ति अर्थात् शुभ कर्म क्या हैं और अशुभ क्या हैं? इसका वर्णन स्वस्तिवाचन में किया है। और शान्ति तीन प्रकार की मानी जाती है— (१) आध्यात्मिक, (२) आधिदैविक, (३) आधिभौतिक। अतः शान्तिकरण में तीनों प्रकार के मन्त्रों का संग्रह किया गया है। और दोनों प्रकरणों के रखने का एक क्रम है। जब मनुष्य शुभ कर्म करता है तभी उसे सुख व शान्ति प्राप्त होती है।

यथार्थ में त्रिविध-प्रक्रिया से मनुष्यों को बड़ी भ्रान्ति हुई है कि प्रत्येक मन्त्र के तीन प्रकार के अर्थ होते हैं, यह एक अवैदिक धारणा है। प्रत्येक मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय देवता के रूप में ऋषियों से निश्चित किया हुआ है। उसके अनुसार ही मन्त्रार्थ की संगति उचित है। और प्रत्येक पदार्थ में सामान्य व विशेष धर्म होते हैं। विशेष-धर्मों से अर्थनिर्णय में बहुत सहायता मिलती है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि प्रकृतिवर्णन परक मन्त्रों का अर्थ ईश्वरपरक और ईश्वरपरक मन्त्रों का अर्थ प्रकृतिपरक कर दिया जाए। अतः जहां मन्त्र के अनेक अर्थ सम्भव हों, वहीं करने चाहिए, सर्वत्र नहीं। जिन विद्वानों ने त्रिविध प्रक्रिया को मानकर वेदार्थ करने का संकल्प किया, वे सब अपनी मान्यता का पूर्णतया पालन करने में सर्वथा असफल रहे हैं। श्री आचार्य वैद्यनाथ जी शास्त्री का 'सामवेद-भाष्य' इस विषय का प्रबल प्रमाण है। वे अपनी इस प्रतिज्ञा का सर्वत्र निर्वाह नहीं कर सके कि सामवेद के मन्त्रों में उपासना प्रकरण ही है। श्री आचार्य जी को तो अपनी त्रिविध प्रक्रिया से ईश्वर-परक अर्थ करने ही चाहिए थे। परन्तु वैदिक नियमों तथा मन्त्रार्थ की संगति के आगे उन्हें नतमस्तक

होना पड़ा और ईश्वर से भिन्न पदार्थों के वर्णन में ईश्वरपरक अर्थ वे नहीं कर सके।

स्वस्तिवाचन व शान्तिकरण के मन्त्रों का महर्षिकृत अर्थ इस विषय में बहुत ही स्पष्ट कर देता है कि ये सब मन्त्र ईश्वर-स्तुत्यादि के ही नहीं हैं। महर्षिकृत कुछ मन्त्रों के विषय देखिये—

(१) ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां० ॥ (ऋ० ७।३५।१५)

इस मन्त्र के विषय में महर्षि लिखते हैं—मनुष्यों को किनसे विद्याध्ययन और उपदेश सुनना चाहिए। इस मन्त्र का देवता 'विश्वेदेवाः' है।

(२) स्वस्तये वायुमुपब्रवामहै सोमम्० (ऋ० ५।५१।१२)

इस मन्त्र का विषय है—मनुष्य कैसे विद्यावृद्धि करें।

(३) विश्वे देवा नो अद्या स्वस्तये० (ऋ० ५।५१।१३)

इस मन्त्र का विषय है—विद्वान् क्या करें!

(४) स्वस्ति पन्थामनुचरेम० (ऋ० ५।५१।१५)

इस मन्त्र का विषय है—मनुष्य विद्वानों के संग से धर्ममार्ग से चलें।

(५) देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां० (यजु० २५।१५)

विषय—मनुष्यों को किन की इच्छा करनी चाहिए? विद्वांसो देवताः ॥

(६) भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं० (यजु० २५।२१)

विषय—मनुष्यों को क्या करना चाहिए? विद्वांसो देवताः ॥

(७) शन्नो वातः पवतां० (यजु० ३६।१०)

विषय—मनुष्य क्या करें? वातादयो देवताः ॥

शान्तिकरण के कुछ मन्त्रों के विषय महर्षि-भाष्य में देखिये—

(१) शन्न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः० (ऋ० ७।३५।१)

विषय—मनुष्य सृष्टिपदार्थों से क्या-क्या ग्रहण करें।

(२) शं नो भगः शमु नः शंसो अस्तु० (ऋ० ७।३५।२)

विषय—मनुष्य वैसे कर्त्तव्य करें, जिनसे ऐश्वर्य सुख करने वाले हों।

(३) शं नो धाता शमु धर्त्ता नो अस्तु० (ऋ० ७।३५।३)

विषय—मनुष्यों को सृष्टि से कैसा उपकार लेना चाहिए।

(४) शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु० (ऋ० ७।३५।४)

विषय—मनुष्यों को क्या कर्त्तव्य है ?

इस प्रकार शान्तिकरण के १-१३ मन्त्रों में से एक भी मन्त्र ऐसा नहीं है, जिसका अर्थ महर्षि ने ईश्वरपरक किया हो।

महर्षि द्वारा परिमार्जित सन्ध्या और अग्निहोत्र का विधान—

संस्कारविधि का प्रामाणिक द्वितीय संस्करण सं० १९४१ विक्रमी में प्रकाशित हुआ। जिसके विषय में महर्षि लिखते हैं—

"विक्रमादित्य के संवत् १९३२, कार्तिक कृष्ण पक्ष ३०, शनिवार के दिन संस्कारविधि का प्रथमारम्भ किया था, उसमें संस्कृत-पाठ सब एकत्र और भाषापाठ एकत्र लिखा था। इस कारण संस्कार करने वाले मनुष्यों को संस्कृत और भाषा दूर-दूर होने से कठिनता पड़ती थी।······इसलिए······ सं० १९४०, आषाढ बदि १३, रविवार के दिन पुनः संशोधन करके छपवाने के लिए विचार किया।······अबकी वार जो जो अत्यन्त उपयोगी विषय हैं, वह-वह अधिक भी लिखा है।" (सं० वि० भूमिका)

इससे महर्षि के भावों का बहुत ही स्पष्टीकरण हो जाता है कि महर्षि का यह संस्कारविधि सबसे बाद का ग्रन्थ है। और यह निर्विवाद बात है कि लेखक की अन्तिम पुस्तक अधिक प्रामाणिक होती है। और महर्षि ने यह भी स्पष्ट लिखा है कि जो अधिक उपयोगी विषय है, वह इसमें बढ़ाया गया है।

महर्षि के ग्रन्थों में सन्ध्या व हवन की विधियों में एकरूपता न देखकर प्रायः सन्देह ही बना रहता है कि किस विधि को प्रामाणिक माना जाए। हमारा विचार है कि संस्कारविधि की सन्ध्या तथा हवन की विधियाँ ही सर्वाधिक प्रामाणिक तथा पूर्ण हैं। हमारे इस पक्ष की पुष्टि निम्न तथ्यों से होती है—

(१) महर्षि की सन्ध्या-हवन विषयक कृतियों में यह संस्कारविधि अन्तिम कृति है। अन्तिम कृति में लेखक जो भी परिवर्त्तन या परिवर्धन करना चाहता है, कर सकता है। और वह प्रामाणिक होता है।

(२) संस्कारविधि से भिन्न सन्ध्या तथा हवन की पुस्तकों की विधियों

में ऐसी पूर्णता नहीं है, जैसी इसमें है। जैसे दैनिक अग्निहोत्र की १६ आहुतियाँ संस्कारविधि के आश्रय के विना पूर्ण नहीं होतीं।

(३) महर्षि ने भी अपने जीवन के अन्तिम समय में इसी की विधियों को मानने का आदेश दिया है—"सन्ध्योपासनादि नित्यकर्म नीचे लिखे प्रमाणे यथाविधि उचित समय में किया करें। इन नित्य कर्मों में लिखे हुए मन्त्रों का अर्थ और प्रमाण पञ्चमहायज्ञविधि में देख लेवें।" (सं० वि० गृहाश्रम०)

(४) ऋषि ने जिन विधियों में परिवर्तन करना उचित नहीं समझा, उनको संस्कारविधि में न लिखकर दूसरे ग्रन्थों में ही देखने को लिख दिया है। जैसे पितृयज्ञ व अतिथियज्ञ का विशेष उल्लेख संस्कारविधि में नहीं किया गया। इससे भी ऋषि का मन्तव्य स्पष्ट है कि सन्ध्या व हवन में उन्होंने संशोधन आवश्यक समझकर ही किया है।

(५) जो विद्वान् यह मानते हैं कि पञ्चमहायज्ञों के लिए पञ्चमहायज्ञ-विधि ही प्रामाणिक पुस्तक है। उनसे हमारा विनम्र निवेदन है कि वे हमारी उपर्युक्त बातों पर पुनर्विचार करें। और सन्ध्या तो पञ्चमहा० के अनुसार कर लेते हैं किन्तु हवन करने में संस्कारविधि का आश्रय क्यों लेते हैं? क्या हवन की विधि पञ्चमहा० में पूर्ण है। अतः उनका पक्ष सत्य तथा महर्षि के मन्तव्य से विपरीत ही है।

(६) जो विद्वान् यह मानते हैं कि संस्कारविधि की सन्ध्या गृहस्थियों के लिए ही है, तो उनसे हमारे दो प्रश्न हैं—(१) सन्ध्या की भांति हवन भी तो संस्कारविधि में गृहस्थियों के लिए होगा? आप हवन में संस्कारविधि का आश्रय क्यों करते हैं? (२) सं० वि० के गृहाश्रम प्रकरण में प्रातःकालीन मन्त्र भी लिखे हैं। उन मन्त्रों को भी गृहस्थियों के लिए ही मानकर सन्ध्या-हवन की पुस्तकों में प्रकाशित क्यों करते हो? क्या एक बात को मान लेना और दूसरी को छोड़ देना अर्धजरतीन्याय के तुल्य नहीं है?

(७) संस्कारविधि व पञ्चमहायज्ञविधि की सन्ध्या-हवन की विधियों में परस्पर कहीं भी विरोध नहीं है। अपितु सं० वि० में कुछ विशेष विधियों का उल्लेख है। जो महर्षि ने परिवर्धन करके ही लिखी हैं। ऋषियों की यह शैली

होती है कि जहाँ परस्पर विरोध न हो, वहाँ विशेष वाला पाठ ही मान्य होता है।

(८) संस्कारविधि से भिन्न पुस्तकों में ईश्वरस्तुति, प्रार्थनोपासना, 'अयन्त इध्म०' मन्त्र से पाञ्च आहुतियाँ, 'विश्वानि देव०' तथा 'अग्ने नय०' मन्त्रों से दैनिक अग्निहोत्र में आहुति देना नहीं लिखा। जो विद्वान् संस्कारविधि की सन्ध्या को प्रामाणिक नहीं मानते, वे सं० वि० की सन्ध्या की तरह हवन का परित्याग भी क्यों नहीं करते ?

अतः हमारा यह स्पष्ट तथा निश्चित अभिमत है कि संस्कारविधि की सन्ध्या व हवन की विधियाँ ही पूर्ण तथा प्रामाणिक हैं। हमारे दैनिक क्रिया-कलापों में एकरूपता लाने के लिए इन विधियों को ही, अपनाना उचित है। हमें आश्चर्य तो तब होता है कि आर्यसमाज के पुरोहित विद्वान् अपनी तरफ से बढ़ाकर तो कुछ विधियाँ कराते रहते हैं किन्तु महर्षि की विधियों को अपनाने में पता नहीं क्यों संकोच करते हैं ? आर्यविद्वानों तथा सभा के अधिकारियों को इस विषय में निष्पक्ष विचार करना चाहिए।

संस्कारविधि के प्रमाणभाग में पाठभेद क्यों ?

संस्कारविधि के प्रमाण भागों पर भी कुछ व्यक्ति आक्षेप किया करते हैं। महर्षि ने प्रमाण भागों पर पते नहीं दिए हैं, केवल वेद-मन्त्रों के ही पते दिए हैं। आक्षेपकर्त्ता संस्कारविधि के प्रमाणभागों को वर्त्तमान में उपलब्ध पुस्तकों से मिलान करके आक्षेप किया करते हैं कि स्वामी जी ने ये पाठ कल्पित लिखे हैं। किन्तु उन्हें महर्षि-कालीन पुस्तकों में इन प्रमाणभागों की खोज करनी चाहिए अथवा महर्षि की शैली को समझकर निर्णय करना चाहिये। अन्यथा भ्रान्तियों का निराकरण सम्भव नहीं है। जैसे—

(१) संस्कारविधि के विवाह-प्रकरण में 'ओम् अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि०' (ऋ० १०। ८५। ४४) मन्त्र में महर्षि ने 'देवृकामा' पद लिखा है किन्तु सायण तथा मैक्समूलरादि ने 'देवकामा' पाठ लिखा है इससे सन्देह अवश्य होता है। किन्तु महर्षि लिखित पाठ ही ठीक प्रतीत होता है। विवाह-प्रकरण में 'देवृकामा=देवर की कामना करने वाली' पाठ युक्तियुक्त तथा

सुसंगत भी है। और अथर्ववेद (१४। २। १७) में कुछ पाठभेद से यही मन्त्र पठित है, उसमें भी 'देवृकामा' ही पाठ है। विदेशी विद्वान् 'ह्विटने' ने भी निजानुवाद में यही पाठ माना है। अजमेर वैदिक यन्त्रालय में छपे ऋग्वेद में भी यही पाठ छपा है। 'ह्विटने' ने यह भी अपनी टिप्पणी में लिखा है कि 'पिप्पलाद-शाखा' में 'देवृकामा' पद का ही पाठ है।

(२) संस्कारविधि के गर्भाधान-प्रकरण में महर्षि ने गर्भाधान-विधायक पारस्करगृह्यसूत्र का निम्न सूत्र दिया है—

'अथ गर्भाधानं स्त्रियाः पुष्पवत्याश्चतुरहादूर्ध्वꣳस्नात्वा विरुजायास्तस्मिन्नेव दिवा आदित्यं गर्भमिति।' महर्षि ने इस सूत्र को पारस्कर गृह्यसूत्र का लिखा है। परन्तु आजकल उपलब्ध गृह्यसूत्रों में यह पाठ नहीं मिलता। शास्त्रार्थादि के समय पौराणिक विद्वान् इस पर बहुधा आक्षेप किया करते हैं। किन्तु महर्षि झूठा क्यों लिखते? इस पाठ का अभाव कैसे हुआ? यह एक अन्वेषणीय तथ्य है, किन्तु यही पाठ पारस्करगृह्यसूत्र में विद्यमान है। वैदिक कानकौरडेंस (Vedic-concordance) वैदिक बृहत्कोष में इसी 'आदित्यं गर्भम्' (यजु० १३। ४१) वाले मन्त्र का उद्धरण देकर पं० ब्लूमफील्ड ने पारस्कर गृह्यसूत्र (अ० १ कं० १३) का पता दिया है। गर्भाधान का प्रकरण भी इसी कण्डिका में है। इससे स्पष्ट है कि ब्लूमफील्ड के पास पारस्कर गृह्यसूत्र की जो पुस्तक या हस्तलेख था उसमें यह पाठ अवश्य होगा। वैभव प्रेस मुम्बई से वि० १९७४ संवत् में ईडर प्रदेशान्तर्गत मुडेटि ग्राम निवासी पं० दुर्गाशंकर ने जो पारस्कर गृह्यसूत्र छपवाया था, उसमें यही मन्त्र गर्भाधान-प्रकरण में कात्यायन परिशिष्ट मानकर छपा है। और ज्येष्ठाराम मुकुन्द जी बम्बई वाले ने भी जो पारस्कर गृह्यसूत्र छपवाया था, उसमें भी यही पाठ गर्भाधान प्रकरण में कात्यायन परिशिष्ट मानकर दिया है। स्वामी दयानन्द ने भी संस्कारविधि के प्रथम संस्करण में कात्यायन पारस्कर गृह्यसूत्र का वचन लिखा था और द्वितीय संस्करण में केवल पारस्कर का वचन लिखा है। आजकल उपलब्ध समस्त पारस्कर गृह्यसूत्रों में कात्यायन परिशिष्ट भाग छोड़ दिया गया है। यह बहुत ही दुःखद बात है। इस रहस्य का उद्घाटन श्री पं० राम-

गोपाल जी शास्त्री ने 'संस्कारविधिमण्डनम्' में किया है। विद्वान् अनुसन्धान-कर्त्ताओं को इसकी खोज करनी चाहिए।

(३) संस्कारविधि के सामान्यप्रकरण में पृ० १५ पर स्थालीपाक बनाने के लिए महर्षि ने निम्नलिखित प्रमाण दिया है—

"ओं देवस्त्वा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभि:।"

इस समग्र पाठ को किसी एक मन्त्र में न देखकर प्राय: यह आक्षेप किया जाता है कि स्वामी जी का यह प्रमाण किसी वेद में नहीं है। आक्षेपकों को यह भ्रम स्वामी जी की शैली को न जानने तथा विरामचिह्न के अभाव में हुआ है। स्वामी जी की शैली यह भी रही है कि अनेक मन्त्रों के अंशों को लेकर प्रमाणार्थ एकत्र लिख देते हैं। यथार्थ में 'देवस्त्वा सविता पुनातु' यह पूर्व का अर्धभाग यजु० १। ३ का और उत्तर का आधा भाग 'अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभि:' यजु० १। ३१ का है। संस्कारचन्द्रिका' में केवल पूर्व अर्धभाग ही रखकर उत्तरभाग को हटा दिया है। किन्तु यह टीकाकारों की अनधिकार चेष्टा ही है। उन्हें मूलपाठ में घटन-बढ़त करने का कोई अधिकार नहीं है। संदेहास्पद स्थलों की संगति की अवश्य खोज करनी चाहिए। यह बात श्री रामगोपाल जी शास्त्री ने ही स्पष्ट की है।

(४) श्री रामगोपाल शास्त्री जी ने महर्षि के कुछ पाठों की संगति लगाकर प्रशंसनीय कार्य किया है। किन्तु संस्कारविधि के कर्णवेध संस्कार के निम्न पाठ को अशुद्ध बताया है—

'कर्णवेधो वर्षे तृतीये पञ्चमे वा।'

इस पाठ के विषय में शास्त्री जी ने लिखा है कि सं० वि० के प्रथम संस्करण में उपर्युक्त प्रमाण के आरम्भ में 'अथ' शब्द छपा है, अत: 'अथ' शब्द होना चाहिए। और स्वामी जी ने इस प्रमाण को आश्वलायन गृह्यसूत्र का वचन लिखा है। शास्त्री जी ने इसे कात्यायन पारस्करगृह्यसूत्र का पाठ लिखा है। और यह भी लिखा है कि इस संस्कार में कर्ण के साथ नासिका का वेध भी छपा है, यह पाठ भी भूल से छपा है। इन तीनों बातों के विषय में भी विद्वानों को खोज करनी चाहिए। सम्भव है इसका भी उचित समाधान

मिल जायेगा। नासिका-वेध की बात भी सम्भव है, कन्याओं की दृष्टि से स्वामी जी ने लिखी हो। क्योंकि संस्कारों का अधिकार दोनों को ही है। विद्वानों को इस पर भी विचार करना चाहिए।

(४) श्री मीमांसक जी के प्रामाणिक-संस्करण पर विचार—

श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक द्वारा सम्पादित संस्कारविधि के प्रामाणिक संस्करण में सीमन्तोन्नयन संस्कार में स्वामी जी ने जो—

"ओं राकामहं सुहवाम्०' इत्यादि मन्त्र दिये हैं, उनके विषय में श्री मीमांसक जी ने लिखा है कि—'ये मन्त्र मन्त्रब्राह्मण से उद्धृत हैं। प्रतीत होता है कि हस्तलेख में लिखते समय पाठ आगे पीछे हो गया है। अतः सं० २-१७ तक पाठ निम्न प्रकार से अस्तव्यस्त छपा मिलता है।"

इस स्थल पर श्री मीमांसक जी को तथा अन्य विद्वानों को पुनर्विचार करना चाहिए। किसी विषय की खोज किए बिना सहसैव निर्णय देना उचित नहीं। हमारे विचार में महर्षि के दिए मन्त्र शुद्ध ही हैं। हस्तलेख में ऐसी त्रुटि सम्भव नहीं थी, क्योंकि महर्षि हस्तलेखों को अच्छी प्रकार देखा करते थे। स्वामी जी के समय के किसी गृह्यसूत्र में ही ऐसा पाठ हो सकता है, अथवा स्वामी जी ने इस पाठ को ऊहित करके लिखा हो, यह भी सम्भव है। कर्मकाण्ड में ऊहित-प्रक्रिया को तो सभी विद्वान् मानते हैं।

श्री मीमांसक जी ने इस सं० वि० के संस्करण में वेद-पाठों में परिवर्तन, स्वरचिह्नों में परिवर्तन, ऊहित पाठों में परिवर्तन, ऋषि की भाषा में परिवर्तन, मनुस्मृति के पाठों में परिवर्तन तथा सैकड़ों टिप्पणियाँ दी हैं। जिनका खंडन ट्रस्ट द्वारा सम्पादित संस्कारविधि के प्रथम संस्करण में श्री पं० सुदर्शनदेव जी ने बहुत अच्छी तरह से किया है। जिनका मीमांसक जी ने आज तक कोई उत्तर नहीं दिया है। प्रतीत यही होता है कि उन्होंने शीघ्रता में यह कार्य किया है। यथार्थ में किसी मूल लेखक के ग्रन्थ में परिवर्त्तन करने का किसी को भी अधिकार नहीं है। महर्षि के ग्रन्थों को अक्षुण्ण ही बनाए रखना चाहिए। क्योंकि अल्पज्ञ मनुष्य ऋषि की गम्भीरता को कैसे समझ सकते हैं? जहाँ कहीं ऋषिग्रन्थों में त्रुटि प्रतीत होवे, उसको पृथक् से दिखाना चाहिए।

प्रायः यह देखा गया है कि जिसे हम आज अशुद्ध समझ रहे हैं, वह ही कालान्तर में किसी प्रकार से हमारी समझ में आ जाता है। प्रकाशकों का यह भी कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे अपनी टिप्पणियों तथा मूल लेखक की टिप्पणियों में किसी प्रकार भेद अवश्य दिखाएँ। जिससे पाठकों को यह स्पष्ट पता लग जाए कि यह टिप्पणी किसकी है? और अनावश्यक या भ्रान्तिजनक टिप्पणियाँ नहीं देनी चाहिए।

श्री मीमांसक जी की कतिपय अनावश्यक टिप्पणियाँ—

(१) ऋषि के पाठ का सर्वथा खण्डन करते हुए पण्डित जी लिखते हैं—
"यहाँ आघाराहुति और आज्यभागाहुति के मन्त्र विपरीत छपे हैं।'
(पृ० ३८ टि० ४)

यह बात मीमांसक जी ने विना प्रमाण के ही लिख दी है। स्वामी जी ने उत्तर व दक्षिण में जिन मन्त्रों से आहुति लिखी है, मीमांसक जी ने उनसे विपरीत 'प्रजापतये स्वाहा' 'इन्द्राय स्वाहा' मन्त्रों से आहुति लिखी है। क्या यह महर्षि से विरोध नहीं है?

(२) श्री मीमांसक जी ने 'ओ३म्' 'स्वाहा' 'इदन्न मम' इन पदों को मन्त्र से बहिर्भूत दिखाने के लिए अनेक स्थानों पर टिप्पणियां दी हैं। शास्त्रों में मन्त्रारम्भ में 'ओ३म्' का विधान तथा 'स्वाहा' का आहुति के लिए विधान किया है! 'इदन्न मम' स्वत्व निवारण के लिए प्राचीन ऋषियों ने विधान किया है। ये पद मन्त्रांश न होते हुए भी अग्निहोत्र में आवश्यक हैं। अतः इनको बहिर्भूत बताने के लिए टिप्पणियाँ अनावश्यक ही हैं।

(३) संस्कारविधि में दिए हुए पात्रों का संस्कारविधि में प्रयोग नहीं होता, अतः ये व्यर्थ हैं। और व्यर्थता से ज्ञापक निकाला है कि ऋषि अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त श्रौतयज्ञों का विधान बनाना चाहते थे। (पृ० २४-२५ टि०) यह पण्डित जी की कल्पना मात्र ही है। यदि महर्षि का ऐसा भाव होता, तो कहीं पर (भूमिकादि में) अवश्य निर्देश करते।

(४) संस्कारविधि के सामान्य प्रकरण में वामदेव्यगान के तीनों मन्त्रों के प्रारम्भ में 'भूर्भुवः स्वः' पर ऋषि ने ऋग्वेदानुसारी स्वरचिह्न दिए

पण्डित जी ने पृ० ४३ पर टि० दी है—हमने उनके स्थान पर सामवेदानुसारी स्वरचिह्न दे दिए हैं। जब सामवेद में 'भूर्भुवः स्वः' व्याहृति का पाठ है ही नहीं, तो पण्डित जी ने स्वरचिह्न कहाँ से दिए ? क्या इसे कोई बुद्धिमत्ता कह सकता है ?

(५) पण्डित जी ने ऋषि-लिखित वेद-पाठ में भी परिवर्तन करने का अनावश्यक प्रयास किया है। जैसे—'यस्यच्छाया' के स्थान पर 'यस्य छाया' 'योऽन्तरिक्षे' के स्थान पर यो अन्तरिक्षे, 'स्वः स्तभितं०' के स्थान पर 'स्व स्तभितम्' 'जहुमस्तन्नोऽस्तु' के स्थान पर 'जुहुमस्तन्नो अस्तु' पाठ कर दिए हैं। सम्भव है पण्डित जी को कहीं ऐसे पाठ-भेद भी मिले हों, किन्तु ऋषि के पाठों को परिवर्तित करना अनधिकार चेष्टा ही कहा जायेगा। जबकि व्याकरणादि नियमों से भी ऋषि-लिखित पाठों में कोई दोष नहीं आता अथवा विकल्प से दोनों ही रूप ठीक हैं, तब परिवर्त्तन की क्या आवश्यकता है ? इत्यादि टिप्पणियों या परिवर्त्तनों के होते हुए यह कहना कि हमारा संस्करण प्रामाणिक है, यह केवल मिथ्या गर्वोक्ति मात्र ही है।

श्री मीमांसक जी द्वारा संपादित सं० वि० के सम्पादकीय में लिखा है—'इन उपर्युक्त संशोधनों एवं परिवर्तनों को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ऋषि की उत्तराधिकारिणी सभा अपने उत्तरदायित्व का कहाँ तक पालन कर रही है। यह सब ऋषि-ग्रन्थों के प्रकाशन के एकाधिकार का खुल्लमखुल्ला दुरुपयोग है। ऋषि के साथ विश्वासघात और अनर्थ है।'

ऊपर हमने कुछ श्री मीमांसक जी की टिप्पणियों के नमूने प्रदर्शित किए है, क्या ऐसी अनावश्यक टिप्पणियां तथा पाठ-परिवर्तन एवं संशोधन करना ऋषि के साथ विश्वासघात नहीं है ? क्या यह ऋषि-ग्रन्थों में परिवर्तन की प्रवृत्ति अनधिकारचेष्टा नहीं है ?

श्री मीमांसक जी ने पर्याप्त संख्या में सं० वि० में मनुस्मृति के पाठ-भेदों को भी दिखाया है। उनमें महर्षि-लिखित पाठ ही सुसंगत तथा शुद्ध हैं। मनुस्मृति के भिन्न-भिन्न प्रकाशनों में पाठ-भेद मिलते हैं। परन्तु महर्षि के समय जो प्रकाशन उन्हें उपलब्ध हुआ, महर्षि के मनुस्मृति के पाठ उसी के अनुकूल ही सम्भव हैं। विभिन्न पाठ-भेदों में प्रकरण तथा श्लोकार्थ की संगति को भी देखना

आवश्यक होता है। पण्डित जी ने महर्षि के शुद्ध पाठों को कहीं भी प्रामाणिक नहीं लिखा। यह उनकी भ्रान्ति ही है। अन्यथा जहाँ-जहाँ पाठ-भेद उन्हें मिले हैं, उनकी प्रामाणिकता का भी निर्णय करना चाहिए था। संस्कारविधि के दूसरे संस्करण को पण्डित जी ने प्रामाणिक स्वीकार किया है। किन्तु अपने टीका-टिप्पणियों से पूर्ण पाठान्तरों से संशोधित संस्करण को भी प्रामाणिक लिखा है। ये दोनों बातें सत्य नहीं हो सकतीं। यदि आप द्वि० सं० को प्रामाणिक मानते हैं, तो आपका संस्करण कैसे प्रामाणिक हो सकता है? महर्षि के अनुयायियों को यह शोभा नहीं देता कि अपनी विद्वत्ता के बल से महर्षि के शुद्ध-पाठों को भी सुसंगत एवं शुद्ध न कह सकें और असंगत पाठ-भेदों को दिखाकर पाठकों के मन में भ्रान्तियाँ उत्पन्न करें।

ट्रस्ट ने पण्डित जी का ध्यान इन आवश्यक पाठ-भेदों की ओर दिलाया और पण्डित जी को वैदिक-यन्त्रालय में महर्षि-कालीन कुछ मनुस्मृति के कागज प्राप्त हुए। उनमें महर्षि के पाठों की पुष्टि देखकर पण्डित जी को आश्चर्य हुआ और उन्होंने अपने टिप्पणी युक्त कुछ पाठों में संशोधन भी कर दिया है। गुण-गृह्यों को ऐसा करना उचित भी है। किन्तु हमारा निवेदन है कि पण्डित जी जैसे विद्वानों को विवादास्पद या संशयास्पद स्थलों पर बहुत सोचकर लेखनी उठानी चाहिए।

पौराणिकों के मिथ्या आक्षेप—महर्षि दयानन्द के समस्त ग्रन्थों पर ही पौराणिक-बन्धु मिथ्या आक्षेप करते रहे हैं, तब 'संस्कारविधि' कैसे पृथक् बच सकती थी? पौराणिकों की छिद्रान्वेषण प्रवृत्ति कहें, या मत्सर-वृत्ति कहें, इस विवाद में न फंसकर हम सं० वि० से संबद्ध उनके लगाए मिथ्या आक्षेपों का उत्तर इसलिए देना उचित समझ रहे हैं कि जिससे आर्य-जन उनकी वञ्चना-वृत्ति के दूषित प्रभाव से बच सकें और उनके आक्षेपों की निस्सारता को समझ सकें।

(१) क्योंकि आर्यसमाजी वेदों को ही स्वतः प्रमाण मानते हैं, अतः उन्हें स्वामी जी की प्रत्येक बात वेद-मन्त्रों से ही दिखानी चाहिए। अन्यथा महर्षि के ग्रन्थ वैदिक नहीं कहला सकते। किन्तु ऐसे व्यक्ति शास्त्रीय चर्चा से जहां अनभिज्ञ हैं, वहाँ आर्यसमाज और उसके संस्थापक महर्षि दयानन्द के पक्ष को

नहीं समझ सके हैं। महर्षि ने अपनी मान्यता को बहुत ही स्पष्ट करके लिखा है—

(क) वेदादि-शास्त्र-सिद्धान्तमाध्याय परमादरात्।
आर्यैतिह्यं पुरस्कृत्य शरीरात्मविशुद्धये ॥ (संस्कारविधि, पृष्ठ ३)

अर्थात् वेदादिशास्त्रों का परमादर से चिन्तन करके आर्यों के इतिहासानुकूल शरीर और आत्मा की शुद्धि के लिए (यदयन्मेध्यमत्र तदुच्यते) जो जो पवित्र बातें हैं, उन्हें यहाँ कहा जाता है। इससे स्पष्ट है कि महर्षि ने संस्कार-विधि में उन पवित्र बातों को कहा है जो वेदादि शास्त्रों के अनुसार आर्यों में प्रचलित थीं।

(ख) 'वेदेषु सर्वा विद्याः सन्त्याहोस्विन्नेति। अत्रोच्यते। सर्वाः सन्ति मूलोद्देशतः।' (ऋ० भू० पृ० ८८) अर्थात् वेदों में सब विद्याएँ हैं, अथवा नहीं? इसके उत्तर में महर्षि लिखते हैं—वेदों में सब विद्याएं तो हैं—मूलोद्देश से। उद्देश शब्द शास्त्रीय है। जिसका अर्थ है—नामपूर्वक कथन। अर्थात् वेदों में सब विद्याओं का मूल-नाम पूर्वक कहा गया है, उनका लक्षण व परीक्षादि विस्तार नहीं है। उस बीजरूप वेदविद्या का ब्राह्मण, उपनिषद्, वेदांग, उपांग तथा गृह्यसूत्रादि में ऋषि-महर्षियों ने विस्तार से व्याख्यान किया है।

(ग) 'कर्मकाण्ड में लगाये हुए वेदमन्त्रों में से जहाँ-जहाँ जो-जो कर्म अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध के अन्त पर्यन्त करने चाहिए, उनका वर्णन यहां नहीं किया जायेगा। क्योंकि **उनके अनुष्ठान का यथार्थ विनियोग** ऐतरेय शतपथादि ब्राह्मण पूर्वमीमांसा श्रौत और गृह्यसूत्रादिकों में कहा हुआ है।……
…इसलिए जो-जो कर्मकाण्डवेदानुकूल युक्ति प्रमाणसिद्ध है, उसी को मानना योग्य है अयुक्त को नहीं।" (ऋ० भू० प्रतिज्ञाविषयः)

उपर्युक्त महर्षि-ग्रन्थों के उद्धरणों से महर्षि की मान्यता का स्पष्ट वर्णन है कि महर्षि वेद तथा वेदानुकूल उन सभी बातों को मानते हैं, जो युक्ति-प्रमाण-सिद्ध है। और वेदानुकूल बातें आर्यों में प्रचलित हैं। संस्कारविधि में भी महर्षि की यही मान्यता है। अतः प्रतिपक्षी पौराणिकों का यह आक्षेप भ्रान्ति-पूर्ण तथा महर्षि की मान्यता के सर्वथा विरुद्ध है।

(२) महर्षि दयानन्द ने संस्कारविधि के प्रारम्भ में लिखा है—

'गर्भाद्या मृत्युपर्यन्ताः संस्काराः षोडशैव हि।' (सं० वि०, पृ० ३)

'अर्थात् गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त सोलह संस्कार ही होते हैं। इस पर पौराणिक बन्धुओं का यह आक्षेप है कि महर्षि ने इस अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह अपने ग्रन्थ में नहीं किया है। क्योंकि संस्कारविधि में सोलह संस्कारों के अतिरिक्त 'गृहाश्रमसंस्कार' तथा 'शालादिसंस्कार' भी माने हैं, जिन्हें मिलाने से संस्कारों की संख्या अधिक हो जाती है। इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि महर्षि दयानन्द ने निम्नलिखित १६ संस्कार ही माने हैं—

१. गर्भाधानम्।
२. पुंसवनम्।
३. सीमन्तोन्नयनम्।
४. जातकर्मसंस्कारः।
५. नामकरणम्।
६. निष्क्रमणसंस्कारः।
७. चूडाकर्मसंस्कारः।
८. अन्नप्राशनसंस्कारः।
९. कर्णवेधसंस्कारः।
१०. उपनयनसंस्कारः।
११. वेदारम्भसंस्कारः।
१२. समावर्त्तनसंस्कारः।
१३. विवाहसंस्कारः।
१४. वानप्रस्थाश्रमसंस्कारः।
१५. संन्यासाश्रमसंस्कारः।
१६. अन्त्येष्टिकर्मविधि।

इन संस्कारों से भिन्न 'गृहाश्रमसंस्कार' या 'शालासंस्कार' ये विवाह-संस्कार के अन्तर्गत ही हैं, उससे भिन्न नहीं। क्योंकि इनमें गार्हस्थ्य जीवन के कर्त्तव्यों का ही उपदेश किया गया है। कई सज्जनों का यह कथन भी ठीक नहीं कि 'अन्त्येष्टि' को महर्षि ने संस्कार नहीं माना है। क्योंकि—महर्षि ने इसे 'अन्त्येष्टि-कर्म' लिखा है, संस्कार नहीं। उन्हें महर्षि के निम्न वचनों पर ध्यान देना चाहिए—

(क) 'अन्त्येष्टि-कर्म उसको कहते कि जो शरीर **के अन्त का संस्कार** है, जिसके आगे उस शरीर के लिए कोई भी अन्य संस्कार नहीं है।'

(सं० वि०, पृ० २१८)

(ख) इति **मृतकसंस्कारविधिः** समाप्तः।' (सं० वि० पृ० २२६)

यहाँ महर्षि ने 'अन्त्येष्टि' को स्पष्ट ही संस्कार माना है। यथार्थ में महर्षि को 'कर्म' शब्द भी संस्कार अर्थ में अभिप्रेत है।

(३) संस्कारविधि में सीमन्तोन्नयनप्रकरण (पृ० ४४) में महर्षि लिखते हैं—'खिचड़ी में पुष्कल घृत डालकर गर्भिणी स्त्री अपना प्रतिबिम्ब उस घी में देखे। उस समय पति स्त्री से पूछे—'किं पश्यसि'। स्त्री उत्तर देवे—'प्रजां पश्यामि'।' इस पर कुछ सज्जन आक्षेप करते हैं कि यह स्वामी जी ने कल्पना करके ही बिना प्रमाण के लिख दिया है। उनके संशय निवारणार्थ श्री पं० रामगोपाल जी शास्त्री ने 'संस्कारविधि-मण्डनम्' में निम्न लिखित प्रमाण दिखाया है, जो कि प्रशंसनीय तथा खोजपूर्ण है—

"कृसरः स्थालीपाक उत्तरघृतस्तमेवेक्षयेत्-- किं पश्यसीत्युक्त्वा प्रजामिति वाचयेत्, तं सा स्वयं भुञ्जीत।"

(गोभिल गृह्यसूत्र अ० २। खं० ७। सू० ६-११)

अर्थः—खिचड़ी पका उसमें घृत डाल उसे देखे। (पति पत्नी से पूछे 'किं पश्यसि ?=क्या देखती है ?' पत्नी उत्तर दे कि 'प्रजाम्'=प्रजा को देखती हूं। यह कह कर—स्त्री उस घृत-मिश्रित खिचड़ी को स्वयं खाए। इससे स्पष्ट है कि महर्षि ने कहीं कहीं बिना प्रमाण के भी जो बातें लिखी हैं, वे भी कल्पित नहीं हैं। उनके प्रमाण भी शास्त्रों में खोजने से अवश्य मिल सकते हैं।

(४) जातकर्मसंस्कार में पृ० ५१ पर महर्षि लिखते हैं—"नित्य सायं और प्रातःकाल सन्धिवेला में निम्नलिखित दो मन्त्रों से ('शण्डामर्काभ्यामुपवीरः' इत्यादि मन्त्रों से) भात और सरसों मिलाके दश दिन तक बराबर आहुतियाँ देवे।" इस पर भी कुछ व्यक्ति आक्षेप किया करते हैं कि कुछ भूत प्रेत पिशाच आदियों को न मानने वाले महर्षि ने यहाँ पर प्रसूता स्त्री की भूत-प्रेतादिकों से रक्षा करने के लिए गौर-सर्षप धुखाने का विधान क्यों किया ? इन मन्त्रों से भी यह संशय होता है कि शण्डा, मर्क, उपवीरादि असुरों को दूर करने के लिए ही इनमें प्रार्थना की गई है। पौराणिकों की यही मान्यता है कि प्रसवागार में असुरों को दूर करने के लिए ही प्रसवकाल में स्त्रियाँ अपने सिर की ओर चाकू या अन्य लोहे की वस्तु रखती हैं। प्रसूता स्त्री को अकेली नहीं छोड़ा जाता। प्रसवगृह में २४ घण्टे अग्नि रक्खी जाती है और दीपक जलाया जाता है। इस विषय में स्त्रियाँ यही उत्तर देती हैं कि यह भूत-प्रेतादि से सुरक्षा के लिए ही किया जाता है।

ये असुर कौन हैं ? क्या ये पुरुषाकार होते हैं, जिनके मुख पीछे और एडी आगे को होती है ? क्या वेदों में—

येषां पश्चात् प्रपदानि पुर: पार्ष्णी: पुरोमुखा: । (अथर्व० ८।६।१५) कह कर स्पष्ट वर्णन नहीं किया कि असुरों के पैर पीछे और एडी आगे को होती हैं । क्या वेदों में भी ऐसे भूत-प्रेतादि का वर्णन है ? इत्यादि भ्रान्तियों का मूल अज्ञानता है । वेदादि-शास्त्रों में असुर उन क्रिमियों को कहा गया है, जो कि प्रसवागार में प्रवेश करके अपने विष के द्वारा स्त्री और बालक के प्राण-हरण करना चाहते हैं । उन क्रिमियों को ही प्रसवागार से दूर करके बालकादि की रक्षा के लिए गौर सर्षपादि की आहुतियाँ दी जाती हैं । इन्हीं क्रिमियों का वर्णन वेदों में है—

(क) त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं क्रिमिम् ।। (अथर्व० ५।२३।६)

अर्थ—तीन शिर और तीन ककुदों वाले क्रिमि को ।

(ख) विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिम् ।। (अथर्व० २।३२।२)

अर्थ—बड़े रूप वाले व चार आँखों वाले क्रिमि को ।

(ग) येषां पश्चात् पदानि पुर: पार्ष्णी: पुरोमुखा । खलजा: शकधूमजा:० ।।

 (अथर्व० ८।६।१५)

अर्थ—जिन क्रिमियों के पाँव पीछे को और एडी आगे को है। जो खलियान और पुरीषादि मलों से उत्पन्न होते हैं ।

(घ) ये अम्नो जातान् मारयन्ति सूतिका अनुशेरते ।।

(अथर्व० ८ । ६ । १९)

अर्थ—जो उत्पन्न मात्र जातकों को नष्ट कर देते हैं और जो सूतिका स्थान में रहते हैं ।

इत्यादि प्रमाणों से इन असुर क्रिमियों का स्पष्टीकरण हो जाता है कि ये असुर पुरुषाकार भूत प्रेत नहीं हैं, किन्तु प्रसवगृहादि में मलमूत्रादि से उत्पन्न होने वाले विषैले कृमि ही हैं। जिनसे सुरक्षा के लिए गौरसर्षपादि की आहुतियाँ तथा प्रकाशादि प्रसूतिगृह में परमावश्यक है । इस विषय में विस्तृत वर्णन के लिए

श्री पं० रामगोपाल जी शास्त्री द्वारा लिखित 'संस्कारविधिमण्डनम्' पुस्तक को अवश्य देखना चाहिए। मान्य विद्वान् ने इस विषय में एक विशेष खोज करके जहाँ जनसाधारण की एक महाभ्रान्ति का निराकरण किया है, वहाँ यह भी स्पष्ट किया है कि अथर्ववेद में भूत-प्रेतादि का वर्णन नहीं है, प्रत्युत बालकादि की स्वास्थ्य-रक्षा के लिए विभिन्न क्रिमियों से सुरक्षा के उपाय बताए हैं। 'शण्डामर्काभ्याम्०' इत्यादि मन्त्रों में भी ऐसे क्रिमियों से ही सुरक्षा का वर्णन किया गया है। इन मन्त्रों में वर्णित पदार्थ देखिए—

(क) शण्डाः=(शडि रुजायाम्) रोगोत्पादक, मर्काः=शीघ्रगतिवाला, उपवीरः=(अज गतौ क्षेपणे च) विषों को फेंकने वाला, शौण्डिकेयः=(शुण गतौ) बड़े वेग से वायुमण्डल में उड़ने वाला, ऊलूखलः==ऊपर आकाश में उड़ता हुआ प्राणियों के प्राण ग्रहण करने वाला, मलिम्लुचः=मलादि से उत्पन्न होने त्यागने योग्य तथा स्वास्थ्य के चुराने वाला तस्कर, द्रोणासः=बड़ी नाक वाला, च्यवनः=वेगवान् क्रिमिः नश्यताद् इतः=यहाँ से नष्ट हो।

(ख) आलिखन्=त्वचा को बिगाड़ने वाला, अनिमिषः=चक्षु-स्पन्दन रहित, किंवदन्तः=कुत्सित शब्दकर्त्ता, उपश्रुतिः=कानों के समीप उड़ने वाला, हर्यक्षः—भूरे नेत्र वाला, कुम्भी शत्रुः=जिसका शत्रु गुग्गुल है, पात्रपाणिः=हाथ ही जिसका विषैला पात्र है, नृमणिः=मनुष्यों में मन्-मन् शब्दानुकृति करने वाला, हन्त्रीमुखः=हिंसक मुख वाला, सर्षपारुणः=सरसों की भांति लाल, च्यवनः=शीघ्र वेग वाला कीड़ा, नश्यताद् इतः=यहाँ से (प्रसवगृह से) नष्ट होवे।

मन्त्रोक्त सभी पदार्थों में कीट विशेषों का ही वर्णन स्पष्ट होता है, भूतादि का नहीं। महर्षि दयानन्द ने ऐसी आवश्यक तथा वैज्ञानिक संस्कार की क्रियाओं को कहीं भी नहीं छोड़ा है। उसको न समझने से ही अज्ञानियों को भ्रान्तियाँ होती रहती हैं।

(५) संस्कारविधि में नामकरण-संस्कार में महर्षि लिखते हैं—"जिस तिथि जिस नक्षत्र में बालक का जन्म हुआ हो, उस तिथि और उस नक्षत्र का नाम लेके, उस तिथि और उस नक्षत्र के देवता के नाम से ४ आहुति देनी।"

इस पर पौराणिक बन्धुओं का यह आक्षेप है कि तिथि व देवता का परस्पर क्या सम्बन्ध है ? क्या स्वामी जी ने यहाँ नक्षत्रादि के देवताओं को मानकर पौराणिकता को स्वीकार नहीं किया है। इससे स्वामी जी ने बालक के जन्म के साथ नक्षत्रादि के प्रभाव को मानकर फलित ज्योतिष को माना है।

किन्तु महर्षि का तिथि व नक्षत्र के नाम की आहुति का अभिप्राय केवल जन्मदिन के स्मरण के लिए ही है, किसी अन्य पौराणिक फलित प्रभाव से नहीं। तिथि व नक्षत्र के देवता उनके पर्यायवाची ही हैं। नक्षत्राहुति नाक्षत्रिक नाम परम्परा को बताती है। यह भी सम्भव है कि ज्योतिष के ग्रन्थों में इन देवताओं को पर्यायवाची किसी कारण से भी बनाया हो। जैसे प्रथमा तिथि का ब्रह्म है। 'ब्रह्म' एक ही है, अतः प्रथमा का देवता। अष्टमी का देवता वसु है। क्योंकि वसु भी आठ होते हैं। एकादशी का देवता 'रुद्र' है। क्योंकि रुद्र ११ होते हैं। अलंकार शास्त्र में भी इसी प्रकार एक दो आदि अङ्कों के ब्रह्म, नेत्र, राम, वेदादि नाम रक्खे गए हैं।

यदि कोई ऐसी आशंका करे कि जन्म-दिन के स्मरण के लिए तो तिथि व नक्षत्र की आहुति ही पर्याप्त थी, देवताओं की आहुति की क्या आवश्यकता है ? लोक में देखा जाता है कि दो-दो बार भिन्न रूप में उसी एक बात को कहने से वह बात अच्छी तरह स्मरण रह जाती है, वैसे ही यहाँ भी जानना चाहिए। यह प्राचीन शास्त्रीय शैली है। जैसे—छन्दःशास्त्र में गायत्र्यादि छन्दों के अग्नि, सवितादि सात देवता माने गए हैं। और यह भी लिखा है—'देवतादितश्च' (छन्द० ३ । ६२) सन्देहास्पद छन्दों का निर्णय देवतादि से करें। छन्द जानने के लिए महर्षि दयानन्द ने वेद-भाष्य में छन्दो नाम के साथ-साथ षड्जादि स्वर भी लिखे हैं, जिससे संशयास्पद छन्द का निर्णय शीघ्र हो सके। इस प्रकार जैसे छन्दःशास्त्र में प्राचीनाचार्यों ने छन्दोज्ञान के लिए देवता, वर्ण, गोत्रादि लिखे हैं, वैसे ही नामकरण में जन्मदिन के स्मरणार्थ तिथि व नक्षत्र के साथ उनके देवता भी लिखे हैं।

(६) संस्कारविधि में निष्क्रमणसंस्कार में महर्षि ने लिखा है "बालक की माता दाहिनी ओर से लौट कर बांई ओर आ अञ्जलि भर के चन्द्रमा के सम्मुख खड़ी रहके 'ओं यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयं श्रितम्०' इस मन्त्र

से परमात्मा की स्तुति करके जल को पृथिवी पर छोड़ देवे।" (संस्कार० पृ० ५६-५७) यहाँ पर भी पौराणिक बन्धुओं का आक्षेप है कि मूर्तिपूजा की जड़ पर कुठाराघात करने वाले और बहु-देवतापूजा के प्रबल विरोधी स्वामी दयानन्द ने चन्द्रमा के प्रति जल छुड़वाकर यहाँ जड़मूर्त्तिपूजा को स्वीकार किया है। यथार्थ में यहाँ महर्षि ने 'परमात्मा की स्तुति करके' लिखकर अपने भाव को बहुत ही स्पष्ट कर दिया है। यहाँ कोई जड़-चन्द्र की पूजा को स्वामी जी ने कदापि स्वीकार नहीं किया। संस्कारों में प्रायः बाह्यविधियों के द्वारा किसी न किसी प्रकार की शिक्षा या रहस्य को समझाया जाता है। जसे विवाह में स्त्री-पुरुषों के हृदयों को जोड़ने के लिये वस्त्रों की ग्रन्थि लगाई जाती है। ऐसे ही शिलारोहण, लाजाहोम, ध्रुव-अरुन्धती-तारा प्रदर्शन तथा सूर्यावलोकनादि विधियाँ पतिव्रतधर्म में दृढ़ता के लिए ही कोई न कोई शिक्षा या रहस्य को समझाती हैं। वैसे ही निष्क्रमणसंस्कार में चन्द्र की ओर देखकर पृथिवी पर जल छोड़ कर परमात्मा के स्तवन से यह रहस्य समझाया गया है—हे परमेश्वर! जैसे जल और चन्द्र का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। (शुक्लपक्ष में चाँद की चांदनी में समुद्र के जल के उछलने से इस बात को अच्छी प्रकार समझा जा सकता है) वैसे ही बालक का हमारे साथ भी सदा घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहे।' इसमें किसी प्रकार का भी पौराणिक भाव या जड़पूजा का वर्णन कदापि नहीं है।

(७) संस्कारविधि के चूडाकर्मसंस्कार में महर्षि ने लिखा है—"तीन दर्भ लेके दाहिनी बाजू के केशों के समूह को हाथ से दबा के 'ओं विष्णोर्दंष्ट्रोऽसि' इस मन्त्र से छुरे की ओर देखके—

ओं शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते मा मा हिंसीः ॥

इस मन्त्र को बोल के छुरे को दाहिने हाथ में लेवे।"

यहाँ पौराणिक इन मन्त्रब्राह्मण के वाक्यों तथा प्रकरण को न समझकर यह मिथ्यार्थ करके लोगों को बहकाते हैं—'हे छुरे! तू विष्णु=ईश्वर की दाढ़ है।' इस अर्थ से यह भी सिद्ध करते हैं—परमेश्वर को निराकार मानने वाले दयानन्द ने भी छुरे को विष्णु की दाढ़ मानकर नमस्ते कही है। अतः वे भी जड़-पूजा को यहां मान रहे हैं। किन्तु उनका यह अर्थ प्रकरणविरुद्ध

तथा शास्त्रविरुद्ध है। यह प्रकरण यज्ञ का है। विष्णु परमेश्वर का भी नाम है। किन्तु विष्णु 'यज्ञो वै विष्णुः' (श० १। १। २। १३) प्रमाण से यज्ञ का भी नाम है। और 'दंष्ट्र' शब्द 'दंश दशने' धातु से करण कारक में 'ष्ट्रन्' प्रत्यय करने से बना है। जिसका अर्थ है—काटने का साधन। लोक में दाढ़ को भी 'दंष्ट्र' अन्नादि को काटने के कारण ही कहते हैं। चूड़ाकर्म में बाल काटने का साधन छुरा होता है। प्रकरणानुसार अर्थ इस प्रकार हुआ—

'हे छुरे! तू विष्णु=यज्ञ का (यज्ञसम्बन्धी) दंष्ट्रः=काटने वाला शस्त्र है।' यहाँ कोई यह भी आशंका कर सकता है कि जड़ छुरे को सम्बोधित क्यों किया गया? क्या छुरा हमारे वचनों को सुन सकता है? इसका उत्तर यह है कि यह वेद और ब्राह्मणादि ग्रन्थों की प्राचीन शैली है, जिसको न समझने से विद्वान् भी भ्रान्ति में पड़ जाते हैं। इस शैली में प्रत्यक्ष स्तुति में जड़ पदार्थ में भी सम्बोधन और मध्यम पुरुष का प्रयोग करते हैं, परन्तु अर्थ करते समय मध्यम पुरुष का प्रथम पुरुष में व्यत्यय करना चाहिए। महर्षि दयानन्द ने इस वैदिक नियम को वहुत समझा कर स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है-

"वेद के प्रयोगों में इतनी विशेषता होती है कि जड़ पदार्थ भी प्रत्यक्ष हों तो वहाँ निरुक्तकार के उक्त नियम से मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है। इससे यह भी जानना आवश्यक है कि ईश्वर ने संसारी जड़ पदार्थों को प्रत्यक्ष कराके केवल उनसे अनेक उपकार लेना जनाया है।" (ऋ० भू०, पृ० ३५३)

निरुक्त में (७। १। १,२) ऋचाओं के तीन भेद किए हैं—परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक। वेद जिस पदार्थ की प्रत्यक्षरूप में स्तुति करता है, चाहे वह स्तोतव्य पदार्थ जड़ हो या चेतन, उसका वर्णन मध्यमपुरुष में करता है। और व्याकरण अष्टाध्यायी का 'व्यत्ययो वहुलम्' (३। १। ८५) सूत्र व्यत्ययों का स्पष्ट निर्देश कर रहा है।

इस प्रकार के नियमों से अनभिज्ञ व्यक्ति ही शास्त्रों के मिथ्या अर्थ करके अनर्थ करते रहते हैं। इसी प्रकार चूडाकर्म के प्रकरण में 'ओषधे त्रायस्व एनं, मैनं हिंसीः' इस वाक्य का भी वे अनर्थ ही करते हैं। किन्तु व्यत्यय के नियम को समझकर इसका युक्तियुक्त तथा सुसंगत अर्थ इस प्रकार है—'ओषधे=

यह ओषधि त्रायस्व=रक्षा करती है, एनम्=इसको मा हिंसीः=हिंसन नहीं करती है। इसी प्रकार पूर्वोद्धृत 'ओं शिवो नामासि०' वाक्य का अर्थ भी गलत करते हैं और महर्षि दयानन्द पर यह आक्षेप करते हैं कि ये जड़ छुरे को भी तो नमस्ते करते हैं किन्तु मूर्ति के आगे सिर झुकाने से घबराते हैं। क्या छुरे के आगे सिर झुकाना जड़पूजा नहीं है। किन्तु पूर्वोक्त नियमों के जानने से ऐसे मिथ्यार्थों का समूल उन्मूलन हो जाता है। इस मन्त्र का सत्यार्थ इस प्रकार है—"शिवः=कल्याण करने वाला, असि=निश्चय से तू है। स्वधितिः=वज्र अर्थात् लोहा, ते=तेरा, पिता=उत्पत्ति स्थान है, नमः=सत्कार, ते=इसका, मा=मत, मा=मुझको, हिंसीः=दुःख दे।"

यह छुरे का वर्णन है। छुरे की उत्पत्ति लोहे से बताई है और चूडाकर्म में छुरे का प्रयोग सत्कार पूर्वक अर्थात् बहुत ही सावधानी से करना चाहिए। बच्चे की त्वचा अत्यधिक कोमल है, इसको किसी प्रकार का कष्ट न हो। इस प्रकार इस मन्त्र में जड़पूजा की कहीं गन्ध भी नहीं है। पौराणिक बन्धुओं को 'नमः' शब्द के 'नमस्कार' सत्कार' 'अन्न' तथा वज्रादि अर्थों को ध्यान देकर ही प्रकरणानुसार अर्थ करना चाहिए।

इसी प्रकार समावर्त्तनसंस्कार के—'ओं प्रतिष्ठे स्थो विश्वतो मा पातम्' (सं० वि०, ६६ पृ०) अर्थ में भी पौराणिकों को महाभ्रान्ति है। इसका अर्थ वे इस प्रकार करते हैं—हे जूते! तू मेरी सब तरह से रक्षा कर। किन्तु यह भ्रान्ति पूर्वोक्त नियमों की अनभिज्ञता के कारण ही है। महर्षि ने इस का अर्थ नहीं किया है। गृहस्थ में प्रवेश करने वाले पुरुष को उपानह, पादवेष्टन, पगरखादि इस मन्त्र से धारण करने के लिए स्वामी जी ने लिखा है। इसकी भी पुरुष व्यत्यय से ही संगति तथा प्रकरण के अनुकूल अर्थ करना उचित है। क्योंकि मन्त्र में किसी वस्तु का नाम नहीं है। लोक में जो भी शरीर की सुरक्षा के बाह्य साधन हैं, वे 'प्रतिष्ठा' पद से गृहीत किए हैं। वे कण्टकादि व सर्दी-गर्मी से शरीर की रक्षा करते हैं। यदि कोई द्विवचनान्त का आग्रह करके 'जूता' ही अर्थ करने का दुराग्रह करे, तब भी पुरुष व्यत्यय से अर्थ की संगति ठीक लगती है। यहाँ 'जूते' से प्रार्थना नहीं की गई है। ऐसे स्थलों पर भ्रान्ति का मूलकारण पूर्वोक्त वैदिक नियमों से अनभिज्ञता ही है।

(८) कुछ लोगों का यह भी मिथ्याक्षेप है कि वेदों में वानप्रस्थ तथा संन्यास का कहीं विधान नहीं है। क्योंकि वेद में कहीं भी 'वानप्रस्थ' तथा 'संन्यास' शब्द नहीं है। अतः महर्षि दयानन्द के ये दोनों संस्कार ही अवैदिक हैं। किन्तु यह आक्षेप मिथ्या ही है। शास्त्रों में वानप्रस्थ के लिए 'मुनिः' तथा संन्यास के लिए 'यतिः' शब्द का प्रयोग आता है। जैसे मनुस्मृति में छठे अध्याय में वानप्रस्थ के लिए बहुधा 'मुनि' शब्द का प्रयोग है। उपनिषदों में 'वनी' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। वेद में भी वानप्रस्थ के लिए मुनि शब्द का प्रयोग हुआ है। जैसे—ऋ० १०। १३६। ५ में 'अथो देवेषितो मुनिः' शब्द वानप्रस्थ के लिए आया है। और संन्यास के 'यति' शब्द का प्रयोग शास्त्रों में मिलता है। मनुस्मृति में 'भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत्' (६। ५६) 'एष धर्मोऽनुशिष्टो वो यतीनां नियतात्मनाम्' (६। ८६) इत्यादि स्थलों में 'यति' शब्द का प्रयोग 'संन्यास' के लिए आया है। उपनिषदों में इसी 'यति' शब्द का प्रयोग मिलता है। जैसे—(संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः!' (मु० उ० ३। २। ६) में स्पष्ट ही 'यति' शब्द संन्यास के लिए पठित है। वेदों में भी संन्यास के लिए 'यतिः' शब्द का बहुधा प्रयोग हुआ है—

यद् वा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत। (ऋ० १०। ७२। ७)

'वैश्वानराय यतये मतीनाम्।' (ऋ० ७। १३। १)

'य इन्द्र यतयस्त्वा भृगवो ये च तुष्टुवुः। (ऋ० ८। ६। १८)

'अषामर्थं यतीनां ब्रह्मा भवति सारथिः।' (ऋ० १। १५८। ६)

इत्यादि स्थलों पर 'यति' शब्द का प्रयोग संन्यास के लिए हुआ है। अतः वानप्रस्थ तथा संन्यास दोनों आश्रमों का मूल वेदों में होने से पौराणिकों के आक्षेपों का स्पष्ट रूप से खण्डन हो जाता है। और उनके मिथ्याक्षेपों से उनकी ज्ञानलवविदग्धता ही प्रकट होती है।

इसी प्रकार स्वामी जी पर उपनयन-संस्कार के 'यज्ञोपवीतं परमं०' मन्त्र को भी अवैदिक बताकर आक्षेप किया करते हैं। किन्तु स्वामी जी ने प्राचीन आर्यों की श्रेष्ठ परम्पराओं को कहीं भी नहीं छोड़ा है। इस भाव से गृह्यसूत्रों के प्रमाण रखे हैं। उपनयन के लिए वेदों में बहुत प्रमाण मिलते हैं। जैसे कुछ निम्न हैं—

(क) युवा सुवासाः परिवीत आगात् । (ऋ० ३ । ८ । ४)
(ख) आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणम्० (अथर्व० ११ । ७ । ३)
(ग) नमो हरिकेशायोपवीतिने । (यजु० १६ । १७)

इत्यादि वेद-मन्त्रों से उपनयन की प्रामाणिकता स्पष्ट है। गृह्यसूत्रों के उपनयन मन्त्र को महर्षि ने इसलिए भी संस्कारविधि में स्थान दिया है कि ऋषि-मुनियों ने इसमें यज्ञोपवीत के लाभों का समावेश करके इसकी उपयोगिता अत्यधिक बढ़ा दी है। अतः महर्षि का कोई भी प्रकरण अवैदिक नहीं है। यह मिथ्या समझने वालों की भ्रान्ति ही है।

(६) संस्कारविधि में गर्भाधान-प्रकरण में जो 'गर्भाधान की विधि अर्थात् जब वीर्य गर्भाशय में जाने का समय आवे इत्यादि' लिखी है, उस पर भी वेदों व शास्त्रों से अनभिज्ञ व्यक्ति आक्षेप किया करते हैं कि यह स्वामी जी ने कहाँ से और कैसे लिख दी ? स्वामी जी तो बाल ब्रह्मचारी थे। अतः उनके निष्कलंक चरित्र को भी दूषित करने का दुस्साहस तथा कुचेष्टा किया करते हैं। किन्तु उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि सभी ज्ञान अनुभव से ही नहीं सीखा जाता। वेदादि शास्त्रों को पढ़कर भी बहुत कुछ सीखा जाता है। इस विषय में श्री रामगोपाल जी शास्त्री ने वेदादि शास्त्रों के निम्न प्रमाण दर्शाए हैं, जो बहुत ही इस विषय में प्रकाश डालते हैं—

(क) ओं मुखं तदस्य शिर इत्सतेन, जिह्वा पवित्रमश्विनासन् सरस्वती। चप्यं न पायुर्भिषगस्य वालो, वस्तीर्न शेपो हरसा तरस्वी ॥ (यजु० १६। ८८)

इस मन्त्र का महर्षिकृत भाष्य पाठकों को देखना चाहिए। जिससे महर्षि के लेख की स्पष्ट प्रामाणिकता मिल जाती है। महर्षि ने इस मन्त्र के भावार्थ में इस विधि की आवश्यकता तथा उपयोगिता बताते हुए लिखा है—'स्त्रीपुरुष गर्भाधान के समय में परस्पर मिल, प्रेम से पूरित होकर, मुख के साथ मुख, आंख के साथ आंख, मन के साथ मन, शरीर के साथ शरीर का अनुसन्धान करके गर्भ का धारण करें। जिससे **कुरूप वा वक्रांग सन्तान न होवे।'**

(ख) 'अथ यामिच्छेत् गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाप्य मुखे मुखं सन्धायापान्याभिप्राण्याद् इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति।'

(शत० १४ । ७ । ५ । १०)

यहां भी वेदोक्त विधियों की ही ऋषियों ने व्याख्या की है। इसी प्रकार की व्याख्या पारस्कर गृह्यसूत्र (१।११।५) में तथा चरक के शरीरस्थान (८।८) में मिलती है। स्वामी जी ने वेदादिशास्त्रों में ही पढ़कर इस विधि को लिखा है। अतः उन पर जो मिथ्याक्षेप किया जाता है, उसका कोई आधार नहीं है।

(१०) पौराणिक पण्डित महर्षि के ग्रन्थों पर कैसे-कैसे मिथ्या दोष लगाते हैं, उनकी छल-कपटपूर्ण हृदयस्थ कलंक कालिमा का एक नमूना देखिए—

महर्षि ने विवाह संस्कार से पूर्व लड़का व लड़की के अपने-अपने घरों पर ही कुछ क्रियाओं का विधान करते हुए लिखा है—"इन मन्त्रों से सुगन्धित शुद्ध जल से पूर्ण कलशों को लेके वधू और वर स्नान कर वधू उत्तम वस्त्रालंकार धारण करके उत्तम आसन पर पूर्वाभिमुख बैठे।" (सं० वि० विवाहप्रकरणम्)

इस पर पौराणिकों का आक्षेप यह है कि विवाहसंस्कार से पूर्व लड़का व लड़की को एकान्त में स्नान करने के लिए कौन माता-पिता अनुमति देंगे ? यह महर्षि का व्यवहार-विरुद्ध तथा अप्रामाणिक लेख है। किन्तु यह पौराणिकों को प्रकरणानभिज्ञता के कारण ही भ्रान्ति हुई। इसमें निम्न लिखित बातों पर ध्यान देने से भ्रान्ति का निराकरण स्वतः ही हो जाता है—

(क) मन्त्रों का उच्चारण करके सुगन्धित जल से स्नान की विधि लड़का व लड़की दोनों के लिए महर्षि ने लिखी है। किन्तु इसका अभिप्राय विवाह से पूर्व एकान्तवास से नहीं है। क्योंकि महर्षि की समस्त विधियाँ दोनों के लिए समान अधिकार की बोधक हैं। अतः यह स्नानविधि अपने-अपने घरों पर ही करने के लिए महर्षि ने लिखी है।

(ख) यदि महर्षि का अभिप्राय विवाह से पूर्व लड़का व लड़की के इकट्ठे स्नान से होता तो उसी स्थान पर महर्षि आगे ऐसा क्यों लिखते—"वैसे ही वर भी एकान्त अपने घर में जाके उत्तम वस्त्रालंकार करके......वधू के घर जाने का ढंग करे।" अतः पौराणिकों का आक्षेप पूर्वापर-प्रकरण से विरुद्ध शरारत पूर्ण ही है। उन्हें ऐसे आक्षेप करते समय लेशमात्र भी लज्जा व संकोच क्यों नहीं होता ? यह पामरता की पराकाष्ठा ही है।

संस्कारों में दैनिक-यज्ञादि महर्षि-सम्मत नहीं हैं—

महर्षि दयानन्द ने प्रत्येक संस्कार की उचित-स्थान पर सम्पूर्ण विधि लिखी

है। और सब संस्कारों में सामान्य तथा उचित समय पर कर्त्तव्य विधियों का संग्रह 'सामान्य-प्रकरण' में किया है। किन्तु दैनिक-यज्ञ के मन्त्रों से ('सूर्यो ज्योति०' से 'अग्ने नय०' तक) किसी संस्कार की आहुतियां नहीं लिखीं। प्राय: यह देखने में आता है कि संस्कारों की समाप्ति दैनिक-यज्ञ से की जाती है। यह संस्कारों में दैनिकयज्ञ का मिश्रण, शान्तिपाठ के 'ओम् द्यौः शान्तिः' और 'यज्ञ-रूप प्रभो' इत्यादि गीतों का गायनों का महर्षि ने कहीं विधान नहीं किया और न ही इनका कहीं गृह्यसूत्रादि कर्मकाण्ड के ग्रन्थों में विधान है। प्रत्येक संस्कार की समाप्ति सामवेदोक्त महावामदेव्य गान से करने का विधान महर्षि ने किया है। अतः आर्यों को महर्षि के लेख का आदर करके कर्त्तव्य-कर्मों का ग्रहण और अकर्त्तव्यों को छोड़ देना चाहिए।

प्रमाण भाग के पते क्यों नहीं—

महर्षि दयानन्द ने संस्कारविधि में भी अन्य ग्रन्थों की भांति प्रमाणभाग में बहुतों के पते नहीं दिये। केवल ग्रन्थों के नाम ही दिए हैं। कुछ विद्वानों ने उनके पते खोजकर लिखने का प्रयत्न किया है। उनके विचार में इससे पाठकों को देखने तथा विचारने में सुविधा हो जाती है। परन्तु उन पतों से अनेक भ्रान्तियाँ भी पैदा हो गई हैं। जैसे—

(१) महर्षि द्वारा ऊहित-पाठों के पते कहाँ और कैसे मिल सकेंगे ? और यदि मिलेंगे तो पाठ-भेद अवश्य होगा। क्या उससे सन्देह नहीं होगा कि कौन-कौन पाठ शुद्ध हैं।

(२) महर्षि ने कहीं भिन्न-भिन्न मन्त्रों के भागों को भी एकत्र दिखाया है। उनके पते न मिलने पर क्या उन्हें प्रामाणिक न माना जाए ? अथवा एक भाग के मिलने पर दूसरे भाग को अशुद्ध माना जाए ?

(३) महर्षि के बाद के प्रकाशनों में बहुत से पाठ-भेद हुए हैं, उन ग्रन्थों से क्या महर्षि के पाठों की तुलना करना उचित है ? और कौन सा पाठ प्रामाणिक माना जायेगा ?

(४) अनेक ग्रन्थों में श्लोक ही बदल दिए हैं, अथवा सम्बद्ध परिशिष्ट

भागों को ही पृथक् कर दिया गया है। उनके पते उन ग्रन्थों में कहाँ मिल सकेंगे ?

अतः महर्षि के ग्रन्थों में पते देना भ्रान्तियों को ही जन्म देना है। हमारा यह परम कर्त्तव्य है कि हम महर्षि के ग्रन्थों को यथालिखित ही रहने दें। उसमें कहीं भी कोई संशोधन या परिवर्धन न करें। इसी में हित समझ कर हमने इसमें पते देने का प्रयत्न नहीं किया है।

सामान्य प्रकरण को न समझने से एक भ्रान्ति—

महर्षि दयानन्द ने सामान्य-प्रकरण के विषय में बहुत ही स्पष्ट लिखा है-- "इसमें सामान्य विषय जो कि सब संस्कारों के आदि और उचित समय तथा स्थान में अवश्य करना चाहिये, वह प्रथम सामान्य प्रकरण में लिख दिया है। और जो मन्त्र वा क्रिया सामान्य प्रकरण की संस्कारों में अपेक्षित है, उसके पृष्ठ पंक्ति की प्रतीक उन कर्त्तव्य संस्कारों में लिखी है कि जिसको देखके सामान्यविधि की क्रिया वहाँ सुगमता से कर सकें और सामान्यप्रकरण की विधि भी सामान्यप्रकरण में लिख दिया है अर्थात् वहाँ का विधि कर के संस्कार का कर्त्तव्य-कर्म करे।" (सं० वि० भूमिका)

इस महर्षि के लेख को न समझ कर कुछ विद्वान् पुरोहित ऐसा भी करते हुए देखे गए हैं कि प्रथम सामान्यप्रकरण की सब विधियाँ कराकर फिर संस्कार की क्रियाएँ प्रारम्भ करते हैं। उन्हें उपर्युद्धृत महर्षि की रेखांकित पंक्तियों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। जिसमें बहुत ही स्पष्ट है कि संस्कारों में सामान्य प्रकरण की जिन विधियों की आवश्यकता है, उनका महर्षि ने यथास्थान पृष्ठ तथा क्रिया का नाम देकर निर्देश किया है, अतः उचित स्थान व समय पर उन विधियों को करना चाहिए। अन्यथा संस्कारों में पृष्ठ तथा क्रियाओं के नाम लिखने की क्या आवश्यकता थी, यदि सामान्य प्रकरण की समस्त विधियाँ संस्कारों के प्रारम्भ में करनी ही होती ? सामान्य-प्रकरण की समस्त विधियाँ समस्त संस्कारों के प्रारम्भ में करना महर्षि के लेख के सर्वथा विरुद्ध है। इस भ्रान्ति का जन्म कतिपय नामकरण व अन्नप्राशन संस्कारों में महर्षि लिखित 'सम्पूर्ण विधि करके' शब्दों से भी पुष्ट हुई है। किन्तु यदि महर्षि का यह भाव होता, तो उसी के आगे सामान्य प्रकरण की विधियों को

पुनः न लिखते। अतः वहाँ वहाँ 'सम्पूर्ण' शब्द सापेक्ष ही है। अतः विद्वान् पुरोहितों को संस्कारों में महर्षि लिखित यथानिर्दिष्ट विधियों का ही अनुसरण करके एकरूपता अपनानी चाहिए।

संस्कारों में उपदिष्ट कर्त्तव्य—

महर्षि दयानन्द ने संस्कारविधि में जहाँ संस्कारों का समय तथा संस्कारों की विधियाँ सप्रमाण लिखी हैं, वहाँ संस्कृत व्यक्तियों के लिए जो-जो कर्त्तव्य धर्म आवश्यक हैं, उनका भी सप्रमाण उपदेश दिया है। क्या यह कर्त्तव्योपदेश संस्कार के दिन तक ही निश्चित है? ऐसा महर्षि का भाव नहीं है। कर्त्तव्य कर्मों में दो प्रकार के उपदेश महर्षि ने लिखे हैं—(१) सामान्य धर्म, (२) विशेष धर्म। सामान्य कर्त्तव्य तो सब मनुष्यों को सब अवस्थाओं में करने ही चाहिए। किन्तु जो विशेष-कर्त्तव्यों की शिक्षा दी है, उनका पालन तब तक अवश्य करना चाहिए, जब तक दूसरा संस्कार न हो। जैसे वेदारम्भ संस्कार में जो ब्रह्मचारी व ब्रह्मचारिणी को कर्त्तव्य कर्मों का उपदेश दिया है, उसका पालन तब तक विधिवत् करना चाहिए, जब तक दूसरा संस्कार न हो। कहने का तात्पर्य यह है कि समस्त संस्कार एक शृंखला की भांति परस्पर सम्बद्ध तथा किसी विशेषावस्था को छोड़कर क्रमबद्ध ही हैं। जो मानव-जीवन को एक ऐसी पद्धति का मार्ग-दर्शन कराते हैं, जिससे मानव स्वतः ही जीवन के लक्ष्य की ओर अग्रसर होकर प्रगति करता जाए। अतः स्पष्ट है कि संस्कारों में उपदिष्ट-धर्म दूसरे संस्कारों तक श्रद्धा से अवश्य करते रहना चाहिए।

तिथि—फाल्गुन कृष्णा प्रतिपदा,
सं० २०३४ वि०।
(२४-२-१९७८)

विनीत
राजवीर शास्त्री

❀ ओ३म् ❀

भूमिका

सब सज्जन लोगों को विदित होवे कि मैंने बहुत सज्जनों के अनुरोध करने से श्रीयुत महाराजे विक्रमादित्य के संवत् १९३२ कार्तिक कृष्णपक्ष ३० शनिवार के दिन संस्कारविधि का प्रथमारम्भ किया था। उस में संस्कृतपाठ सब एकत्र और भाषापाठ एकत्र लिखा था, इस कारण संस्कार करने वाले मनुष्यों को संस्कृत और भाषा दूर-दूर होने से कठिनता पड़ती थी। और जो १००० (एक हजार) पुस्तक छपे थे उन में से अब एक भी नहीं रहा। इसलिये श्रीयुत महाराजे विक्रमादित्य के संवत् १९४० आषाढ़ बदि १३ रविवार के दिन पुनः संशोधन करके छपवाने के लिये विचार किया।

अब की वार जिस-जिस संस्कार का उपदेशार्थ प्रमाणवचन और प्रयोजन है वह-वह संस्कार के पूर्व लिखा जायगा, तत्पश्चात् जो-जो संस्कार में कर्त्तव्य विधि है उस-उस को क्रम से लिखकर पुनः उस संस्कार का शेष विषय जो कि दूसरे संस्कार तक करना चाहिये, वह लिखा है। और जो विषय प्रथम अधिक लिखा था उस में से अत्यन्त उपयोगी न जानकर छोड़ भी दिया है। और अब की बार जो-जो अत्यन्त उपयोगी विषय है वह-वह अधिक भी लिखा है।

इस में यह न समझा जावे कि प्रथम विषय युक्त न था और युक्त छूट गया था, उस का संशोधन किया है, किन्तु उन विषयों का यथावत् क्रमबद्ध संस्कृत के सूत्रों में प्रथम लेख किया था। उस में सब लोगों की बुद्धि कृतकारी नहीं होती थी इसलिये अब सुगम कर दिया है क्योंकि संस्कृतस्थ विषय विद्वान् लोग समझ सकते थे, साधारण नहीं।

इस में सामान्य विषय जो कि सब संस्कारों के आदि और उचित समय तथा स्थान में अवश्य करना चाहिये, वह प्रथम सामान्य-प्रकरण में लिख दिया है, और जो मन्त्र वा क्रिया सामान्यप्रकरण की संस्कारों में अपेक्षित है उस के पृष्ठ पंक्ति की प्रतीक उन कर्त्तव्य संस्कारों में लिखी है कि जिस को देख के सामान्यविधि की क्रिया वहाँ सुगमता से कर सकें। और सामान्यप्रकरण का विधि भी सामान्य-प्रकरण में लिख दिया है, अर्थात् वहाँ का विधि करके संस्कार का कर्त्तव्य कर्म करे। और जो सामान्यप्रकरण का विधि लिखा है वह एक स्थान से अनेक स्थलों में अनेक वार करना होगा। जैसे अग्न्याधान प्रत्येक संस्कार में कर्त्तव्य हैं, वैसे वह सामान्यप्रकरण में एकत्र लिखने से सब संस्कारों में बारम्बार न लिखना पड़ेगा।

इस में प्रथम ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना पुनः स्वस्तिवाचन शान्तिपाठ, तदनन्तर सामान्यप्रकरण पश्चात् गर्भाधानादि अन्त्येष्टि पर्य्यन्त सोलह संस्कार क्रमशः लिखे हैं, और यहाँ सब मन्त्रों का अर्थ नहीं लिखा है, क्योंकि इसमें कर्मकाण्ड का विधान है, इसलिये विशेष-कर क्रियाविधान लिखा है और जहाँ-जहाँ अर्थ करना आवश्यक है वहाँ-वहाँ अर्थ भी कर दिया है और मन्त्रों के यथार्थ अर्थ मेरे किये वेदभाष्य में लिखे ही हैं, जो देखना चाहें वहां से देख लेवें। यहाँ तो केवल क्रिया करनी ही मुख्य है, जिस करके शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त हो सकते हैं और सन्तान अत्यन्त योग्य होते हैं इसलिये संस्कारों का करना सब मनुष्यों को अति उचित है।

इति भूमिका।

—स्वामी दयानन्द सरस्वती

ओ३म् नमो नमः सर्वविधात्रे जगदीश्वराय ।

अथ संस्कारविधिं वक्ष्यामः

ओं सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्य्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

तैत्तिरीय आरण्यके । अष्टमप्रपाठके । प्रथमानुवाके ॥

सर्वात्मा सच्चिदानन्दो विश्वादिर्विश्वकृद्विभुः ।
भूयात्तमां सहायो नरसर्वेशो न्यायकृच्छुचिः ॥ १ ॥
गर्भाद्या मृत्युपर्यन्ताः संस्काराः षोडशैव हि ।
वक्ष्यन्ते तं नमस्कृत्यानन्तविद्यं परेश्वरम् ॥ २ ॥
वेदादिशास्त्रसिद्धान्तमाध्याय परमादरात् ।
आर्यैतिह्यं पुरस्कृत्य शरीरात्मविशुद्धये ॥ ३ ॥
संस्कारैस्संस्कृतं यद्यन्मेध्यमत्र तदुच्यते ।
असंस्कृतं तु यल्लोके तदमेध्यं प्रकीर्त्यते ॥ ४ ॥
अतः संस्कारकरणे क्रियतामुद्यमो बुधैः ।
शिक्षयौषधिभिर्नित्यं सर्वथा सुखवर्द्धनः ॥ ५ ॥
कृतानीह विधानानि ग्रन्थग्रन्थनतत्परैः ।
वेदविज्ञानविरहैः स्वार्थिभिः परिमोहितैः ॥ ६ ॥
प्रमाणैस्तान्यनादृत्य क्रियते वेदमानतः ।
जनानां सुखबोधाय संस्कारविधिरुत्तमः ॥ ७ ॥

बहुभिः सज्जनैस्सम्यङ्मानवप्रियकारकैः ।
प्रवृत्तो ग्रन्थकरणे क्रमशोऽहं नियोजितः ॥ ८ ॥
दयाया आनन्दो विलसति परो ब्रह्मविदितः
सरस्वत्यस्याग्रे निवसति मुदा सत्यनिलया ।
इयं ख्यातिर्यस्य प्रततसुगुणा हीशशरणाऽ-
स्त्यनेनायं ग्रन्थो रचित इति बोद्धव्यमनघाः ॥ ६ ॥
चक्षूरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे कार्तिकस्यासिते दले ।
अमायां शनिवारेऽयं ग्रन्थारम्भः कृतो मया ॥ १० ॥
बिन्दुवेदाङ्कचन्द्रेऽब्दे शुचौ मासेऽसिते दले ।
त्रयोदश्यां रवौ वारे पुनः संस्करणं कृतम् ॥ ११ ॥

सब संस्कारों की आदि में निम्नलिखित मन्त्रों का पाठ और अर्थ द्वारा एक विद्वान् वा बुद्धिमान् पुरुष ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना स्थिर-चित्त होकर परमात्मा में ध्यान लगा के करे, और सब लोग उस में ध्यान लगा-कर सुनें और विचारें ।

अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाः

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद् भद्रन्तन्न आ सुव ॥ १ ॥ यजु० अ० ३० । मं० ३ ॥

अर्थ—हे (सवितः) सकल जगत् के उत्पत्तिकर्त्ता, समग्र ऐश्वर्ययुक्त (देव) शुद्धस्वरूप, सब सुखों के दाता परमेश्वर ! आप कृपा करके (नः) हमारे (विश्वानि) सम्पूर्ण (दुरितानि) दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को (परा, सुव) दूर कर दीजिये (यत् जो भद्रम्) कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ है, (तत्) वह सब हम को (आ, सुव) प्राप्त कीजिये ॥ १ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २ ॥

यजु० अ० १३ । मं० ४ ॥

अर्थ—जो (हिरण्यगर्भः) स्वप्रकाशस्वरूप और जिसने प्रकाश करनेहारे सूर्य चन्द्रमादि पदार्थ उत्पन्न करके धारण किये हैं, जो (भूतस्य) उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत् का (जातः) प्रसिद्ध (पतिः) स्वामी (एकः) एक ही चेतनस्वरूप (आसीत्) था, जो (अग्रे) सब जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व (समवर्त्तत) वर्त्तमान था, (सः) सो (इमाम्) इस (पृथिवीम्) भूमि (उत) और (द्याम्) सूर्यादि का (दाधार) धारण कर रहा है, हम लोग उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) शुद्ध परमात्मा के लिये (हविषा) ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास और अतिप्रेम से (विधेम) विशेष भक्ति किया करें ॥ २ ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥

य० अ० २५ । मं० १३ ॥

अर्थ—(यः) जो (आत्मदाः) आत्मज्ञान का दाता (बलदाः) शरीर, आत्मा और समाज के बल का देनेहारा (यस्य) जिस की (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (उपासते) उपासना करते हैं, और (यस्य) जिसका (प्रशिषम्) प्रत्यक्ष सत्यस्वरूप शासन, न्याय अर्थात् शिक्षा को मानते हैं (यस्य) जिसका (छाया) आश्रय ही (अमृतम्) मोक्ष सुखदायक है, (यस्य) जिसका न मानना अर्थात् भक्ति न करना ही (मृत्युः) मृत्यु आदि दुःख का हेतु है, हम लोग उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) सकल ज्ञान के देनेहारे परमात्मा की प्राप्ति के लिये (हविषा) आत्मा और अन्तःकरण से (विधेम) भक्ति अर्थात् उसी की आज्ञा पालन करने में तत्पर रहैं ॥ ३ ॥

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशेऽअस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ४ ॥

य० अ० २३ । मं० ३ ॥

अर्थ—(यः) जो (प्राणतः) प्राण वाले और (निमिषतः) अप्राणिरूप (जगतः) जगत् का (महित्वा) अपने अनन्त महिमा से (एक इत्) एक ही (राजा) विराजमान राजा (बभूव) है (यः) जो (अस्य) इस (द्विपदः) मनुष्यादि और (चतुष्पदः) गौ आदि प्राणियों के शरीर की (ईशे) रचना करता है, हम लोग उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) सकलैश्वर्य के देनेहारे परमात्मा के लिये (हविषा) अपनी सकल उत्तम सामग्री से (विधेम) विशेष भक्ति करें ॥ ४ ॥

येन॒ द्यौरु॒ग्रा पृ॑थि॒वी च॑ दृ॒ढा येन॒ स्वः॑ स्तभि॒तं येन॒ नाकः॑ ।
योऽअ॒न्तरि॑क्षे॒ रज॑सो वि॒मानः॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ५ ॥

य० अ० ३२ । मं० ६ ॥

अर्थ—(येन) जिस परमात्मा ने (उग्रा) तीक्ष्ण स्वभाववाले (द्यौः) सूर्य आदि (च) और (पृथिवी) भूमि का (दृढा) धारण (येन) जिस जगदीश्वर ने (स्वः) सुख को (स्तभितम्) धारण और (येन) जिस ईश्वर ने (नाकः) दुःख रहित मोक्ष को धारण किया है (यः) जो (अन्तरिक्षे) आकाश में (रजसः) सब लोक-लोकान्तरों को (विमानः) विशेष मानयुक्त अर्थात् जैसे आकाश में पक्षी उड़ते हैं, वैसे सब लोकों का निर्माण करता और भ्रमण कराता है, हम लोग उस (कस्मै) सुखदायक (देवाय) कामना करने के योग्य परब्रह्म की प्राप्ति के लिये (हविषा) सब सामर्थ्य से (विधेम) विशेष भक्ति करें ॥ ५ ॥

प्रजा॑पते॒ न त्वदे॒तान्य॒न्यो विश्वा॑ जा॒तानि॒ परि॒ ता ब॑भूव ।
यत्का॑मास्ते जुहु॒मस्तन्नो॑ऽअस्तु व॒यं स्या॑म॒ पत॑यो रयी॒णाम् ॥ ६ ॥

ऋ० मं० १० । सू० १२१ । मं० १० ॥

अर्थ—हे (प्रजापते) सब प्रजा के स्वामी परमात्मा (त्वत्) आपसे (अन्यः) भिन्न दूसरा कोई (ता) उन (एतानि) इन (विश्वा) सब (जातानि) उत्पन्न हुए जड़ चेतनादिकों को (न) नहीं (परि, बभूव) तिरस्कार करता है, अर्थात् आप सर्वोपरि हैं (यत्कामाः) जिस-जिस पदार्थ की कामना वाले हम लोग (ते) आपका (जुहुमः) आश्रय लेवें और वाञ्छा करें (तत्) उस-उस की कामना (नः) हमारी सिद्ध (अस्तु) होवे, जिस से (वयम्) हम लोग (रयीणाम्) धनैश्वर्यों के

(पतयः) स्वामी (स्याम) होवें ॥ ६ ॥

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ ७ ॥

य० अ० ३२ । मं० १० ॥

अर्थ—हे मनुष्यो (सः) वह परमात्मा (नः) अपने लोगों का (बन्धुः) भ्राता के समान सुखदायक (जनिता) सकल जगत् का उत्पादक (सः) वह (विधाता) सब कामों का पूर्ण करने हारा (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) लोकमात्र और (धामानि) नाम, स्थान, जन्मों को (वेद) जानता है, और (यत्र) जिस (तृतीये) सांसारिक सुख दुःख से रहित नित्यानन्दयुक्त (धामन्) मोक्षस्वरूप धारण करने हारे परमात्मा में (अमृतम्) मोक्ष को (आनशानाः) प्राप्त होके (देवाः) विद्वान् लोग (अध्यैरयन्त) स्वेच्छापूर्वक विचरते हैं, वही परमात्मा अपना गुरु, आचार्य, राजा और न्यायाधीश है, अपने लोग मिल के सदा उसकी भक्ति किया करें ॥ ७ ॥

अग्ने नय सुपथा राये ऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥८॥

य० अ० ४० । मं० १६ ॥

अर्थ—हे (अग्ने) स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप सब जगत् के प्रकाश करनेहारे (देव) सकल सुखदाता परमेश्वर ! आप जिस से (विद्वान्) सम्पूर्ण विद्यायुक्त हैं, कृपा करके (अस्मान्) हम लोगों को (राये) विज्ञान वा राज्यादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये (सुपथा) अच्छे धर्मयुक्त आप्त लोगों के मार्ग से (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) प्रज्ञान और उत्तम कर्म (नय) प्राप्त कराइये, और (अस्मत्) हम से (जुहुराणम्) कुटिलतायुक्त (एनः) पापरूप कर्म को (युयोधि) दूर कीजिये, इस कारण हम लोग (ते) आपकी (भूयिष्ठाम्) बहुत प्रकार की स्तुतिरूप (नमउक्तिम्) नम्रतापूर्वक प्रशंसा (विधेम) सदा किया करें और [illegible]त आनन्द में रहें ॥ ८ ॥

इतीश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाप्रकरणम् ॥

अथ स्वस्तिवाचनम्

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥१॥
स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये॥२॥
ऋ० मं० १। सू० १। मं० १, ९॥

स्वस्ति नो मिमीतामश्विना भगः स्वस्ति देव्यदितिरनर्वणः।
स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतुना॥३॥
स्वस्तये वायुमुप ब्रवामहै सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः।
बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये स्वस्तय आदित्यासो भवन्तु नः॥४॥
विश्वे देवा नो अद्या स्वस्तये वैश्वानरो वसुरग्निः स्वस्तये।
देवा अवन्त्वृभवः स्वस्तये स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः॥५॥
स्वस्ति मित्रावरुणा स्वस्ति पथ्ये रेवति।
स्वस्ति न इन्द्रश्चाग्निश्च स्वस्ति नो अदिते कृधि॥ ६ ॥
स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि॥ ७ ॥
ऋ० मं० ५, सू० ५१।

ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ८ ॥
ऋ० मं० ७। सू० ३५॥

येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः।
उक्थशुष्मान् वृषभरान्त्स्वप्नसस्ताँ आदित्याँ अनु मदा स्वस्तये॥९

नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः ।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणंवसते स्वस्तये ॥१०॥
सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिह्वृता दधिरे दिवि क्षयम् ।
ताँ आ विवास नमसा सुवृक्तिभिर्महो आदित्याँ अदितिं स्वस्तये ॥११॥
को वः स्तोमं राधति यं जुजोषथ विश्वे देवासो मनुषो यति ष्ठन ।
को वोऽध्वरं तुविजाता अरं करद्यो नः पर्षदत्यंहः स्वस्तये ॥१२॥
येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्तहोतृभिः ।
त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये ॥१३॥
य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः ।
ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्यद्या देवासः पिपृता स्वस्तये ॥१४॥
भरेष्विन्द्रं सुहवं हवामहेऽहोमुचं सुकृतं दैव्यं जनम् ।
अग्निं मित्रं वरुणं सातये भगं द्यावापृथिवी मरुतः स्वस्तये ॥१५॥
सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥१६॥
विश्वे यजत्रा अधि वोचतोतये त्रायध्वं नो दुरेवाया अभिह्रुतः ।
सत्यया वो देवहूत्या हुवेम शृण्वतो देवा अवसे स्वस्तये ॥१७॥
अपामीवामप विश्वामनाहुतिमपारातिं दुर्विदत्रामघायतः ।
आरे देवा द्वेषो अस्मद्युयोतनोरु णः शर्म यच्छता स्वस्तये ॥१८॥
अरिष्टः स मर्त्तो विश्व एधते प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि ।
यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिरति विश्वानि दुरिता स्वस्तये ॥१९॥

यं देवासोऽवथ वाजसातौ यं शूरसाता मरुतो हिते धने ।
प्रातर्यावाणं रथमिन्द्र सानसिमरिष्यन्तमा रुहेमा स्वस्तये ॥२०॥
स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वस्त्य१प्सु वृजने स्वर्वति ।
स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतो दधातन ॥२१॥
स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति ।
सा नो अमा सो अरणे नि पातु स्वावेशा भवतु देवगोपा ॥२२॥
ऋ० मं० १० । सू० ६३ ।

इषे त्वोर्ज्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा व स्तेन ईशत माघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि ॥२३॥ यजु० अ० १ । मं० १ ॥

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासोऽअपरीतास उद्भिदः ।
देवा नो यथा सदमिद् वृधेऽअसन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे ॥२४॥
देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानांꣳरातिरभि नो निवर्त्तताम् ।
देवानांꣳसख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥२५॥
तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम् ।
पूषा नो यथा वेदसामसद् वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥२६॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥२७॥
भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥२८॥
यजुः० अ० २५ । मं० १४, १५, १८, १६, २१ ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।
१ २ २ २ ३ १ २
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥ २९ ॥
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः । देवेभिर्मानुषे जने ॥ ३० ॥

सा० छन्द आ० प्रपा० १ । मं० १, २ ॥

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ ३१ ॥

अथर्व० कां० १ । सू० १ । वर्ग १ । अनु० १ । प्रपा० १ । मं० १ ॥

इति स्वस्तिवाचनम् ॥

अथ शान्तिकरणम्

शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रावरुणा रातहव्या ।
शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ ॥१॥
शं नो भगः शमु नः शंसो अस्तु शं नः पुरन्धिः शमु सन्तु रायः ।
शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शं नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु ॥२॥
शं नो धाता शमु धर्त्ता नो अस्तु शं न उरूची भवतु स्वधाभिः ।
शं रोदसी बृहती शं नो अद्रिः शं नो देवानां सुहवानि सन्तु ॥३॥
शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु शं नो मित्रावरुणावश्विना शम् ।
शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु शं न इषिरो अभिवातु वातः ॥४॥
शं नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्षं दृशये नो अस्तु ।
शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु शं नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णुः ॥५॥

शं न॒ इन्द्रो॒ वसु॑भिर्दे॒वो अ॑स्तु॒ शमा॑दि॒त्येभि॒र्वरु॑णः सु॒शंसः॑ ।
शं नो॑ रु॒द्रो रु॒द्रेभि॒र्जला॑षः॒ शं न॒स्त्वष्टा॒ ग्नाभि॑रि॒ह शृ॑णोतु ॥६॥
शं नः॒ सोमो॑ भवतु॒ ब्रह्म॒ शं नः॒ शं नो॒ ग्रावा॑णः॒ शमु॑ सन्तु य॒ज्ञाः ।
शं नः॒ स्वरू॑णां मि॒तयो॑ भवन्तु॒ शं नः॑ प्र॒स्व१ः॒ शम्व॑स्तु॒ वेदिः॑ ॥७॥
शं नः॒ सूर्य॑ उरु॒चक्षा॒ उदे॑तु॒ शं न॒श्चत॑स्रः प्र॒दिशो॑ भवन्तु ।
शं नः॒ पर्व॑ता ध्रु॒वयो॑ भवन्तु॒ शं नः॒ सिन्ध॑वः॒ शमु॑ स॒न्त्वापः॑ ॥८॥
शं नो॒ अदि॑तिर्भवतु व्र॒तेभिः॒ शं नो॑ भवन्तु म॒रुतः॑ स्व॒र्काः ।
शं नो॒ विष्णुः॒ शमु॑ पू॒षा नो॑ अस्तु॒ शं नो॑ भ॒वित्रं॒ शम्व॑स्तु वा॒युः ॥९॥
शं नो॑ दे॒वः स॑वि॒ता त्राय॑माणः॒ शं नो॑ भवन्तू॒षसो॑ विभा॒तीः ।
शं नः॑ प॒र्जन्यो॑ भवतु प्र॒जाभ्यः॒ शं नः॒ क्षेत्र॑स्य॒ पति॑रस्तु श॒म्भुः ॥१०॥
शं नो॑ दे॒वा वि॒श्वदे॑वा भवन्तु॒ शं सर॑स्वती स॒ह धी॒भिर॑स्तु ।
शम॑भि॒षाचः॒ शमु॑ राति॒षाचः॒ शं नो॑ दि॒व्याः पार्थि॑वाः॒ शं नो॒ अप्याः॑ ॥ ११ ॥
शं नः॑ स॒त्यस्य॒ पत॑यो भवन्तु॒ शं नो॒ अर्व॑न्तः॒ शमु॑ सन्तु॒ गावः॑ ।
शं न॑ ऋ॒भवः॑ सु॒कृतः॑ सु॒हस्ताः॒ शं नो॑ भवन्तु पि॒तरो॒ हवे॑षु ॥१२॥
शं नो॑ अ॒ज एक॑पाद्दे॒वो अ॑स्तु॒ शं नोऽहि॑र्बु॒ध्न्य१ः॒ शं स॑मु॒द्रः ।
शं नो॑ अ॒पां नपा॑त्पे॒रुर॑स्तु॒ शं नः॒ पृश्नि॑र्भवतु दे॒वगो॑पा ॥१३॥

ऋ० मं० ७ । सू० ३५ । मं० १–१३

इन्द्रो॒ विश्व॑स्य राजति । शं नो॑ऽअस्तु द्वि॒पदे॒ शं चतु॑ष्पदे ॥१४॥
शं नो॒ वातः॑ पवता॒ꣳ शं न॑स्तपतु॒ सूर्यः॑ ।
शं नः॒ कनि॑क्रदद्दे॒वः प॒र्जन्यो॑ऽअ॒भि व॑र्षतु ॥१५॥

अहा॑नि॒ शं भव॑न्तु नः॒ शꣳ रात्रीः॒ प्रति॑ धीयताम् ।
शं न॑ इन्द्रा॒ग्नी भ॑वता॒मवो॑भिः॒ शं न॒ इन्द्रा॒वरु॑णा रा॒तह॑व्या ।
शं न॑ इन्द्रापू॒षणा॒ वाज॑सातौ॒ शमिन्द्रा॒सोमा॑ सुवि॒ताय॒ शंयोः ॥१६॥
शं नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑ शंयोर॒भिस्र॑वन्तु नः ॥१७॥

द्यौः शान्ति॑र॒न्तरि॑क्ष॒ꣳ शान्तिः॑ पृथि॒वी शान्ति॒रापः॒ शान्ति॒रोष॑धयः॒ शान्तिः॑ । वन॒स्पत॑यः॒ शान्ति॒र्विश्वे॑ दे॒वाः शान्ति॒र्ब्रह्म॒ शान्तिः॒ सर्व॒ꣳ शान्तिः॒ शान्ति॑रे॒व शान्तिः॒ सा मा॒ शान्ति॑रेधि ॥१८॥

तच्चक्षु॑र्दे॒वहि॑तं पु॒रस्ता॑च्छु॒क्रमुच्च॑रत् । पश्ये॑म श॒रदः॑ श॒तं जीवे॑म श॒रदः॑ श॒तꣳ शृणु॑याम श॒रदः॑ श॒तं प्रब्र॑वाम श॒रदः॑ श॒तमदी॑नाः स्याम श॒रदः॑ श॒तं भूय॑श्च श॒रदः॑ श॒तात् ॥१९॥

यजु:० अ० ३६ । मं० ८, १०–१२, १७, २४ ॥

यज्जाग्र॑तो दू॒रमु॒दैति॒ दैवं॒ तदु॑ सु॒प्तस्य॒ तथै॒वैति॑ ।
दू॒र॒ङ्ग॒मं ज्योति॑षां॒ ज्योति॒रेकं॒ तन्मे॒ मनः॑ शि॒वस॑ङ्क॒ल्पम॑स्तु ॥१॥
येन॒ कर्मा॑ण्य॒पसो॑ मनी॒षिणो॑ य॒ज्ञे कृ॒ण्वन्ति॑ वि॒दथे॑षु॒ धीराः॑ ।
यद॑पू॒र्वं य॒क्षम॒न्तः प्र॒जानां॒ तन्मे॒ मनः॑ शि॒वस॑ङ्क॒ल्पम॑स्तु ॥२॥
यत्प्र॒ज्ञान॑मु॒त चेतो॒ धृति॑श्च॒ यज्ज्योति॑र॒न्तर॒मृतं॑ प्र॒जासु॑ ।
यस्मा॒न्नऽऋ॒ते किं च॒न कर्म॑ क्रि॒यते॒ तन्मे॒ मनः॑ शि॒वस॑ङ्क॒ल्पम॑स्तु ॥३॥
येने॒दं भू॒तं भुव॑नं भवि॒ष्यत्परि॑गृहीतम॒मृते॑न॒ सर्व॑म् ।
येन॑ य॒ज्ञस्ता॒यते॑ स॒प्तहो॑ता॒ तन्मे॒ मनः॑ शि॒वस॑ङ्क॒ल्पम॑स्तु ॥४॥
यस्मि॒न्नृचः॒ साम॒ यजू॑ꣳषि॒ यस्मि॒न्प्रति॑ष्ठिता रथना॒भावि॑वा॒राः ।
यस्मिँ॑श्चि॒त्तꣳ सर्व॒मोतं॑ प्र॒जानां॒ तन्मे॒ मनः॑ शि॒वस॑ङ्क॒ल्पम॑स्तु ॥५॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥६॥
य० अ० ३४ । मं० १–६ ॥

१ २ ३ २३ ३ १ २र ३ १ २र
स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते ।
१ २३ १ २
शꣳराजन्नोषधीभ्यः ॥२६॥

साम० उत्तरार्चिके प्रपा० १ । मं० ३ ॥

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥२७॥
अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात् ।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥२८॥
अथर्व० कां० १९ । सू० १५ । मं० ५, ६ ॥

इति शान्तिकरणम्* ॥

---

* इस स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण को सर्वत्र जहां-जहां प्रतीक धरें वहां-वहां करना होगा ।

अथ सामान्यप्रकरणम्

नीचे लिखी हुई क्रिया सब संस्कारों में करनी चाहिये। परन्तु जहाँ कहीं विशेष होगा वहाँ सूचना करदी जायगी कि यहां पूर्वोक्त अमुक कर्म न करना और इतना अधिक करना स्थान-स्थान में जना दिया जायगा।

यज्ञदेश—यज्ञ का देश पवित्र अर्थात् जहां स्थल वायु शुद्ध हो, किसी प्रकार का उपद्रव न हो।

यज्ञशाला—इसी को 'यज्ञमण्डप' भी कहते हैं। वह अधिक से अधिक १६ सोलह हाथ सम चौरस चौकोण और न्यून से न्यून ८ आठ हाथ की हो। यदि भूमि अशुद्ध हो तो यज्ञशाला की पृथिवी और जितनी गहरी वेदी बनानी हो उतनी पृथिवी दो-दो हाथ खोद अशुद्ध निकाल कर उस में शुद्ध मट्टी भरें। यदि १६ सोलह हाथ की सम चौरस हो तो चारों ओर २० बीस खम्भे और ८ आठ हाथ की हो तो १२ बारह खम्भे लगाकर उन पर छाया करें।

वह छाया की छत्त वेदी की मेखला से १० दश हाथ ऊँची अवश्य होवे और यज्ञशाला के चारों दिशा में ४ चार द्वार रक्खें और यज्ञशाला के चारों ओर ध्वजा पताका पल्लव आदि बांधें। नित्य मार्जन तथा गोमय से लेपन करें और कुंकुम हलदी मैदा की रेखाओं से सुभूषित किया करें। मनुष्यों को योग्य है कि सब मंगलकार्यों में अपने और पराये कल्याण के लिये यज्ञ द्वारा ईश्वरोपासना करें। इसी लिये निम्नलिखित सुगन्धित आदि द्रव्यों की आहुति यज्ञकुण्ड में देवें।

यज्ञकुण्ड का परिमाण

जो लक्ष आहुति करनी हों तो चार-चार हाथ का चारों ओर समचौरस चौकोण कुण्ड ऊपर और उतना ही गहिरा और चतुर्थांश नीचे अर्थात् तले में एक एक हाथ चौकोण लम्बा चौड़ा रहै। इसी प्रकार जितनी आहुति करनी हों उतना ही गहिरा चौड़ा कुण्ड बनाना, परन्तु अधिक आहुतियों में दो-दो हाथ

अर्थात् दो लक्ष आहुतियों में छः हस्त परिमाण का चौड़ा और समचौरस कुण्ड बनाना।

और जो पचास हजार आहुति देनी हों तो एक हाथ घटावे अर्थात् तीन हाथ गहिरा चौड़ा समचौरस और पौन हाथ नीचे। तथा पच्चीस हजार आहुति देनी हों तो दो हाथ चौड़ा गहिरा समचौरस और आध हाथ नीचे। दश हजार आहुति तक इतना ही, अर्थात् दो हाथ चौड़ा गहिरा समचौरस और आध हाथ नीचे रखना। पाँच हजार आहुति तक डेढ़ हाथ चौड़ा गहिरा समचौरस और साढ़े आठ अंगुल नीचे रहै।

यह कुण्ड का परिमाण विशेष घृताहुति का है। यदि इस में २५०० ढाई हजार आहुति मोहनभोग खीर और २५०० ढाई हजार घृत की देवे तो दो ही हाथ का चौड़ा गहिरा समचौरस और आध हाथ नीचे कुण्ड रक्खे। चाहे घृत की हजार आहुति देनी हों तथापि सवा हाथ से न्यून चौड़ा गहिरा समचौरस और चतुर्थांश नीचे न बनावे और इन कुण्डों में १५ अंगुल की मेखला अर्थात् पांच-पाँच अंगुल की ऊँची ३ तीन बनावे और वे तीन मेखला यज्ञशाला की भूमि के तले से ऊपर करनी। प्रथम पांच अंगुल ऊँची और पाच अंगुल चौड़ी, इसी प्रकार दूसरी और तीसरी मेखला बनावें।

यज्ञ-समिधा

पलाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, आंब बिल्व आदि की समिधा वेदी के प्रमाणे छोटी बड़ी कटवा लेवें। परन्तु ये समिधा कीड़ा लगीं, मलिन देशोत्पन्न और अपवित्र पदार्थ आदि से दूषित न हों अच्छे प्रकार देख लेवें और बराबर और बीच में चुनें।

होम के द्रव्य चार प्रकार

(प्रथम—सुगन्धित) कस्तूरी, केशर, अगर, तगर, श्वेत चन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री आदि। (द्वितीय—पुष्टिकारक) घृत, दूध, फल, कन्द, अन्न, चावल, गेहूँ, उड़द आदि। (तीसरे—मिष्ट) शक्कर, सहत छुहारे, दाख आदि। (चौथे—रोगनाशक) सोमलता अर्थात् गिलोय आदि ओषधियाँ।

स्थालीपाक

नीचे लिखे विधि से भात, खिचड़ी, खीर, लड्डू, मोहनभोग आदि सब उत्तम पदार्थ बनावे। इसका प्रमाण—

ओ३म्। देवस्त्वा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः॥

इस मन्त्र का यह अभिप्राय है कि होम के सब द्रव्य को यथावत् शुद्ध कर लेना अवश्य चाहिये, अर्थात् सब को यथावत् शोध छान देखभाल सुधार कर करें। इन द्रव्यों को यथायोग्य मिला के पाक करना। जैसे कि सेर भर मिश्री के मोहनभोग में रत्ती भर कस्तूरी, मासे भर केशर, दो मासे जायफल, जावित्री, सेर भर मीठा, सब डालकर मोहनभोग बनाना। इसी प्रकार अन्य मीठा भात, खीर, खिचड़ी मोदक आदि होम के लिये बनावें।

चरु अर्थात् होम के लिये पाक बनाने का विधि—

(**ओम् अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि**) अर्थात् जितनी आहुति देनी हों प्रत्येक आहुति के लिये चार-चार मूठी चावल आदि ले के (**ओम् अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि**)॥ अर्थात् अच्छे प्रकार जल से धोके पाकस्थाली में डाल अग्नि से पका लेवे। जब होम के लिये दूसरे पात्र में लेना हो तभी नीचे लिखी आज्यस्थाली वा शाकल्यस्थाली में निकाल के यथावत् सुरक्षित रक्खें और उस पर घृत सेचन करें।

यज्ञपात्र

विशेष कर चांदी अथवा काष्ठ के पात्र होने चाहियें निम्नलिखित प्रमाणे—

अथ पात्रलक्षणान्युच्यन्ते

बाहुमात्र्यः पाणिमात्रपुष्कराः, षडङ्गुलखातास्त्वग्बिला हंसमुखप्रसेकाः, मूलदण्डाश्चतस्रः स्रुचो भवन्ति। तत्र पालाशी जुहूः, आश्वत्थ्युपभृत्, वैकङ्कती ध्रुवा, अग्निहोत्रहवणी च।

अरत्निमात्रः खादिरः स्रुवः, अङ्गुष्ठपर्वमात्रपुष्करः। तथाविधो द्वितीयो वैकङ्कतः स्रुवः।

वारणं बाहुमात्रं मकराकारमग्निहोत्रहवणीनिधानार्थं कूर्चम्।

अरत्निमात्रं खादिरं खड्गाकृति वज्रम्।

वारणान्यहोमसंयुक्तानि। तत्रोलूखलं नाभिमात्रम्, मुसलं शिरोमात्रम्, अथवा मुसलोलखले वार्क्षे सारदारुमये शुभे इच्छाप्रमाणे भवतः। तथा—

खादिरं मुसलं कार्यं पालाशः स्यादुलूखलः।
यद्वोभौ वारणौ कार्यौ तदभावेऽन्यवृक्षजौ॥

शूर्पं वैणवमेव वा, ऐषीकं नलमयं वाऽचर्मबद्धम्।

प्रादेशमात्री वारणी शम्या।

कृष्णाजिनमखण्डम्।

दृषदुपले अश्ममये। वारणीं २४ हस्तमात्रीं, २२ अरत्निमात्रीं वा खातमध्यां मध्यसंगृहीतामिडापात्रीम्।

अरत्निमात्राणि ब्रह्मयजमानहोतृपत्न्यासनानि।

मुञ्जमयं त्रिवृतं व्याममात्रं योक्त्रम्।

प्रादेशदीर्घे अष्टाङ्गुलायते षडङ्गुलखातमण्डलमध्ये पुरोडाशपात्र्यौ।

प्रादेशमात्रं द्व्यङ्गुलपरीणाहं तीक्ष्णाग्रं भृतावदानम्।

आदर्शाकारे चतुरस्रे वा प्राशित्रहरणे। तयोरेकमीषत्खातमध्यम्।

षडङ्गुलकङ्कतिकाकारमुभयतः खातं षडवदात्तम्।

द्वादशाङ्गुलमर्द्धचन्द्राकारमष्टाङ्गुलोत्सेधमन्तर्द्धानकटम्।

उपवेशोऽरत्निमात्रः।

मुञ्जमयी रज्जुः।

खादिरान् द्वादशाङ्गुलदीर्घान् चतुरङ्गुलमस्तकान् तीक्ष्णाग्रान शङ्कून्।

यजमानपूर्णपात्रं पुरुषचतुष्टयाहारपाकपर्याप्तम् ।

समिदिध्मार्थं पलाशशाखामयम् ।

कौशं बर्हिः ।

ऋत्विग्वरणार्थं कुण्डलाङ्गुलीयकवासांसि ।

पत्नीयजमानपरिधानार्थं क्षौमवासश्चतुष्टयम् ।

अग्न्याधेयदक्षिणार्थं चतुर्विंशतिपक्षे एकोनपञ्चाशद् गावः, द्वादशपक्षे पञ्चविंशतिः, षट्पक्षे त्रयोदश, सर्वेषु पक्षेषु आदित्येष्टौ धेनवः । वरार्थं चतस्रो गावः ।
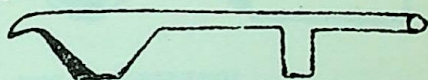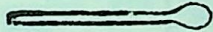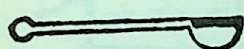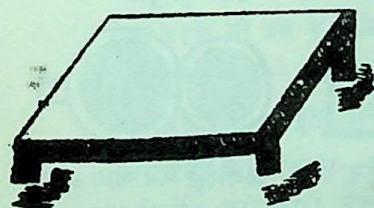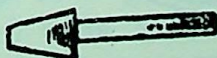
अन्तर्धान १, अं० १२ खांडा अंगुल २४ उपवेष्टी टुकड़ा १८
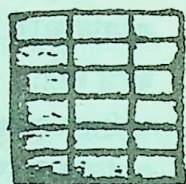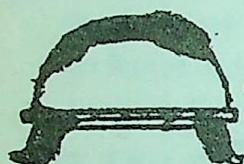
अंगुल ६ पोली अंगुल ४ ऊंची अधरारणी प्राशित्रहरणे दर्पणाकार पिष्टपात्री

अभ्रि १, अं २४ ओखली अं० १२ पात्र अं० १२
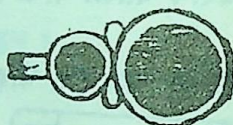
वम्बत्त अं० १२ पुरोडाशपात्री इडा अंगुल १२
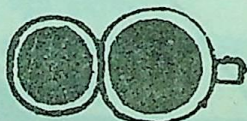
प्रणीता अं० १२ प्रोक्षणी अं० १२ अंगोछा २४ अं० लंबा

मूलेखात दृषद्   उपवेश १, अं० २५   शूर्प

समिध पलाश की १८ हस्त ३ इध्म परिधि ३ पलाश की बाहूमात्र समिधेनी समित् प्रादेशमात्र समीक्षण लेर ५। शाटी १। दृषदुपल १। दीर्घ अंगुल १२ पृ० १५। उखल अं० ६। नेतु व्यास हाथ ४। त्रिवृत्तृण वा गोवाल का ॥

अथ ऋत्विग्वरणम्

यजमानोक्तिः—'ओमावसोः सदने सीद'।

इस मन्त्र का उच्चारण करके ऋत्विज् को कर्म कराने की इच्छा से स्वीकार करने के लिये प्रार्थना करे।

ऋत्विगुक्तिः—'ओं सीदामि'।

ऐसा कहके जो उस के लिये आसन बिछाया हो उस पर बैठे।

यजमानोक्तिः—'अहमद्योक्तकर्मकरणाय भवन्तं वृणे'।

ऋत्विगुक्तिः—'वृतोऽस्मि'।

ऋत्विजों का लक्षण—अच्छे विद्वान्, धार्मिक, जितेन्द्रिय, कर्म करने में कुशल, निर्लोभ, परोपकारी, दुर्व्यसनों से रहित, कुलीन, सुशील, वैदिक मत वाले वेदवित् एक दो तीन अथवा चार का वरण करें।

जो एक हो तो उस का पुरोहित और जो दो हों तो ऋत्विक् पुरोहित और ३ तीन हों तो ऋत्विक् पुरोहित और अध्यक्ष और जो चार हों तो होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा। इन का आसन वेदी के चारों ओर अर्थात्

होता का वेदी से पश्चिम आसन पूर्व मुख, अध्वर्यु का उत्तर आसन दक्षिण मुख, उद्गाता का पूर्व आसन पश्चिम मुख और ब्रह्मा का दक्षिण आसन उत्तर में मुख होना चाहिये और यजमान का आसन पश्चिम में और वह पूर्वाभिमुख अथवा दक्षिण में आसन पर बैठ के उत्तराभिमुख रहै। और इन ऋत्विजों को सत्कारपूर्वक आसन पर बैठाना, और वे प्रसन्नतापूर्वक आसन पर बैठें, और उपस्थित कर्म के विना दूसरा कर्म वा दूसरी बात कोई भी न करें। और—

अपने-अपने जलपात्र से सब जने जो कि यज्ञ करने को बैठे हों वे इन मन्त्रों से तीन-तीन आचमन करें, अर्थात् एक-एक से एक-एक वार आचमन करें, वे मन्त्र ये हैं—

ओं अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ।। इससे एक,
ओं अमृतापिधानमसि स्वाहा ।। इससे दूसरा,

ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ।। ३ ।।

इस से तीसरा आचमन करके, तत्पश्चात् नीचे लिखे मन्त्रों से जल [ले] करके अङ्गों का स्पर्श करे—

ओं वाङ्मऽआस्येऽस्तु ।। इस मन्त्र से मुख,
ओं नसोर्मे प्राणोऽस्तु ।। इस मन्त्र से नासिका के दोनों छिद्र,
ओं अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु ।। इस मन्त्र से दोनों आंखें,
ओं कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु ।। इस मन्त्र से दोनों कान,
ओं बाह्वोर्मे बलमस्तु ।। इस मन्त्र से दोनों बाहु,
ओम् ऊर्वोर्मऽओजोऽस्तु ।। इस मन्त्र से दोनों जंघा, और—
ओम् अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु ।। ७ ।।

इस मन्त्र से दाहिने हाथ से जल स्पर्श करके मार्जन करना। पूर्वोक्त समिधाचयन वेदी में करें। पुनः—

ओं भूर्भुवः स्वः ।।

इस मन्त्र का उच्चारण करके ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य के घर से अग्नि ला अथवा घृत का दीपक जला, उस से कपूर में लगा, किसी एक पात्र में धर

उस में छोटी-छोटी लकड़ी लगा के यजमान वा पुरोहित उस पात्र को दोनों हाथों से उठा, यदि गर्म हो तो चिमटे से पकड़ कर अगले मन्त्र से अग्न्याधान करे। वह मन्त्र यह है—

ओ भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा।
तस्यास्ते पृथिवी देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ॥ १ ॥

य० अ० ३। मं० ५॥

इस मन्त्र से वेदी के बीच में अग्नि को धर उस पर छोटे-छोटे काष्ठ और थोड़ा कपूर धर, अगला मन्त्र पढ़ के व्यजन से अग्नि को प्रदीप्त करे—

ओम् उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते सꣳसृजेथामयं च।
अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥२॥

यजु० अ० १५। मं० ५४॥

जब अग्नि समिधाओं में प्रविष्ट होने लगे तब चन्दन की अथवा ऊपर लिखित पलाशादि की तीन लकड़ी आठ-आठ अंगुल की घृत में डुबा, उन में से एक-एक निकाल नीचे लिखे एक-एक मन्त्र से एक-एक समिधा को अग्नि में चढ़ावें। वे मन्त्र ये हैं—

ओं अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्द्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा॥

इदमग्नये जातवेदसे—इदन्न मम ॥ १॥ इस मन्त्र से एक,

ओं समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।
आस्मिन् हव्या जुहोतन, स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥ २ ॥

इस से और—

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन।
अग्नये जातवेदसे, स्वाहा ॥
इदमग्नये जातवेदसे—इदन्न मम ॥ ३ ॥

इस मन्त्र से अर्थात् इन दोनों मन्त्रों से दूसरी

तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि ।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य, स्वाहा ॥ इदमग्नयेऽङ्गिरसे—इदन्न मम ॥४॥

यजु० अ० ३ । मं० १, २, ३ ॥

इस मन्त्र से तीसरी समिधा की आहुति देवें ।

इन मन्त्रों से समिदाधान करके होम का शाकल्य जो कि यथावत् विधि से बनाया हो, सुवर्ण, चांदी, कांसा आदि धातु के पात्र अथवा काष्ठपात्र में वेदी के पास सुरक्षित धरें । पश्चात् उपरि लिखित घृतादि जो कि उष्ण कर छान पूर्वोक्त सुगन्ध्यादि पदार्थ मिला कर पात्रों में रक्खा हो, उस में से कम से कम ६ मासा भर घृत वा अन्य मोहनभोगादि जो कुछ सामग्री हो अधिक से अधिक छटांक भर की आहुति देवे, आहुति का प्रमाण है ।

उस घृत में से चमसा कि जिस में छः मासा ही धृत आवे ऐसा बनाया हो, भर के नीचे लिखे मन्त्र से पांच आहुति देनी—

ओं अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्द्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा ॥ इदमग्नये जातवेदसे—इदन्न मम ॥

तत्पश्चात् वेदी के पूर्व दिशा आदि और अञ्जलि में जल लेके चारों ओर छिड़कावें । उसके ये मन्त्र हैं—

ओं अदितेऽनुमन्यस्व ॥ इस मन्त्र से पूर्व,
ओं अनुमतेऽनुमन्यस्व ॥ इससे पश्चिम,
ओं सरस्वत्यनुमन्यस्व ॥ इससे उत्तर, और

ओं देव सवितः प्र सुव यज्ञं प्र सुव यज्ञपतिं भगाय ।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥ ४ ॥

यजु० अ० ३० । मं० १ ॥

इस मन्त्र से वेदी के चारों ओर जल छिड़कावे ।

इस के पश्चात् सामान्य होमाहुति गर्भाधानादि प्रधान संस्कारों में अवश्य

करें। इस में मुख्य होम के आदि और अन्त में जो आहुति दी जाती है उन में से यज्ञकुण्ड के उत्तर भाग में जो एक आहुति और यज्ञकुण्ड के दक्षिण भाग में दूसरी आहुति देनी होती है, उस का नाम "आघारावाज्याहुति" कहते हैं। और जो कुण्ड के मध्य में आहुतियां दी जाती हैं, उन का "आज्यभागाहुति" कहते हैं। सो घृतपात्र में से स्रुवा को भर अंगूठा मध्यमा अनामिका से स्रुवा को पकड़ के—

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥ १ ॥

इस मन्त्र से वेदी के उत्तर भाग अग्नि में

ओं सोमाय स्वाहा ॥ इदं सोमाय—इदन्न मम ॥

इस मन्त्र से वेदी के दक्षिण भाग में प्रज्वलित समिधा पर आहुति देनी। तत्पश्चात्—

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये—इदन्न मम ॥ ३ ॥

ओम् इन्द्राय स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय—इदन्न मम ॥ ४ ॥

इन दोनों मन्त्रों से वेदी के मध्य में दो आहुति देनी।

उस के पश्चात् चार आहुति अर्थात् आघारावाज्यभागाहुति देके जब प्रधान होम अर्थात् जिस जिस कर्म में जितना-जितना होम करना हो, करके पश्चात् पूर्णाहुति पूर्वोक्त चार (आघारावाज्यभागा०) देवें, पुनः शुद्ध किये हुए उसी घृतपात्र में से स्रुवा को भर के प्रज्वलित समिधाओं पर व्याहृति की चार आहुति देवें—

ओं भूरग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदं न मम ॥ १ ॥

ओं भुवर्वायवे स्वाहा ॥ इदं वायवे—इदं न मम ॥ २ ॥

ओं स्वरादित्याय स्वाहा ॥ इदमादित्याय—इदं न मम ॥ ३

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्व॥ वाहा ॥ इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः—इदन्न मम ॥ ४ ॥

ये चार घी की आहुति देकर 'स्विष्टकृत् होमाहुति' एक ही है यह घृत की अथवा भात की देनी चाहिए। उस का मन्त्र—

ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत्स्व-

ष्टकृद्विद्यात्सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे। अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्द्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्द्धय स्वाहा ॥ इदमग्नये स्विष्टकृते—इदं न मम ॥

इस से एक आहुति करके 'प्राजापत्याहुति' करें, नीचे लिखे मन्त्र को मन में बोल के देनी चाहिये—

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये—इदं न मम ॥

इस से मौन करके एक आहुति देकर चार आज्याहुति घृत की देवें, परन्तु जो नीचे लिखी आहुति चौल समावर्तन और विवाह में मुख्य हैं, वे चार मन्त्र ये हैं—

ओं भूर्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः।
आरे बाधस्व दुच्छुनां स्वाहा ॥
इदमग्नये पवमानाय–इदन्न मम ॥ १ ॥

ओं भूर्भुवः स्वः। अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः।
तमीमहे महागयं स्वाहा ॥ इदमग्नये पवमानाय–इदन्न मम ॥२॥

ओं भूर्भुवः स्वः। अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम्।
दधद्रयिं मयि पोषं स्वाहा ॥ इदमग्नये पवमानाय–इदन्न मम ॥३॥
ऋ० मं० ६। सू० ६६। मं० १६–२१ ॥

ओं भूर्भुवः स्वः।
प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणां स्वाहा ॥
इदं प्रजापतये–इदन्न मम ॥ ४ ॥ ऋ० मं० १०। सू० १२१। मं० १० ॥

इन से घृत की चार आहुति करके, 'अष्टाज्याहुति' ये निम्नलिखित मन्त्रों से सर्वत्र मङ्गलकार्यों में ८ आठ आहुति देवें। परन्तु किस किस संस्कार

कहाँ-कहां देनी चाहिये, यह विशेष बात उस उस संस्कार में लिखेंगे। वे आठ आहुति-मन्त्र ये हैं—

ओं त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेळोऽवं यासिसीष्ठाः ।
यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषांसि प्र मुमुग्ध्यस्मत् स्वाहा ॥
इदमग्निवरुणाभ्यां—इदन्न मम ॥ १ ॥

ओं स त्वं नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ
अव यक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृळीकं सुहवो न एधि स्वाहा
इदमग्नीवरुणाभ्यां—इदन्न मम ॥२॥ ऋ० मं० ४। सू० १। मं० ४, ५ ॥

ओं इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृळय ।
त्वामवस्युरा चके स्वाहा ॥ इदं वरुणाय—इदन्न मम ॥ ३ ॥
ऋ० मं० १। सू० २५। मं० १६ ॥

ओं तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः ।
अहेळमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्र मोषीः स्वाहा ॥
इदं वरुणाय—इदन्न मम ॥ ४ ॥ ऋ० मं० १। सू० २४। मं० ११ ॥

ओं ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितता महान्तः । तेभिर्नो अद्य सवितोत विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्काः स्वाहा ॥ इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्केभ्यः—इदन्न मम ॥ ५ ॥ ओं अयाश्चाग्नेऽस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्त्वमयाऽसि । अया नो यज्ञं वहास्यया नो धेहि भेषजꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये अयसे—इदन्न मम ॥ ६ ॥

ओं उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम स्वाहा ॥

इदँ वरुणायाऽऽदित्यायाऽदितये च--इदन्न मम ।। ७ ।।

ऋ० मं० १ । सू० २४ । मं० १५ ।।

ओं भवतँ नः समनसौ सचेतसावरेपसौ मा यज्ञꣳहिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः स्वाहा ।। इदं जातवेदोभ्यां--इदन्न मम ।। ८ ।।

य० अ० ५ । मं० ३ ।।

सब संस्कारों में मधुर स्वर से मन्त्रोच्चारण यजमान ही करे। न शीघ्र न विलम्ब से उच्चारण करे, किन्तु मध्य भाग जैसा कि जिस वेद का उच्चारण है, करे। यदि यजमान न पढ़ा हो तो इतने मन्त्र तो अवश्य पढ़ लेवे। यदि कोई कार्यकर्त्ता जड़, मंदमति, काला अक्षर भैंस बराबर जानता हो, तो वह शूद्र है, अर्थात् शूद्र मन्त्रोच्चारण में असमर्थ हो, तो पुरोहित और ऋत्विज् मन्त्रोच्चारण करें और कर्म उसी मूढ़ यजमान के हाथ से करावे।

पुनः निम्नलिखित मन्त्र से पूर्णाहुति करे। स्रुवा को घृत से भर के—

ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा।

इस मन्त्र से एक आहुति देवे। ऐसे दूसरी और तीसरी आहुति देके, जिस को दक्षिणा देनी हो देवे, वा जिस को जिमाना हो जिमा, दक्षिणा देके सब को विदा कर स्त्री पुरुष हुतशेष घृत, भात वा मोहनभोग को प्रथम जीम के, पश्चात् रुचिपूर्वक उत्तमान्न का भोजन करें।

मंगलकार्य

अर्थात् गर्भाधानादि संन्यास संस्कार पर्यन्त पूर्वोक्त और निम्नलिखित सामवेदोक्त वामदेव्यगान अवश्य करें। वे मन्त्र ये हैं—

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
ओं भूर्भुवः स्वः। कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा।

२ ३ १ २ ३ २
कया शचिष्ठया वृता ।। १ ।।

ओं भूर्भुवः स्वः। कस्त्वा सत्यो मदानां मꣳहिष्ठो मत्सदन्धसः।
दृढा चिदारुजे वसु ॥ २ ॥

ओं भूर्भुवः स्वः। अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम्।
शतं भवास्यूतये ॥ ३ ॥

महावामदेव्यम्--काऽ५या। नश्चा३ इत्रा३ आभुवात्। ऊ।
ती सदावृधः स। खा। औ३होहाइ। कया २३ शचाइ।
ष्ठयौहो३। हुम्मा२। वा२र्तो३ऽ५हाइ ॥ (१) ॥

काऽ५स्त्वा। सत्यो३मा३दानाम्। मा। हिष्ठो मात्सादन्ध।
सा। औ३होहाइ। दृढा २३ चिदा। रुजौहो३। हुम्मा२।
वाऽ३सो३ऽ५ हायि ॥ (२)।

आऽ५भी। षु णा३ः सा३खीनाम्। आ। विता जरायितॄ।
णाम्। औ३ हो हायि। शता २३ म्भवा। सियौहो३।
हुम्मा२। ताऽ२ यो३ऽ५हायि ॥ ३ ॥

साम० उत्तरार्च्चिके। अध्याये १। खं० ४। मं० १। २। ३॥

यह वामदेव्यगान होने के पश्चात् गृहस्थ स्त्री पुरुष कार्यकर्त्ता सद्धर्मी लोकप्रिय परोपकारी सज्जन विद्वान् वा त्यागी पक्षपातरहित संन्यासी जो सदा विद्या की वृद्धि और सब के कल्याणार्थ वर्त्तनेवाले हों उन को नमस्कार, आसन,

अन्न, जल, वस्त्र, पात्र, धन, दान आदि के दान से उत्तम प्रकार से यथासामर्थ्य सत्कार करें।

पश्चात् जो कोई देखने ही के लिये आये हों उन को भी सत्कार पूर्वक विदा कर दें। अथवा जो संस्कार क्रिया को देखना चाहें वे पृथक्-पृथक् मौन करके बैठे रहें, कोई बातचीत हल्ला गुल्ला न करने पावें। सब लोग ध्यानावस्थित प्रसन्नवदन रहें। विशेष कर्मकर्त्ता और कर्म करानेवाले शान्ति धीरज और विचारपूर्वक, क्रम से कर्म करें और करावें। यह सामान्यविधि अर्थात् सब संस्कारों में कर्त्तव्य है।

इति सामान्यप्रकरणम् ॥

———

अथ गर्भाधानविधिं वक्ष्यामः

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ॥

मनुस्मृति द्वितीयाध्याये । श्लोकः १६ ।

अर्थ—मनुष्यों के शरीर और आत्मा उत्तम होने के लिये निषेक अर्थात् गर्भाधान से लेके श्मशानान्त अर्थात् अन्त्येष्टि मृत्यु के पश्चात् मृतक शरीर का विधिपूर्वक दाह करने पर्यन्त १६ संस्कार होते हैं।

शरीर का आरम्भ गर्भाधान और शरीर का अन्त भस्म कर देने तक सोलह प्रकार के उत्तम संस्कार करने होते है। उन में से प्रथम गर्भाधान संस्कार है।

गर्भाधान उस को कहते हैं कि जो—"**गर्भस्याऽऽधानं वीर्यस्थापनं स्थिरीकरणं यस्मिन्येन वा कर्मणा तद् गर्भाधानम्**" गर्भ का धारण अर्थात् वीर्य का स्थापन, गर्भाशय में स्थिर करना जिस क्रिया से होता है।

जैसे बीज और क्षेत्र के उत्तम होने से अन्नादि पदार्थ भी उत्तम होते हैं। वैसे उत्तम बलवान् स्त्री पुरुषों से सन्तान भी उत्तम होते हैं। इस से पूर्ण युवावस्था यथावत् ब्रह्मचर्य का पालन और विद्याभ्यास करके अर्थात् न्यून से न्यून १६ सोलह वर्ष की कन्या और २५ पच्चीस वर्ष का पुरुष अवश्य हो, और इस से अधिक वयवाले होने से अधिक उत्तमता होती है।

क्योंकि विना सोलहवें वर्ष के गर्भाशय में बालक के शरीर को यथावत् बढ़ने के लिये अवकाश और गर्भ के धारण पोषण का सामर्थ्य कभी नहीं होता। और २५ पच्चीस वर्ष के विना पुरुष का वीर्य भी उत्तम नहीं होता। इस में यह प्रमाण है—

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडशे।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ॥ १ ॥

सुश्रुते सूत्रस्थाने । अ० ३५ ।

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम् ।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥ २ ॥

जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः ।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥ ३ ॥

सुश्रुते शारीरस्थाने । अ० १० ।

ये सुश्रुत के श्लोक हैं। शरीर की उन्नति वा अवनति की विधि जैसी वैद्यक शास्त्र में है, वैसी अन्यत्र नहीं। जो उस का मूल विधान आगे वेदारम्भ में लिखा जायगा, अर्थात् किस-किस वर्ष में कौन-कौन धातु किस-किस प्रकार का कच्चा वा पक्का वृद्धि वा क्षय को प्राप्त होता है, यह सब वैद्यक शास्त्र में विधान है। इसलिये गर्भाधानादि संस्कारों के करने में वैद्यक शास्त्र का आश्रय विशेष लेना चाहिये।

अब देखिये सुश्रुतकार परम वैद्य कि जिन का प्रमाण सब विद्वान् लोग मानते हैं, वे विवाह और गर्भाधान का समय न्यून से न्यून १६ वर्ष की कन्या और २५ पच्चीस वर्ष का पुरुष अवश्य होवे, यह लिखते हैं। जितना सामर्थ्य पच्चीसवें वर्ष में पुरुष के शरीर में होता है, उतना ही सामर्थ्य १६ सोलहवें वर्ष में कन्या के शरीर में हो जाता है, इस लिये वैद्य लोग पूर्वोक्त अवस्था में दोनों को समवीर्य अर्थात् तुल्य सामर्थ्य वाले जानें ॥ १ ॥

सोलह वर्ष से न्यून अवस्था की स्त्री में २५ वर्ष से कम अवस्था का पुरुष यदि गर्भाधान करता है, तो वह गर्भ उदर में ही बिगड़ जाता है ॥ २ ॥

और जो उत्पन्न भी हो तो अधिक नहीं जीवे, अथवा कदाचित् जीवे भी तो उस के अत्यन्त दुर्बल शरीर और इन्द्रिय हों। इसलिए अत्यन्त बाला अर्थात् सोलह वर्ष की अवस्था से कम अवस्था की स्त्री में कभी गर्भाधान नहीं करना चाहिये ॥

चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता किञ्चित्परिहाणिश्चेति। आषोडशाद्वृद्धिराचतुर्विंशतेर्यौवनमाचत्वारिंशतः सम्पूर्णता ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति ॥

अर्थः—सोलहवें वर्ष से आगे मनुष्य के शरीर के सब धातुओं की वृद्धि और पच्चीसवें वर्ष से युवावस्था का प्रारम्भ, चालीसवें वर्ष में युवावस्था की पूर्णता अर्थात् सब धातुओं की पूर्ण पुष्टि और उससे आगे किञ्चित् धातु वीर्य की हानि होती है अर्थात् ४० चालीसवें वर्ष सब अवयव पूर्ण हो जाते हैं,

पुनः खानपान से जो उत्पन्न वीर्य धातु होता है, वह कुछ-कुछ क्षीण होने लगता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि यदि शीघ्र विवाह करना चाहें तो कन्या १६ सोलह वर्ष की और पुरुष २५ पच्चीस वर्ष का अवश्य होना चाहिये। मध्यम समय कन्या का २० बीस वर्ष पर्य्यन्त और पुरुष का ४० चालीसवां वर्ष और उत्तम समय कन्या का २४ चौबीस वर्ष और पुरुष का ४८ अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त का है।

जो अपने कुल की उत्तमता, उत्तम सन्तान, दीर्घायु, सुशील, बुद्धि बल पराक्रमयुक्त विद्वान् और श्रीमान् करना चाहें, वे १६ सोलहवें वर्ष से पूर्व कन्या और २५ पच्चीसवें वर्ष से पूर्व पुत्र का विवाह कभी न करें। यही सब सुधार का सुधार, सब सौभाग्यों का सौभाग्य और सब उन्नतियों की उन्नति करने वाला कर्म है कि इस अवस्था में ब्रह्मचर्य रखके अपने सन्तानों को विद्या और सुशिक्षा ग्रहण करावें कि जिस से उत्तम सन्तान होवें।

ऋतुदान का काल

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतस्सदा।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया॥ १॥
ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः।
चतुर्भिरितरैः सार्द्धमहोभिः सद्विगर्हितैः॥ २॥
तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः॥ ३॥
युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्त्तवे स्त्रियम्॥ ४॥
पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः।
समे पुमान् पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः॥ ५॥
निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्य्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्॥ ६॥

मनुस्मृतौ अ० ३।

अर्थ—मनु आदि महर्षियों ने ऋतुदान के समय का निश्चय इस प्रकार से किया है कि सदा पुरुष ऋतुकाल में स्त्री का समागम करे, और अपनी स्त्री के बिना दूसरी स्त्री का सर्वदा त्याग रक्खे। वैसे स्त्री भी अपने विवाहित पुरुष को छोड़ के अन्य पुरुषों से सदैव पृथक् रहै। जो स्त्रीव्रत अर्थात् अपनी विवाहित स्त्री ही से प्रसन्न रहता है, जैसे कि पतिव्रता स्त्री अपने विवाहित पुरुष को छोड़ दूसरे पुरुष का संग कभी नहीं करती, वह पुरुष जब ऋतुदान देना हो तब पर्व अर्थात् जो उन ऋतुदान के १६ सोलह दिनों में पौर्णमासी, अमावास्या, चतुर्दशी वा अष्टमी आवे उस को छोड़ देवे। इन में स्त्री पुरुष रतिक्रिया कभी न करें॥ १॥

स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल १६ सोलह रात्रि का है, अर्थात् रजोदर्शन दिन से लेके १६ सोलहवें दिन तक ऋतु समय है। उन में से प्रथम की चार रात्रि, अर्थात् जिस दिन रजस्वला हो, उस दिन से ले के चार दिन निन्दित हैं। प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ रात्रि में पुरुष स्त्री का स्पर्श और स्त्री पुरुष का सम्बन्ध कभी न करे, अर्थात् उस रजस्वला के हाथ का छुआ पानी भी न पीवे। न वह स्त्री कुछ काम करे, किन्तु एकान्त में बैठी रहे, क्योंकि इन चार रात्रियों में समागम करना व्यर्थ और महारोगकारक है। रजः अर्थात् स्त्री के शरीर से एक प्रकार का विकृत उष्ण रुधिर जैसा कि फोड़े में से पीब वा रुधिर निकलता है वैसा है॥ २॥

और जैसे प्रथम की चार रात्रि ऋतुदान देने में निन्दित हैं, वैसे ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रि भी निन्दित हैं। और बाकी रहीं दश रात्रि, सो ऋतुदान देने में श्रेष्ठ हैं॥ ३॥

जिन को पुत्र की इच्छा हो, वे छठी; आठवीं, दशवीं, बारहवीं, चौदहवीं और सोलहवीं ये छः रात्रि ऋतुदान में उत्तम जानें, परन्तु इन में भी उत्तर-उत्तर श्रेष्ठ हैं। और जिन को कन्या की इच्छा हो, वे पांचवीं, सातवीं, नववीं और पन्द्रहवीं ये चार रात्रि उत्तम समझें*। इस से पुत्रार्थी युग्म रात्रियों में ऋतुदान देवे॥ ४॥

---

* रात्रिगणना इस लिये की है कि दिन में ऋतुदान का निषेध है।

पुरुष के अधिक वीर्य होने से पुत्र और स्त्री के आर्त्तव अधिक होने से कन्या, तुल्य होने से नपुंसक पुरुष वा बन्ध्या स्त्री क्षीण और अल्पवीर्य से गर्भ का न रहना वा रह कर गिर जाना होता है ॥ ५ ॥

जो पूर्व निन्दित ८ आठ रात्रि कह आये हैं, उन में जो स्त्री का संग छोड़ देता है, वह गृहाश्रम में वसता हुआ भी ब्रह्मचारी ही कहाता है ॥ ६ ॥

उपनिषदि गर्भलम्भनम् ॥ १ ॥

यह आश्वलायन गृह्यसूत्र का वचन है। जैसा उपनिषद् में गर्भस्थापनविधि लिखा है, वैसा करना चाहिये। अर्थात् पूर्वोक्त समय विवाह करके जैसा कि १६ सोलहवें और २५ पच्चीसवें वर्ष विवाह करके ऋतुदान लिखा है, वही उपनिषद् से भी विधान है ॥ १ ॥

अथ गर्भाधानꣳ स्त्रियाः । पुष्पवत्याश्चतुरहादूर्ध्वꣳस्नात्वा विरुजायास्तस्मिन्नेव दिवा 'आदित्यं गर्भमिति' ॥ २ ॥

यह पारस्कर गृह्यसूत्र का वचन है। ऐसा ही गोभिलीय और शौनक गृह्यसूत्रों में भी विधान है। इस के अनन्तर स्त्री जब रजस्वला होकर चौथे दिन के उपरान्त पाँचवें दिन स्नान करके रजरोगरहित हो, उसी दिन (आदित्यं गर्भमिति) इत्यादि मन्त्रों से जैसा जिस रात्रि में गर्भस्थापन की इच्छा हो, उस से पूर्व दिन में सुगन्धादि पदार्थों सहित पूर्व सामान्यप्रकरण के लिखित प्रमाणे हवन करके निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देनी। यहाँ पत्नी पति के वाम भाग में बैठे और पति वेदी के पश्चिमाभिमुख पूर्व दक्षिण वा उत्तर दिशा में यथाभीष्ट मुख करके बैठे। और ऋत्विज् भी चारों दिशाओं में यथासुख बैठें।

ओम् अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदमग्नये— इदन्न मम ॥ १ ॥

ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं वायवे—इदन्न मम ॥ २ ॥

ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथ-

काम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥
इदं चन्द्राय—इदन्न मम ॥ ३ ॥

ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथ-काम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥
इदं सूर्याय—इदन्न मम ॥ ४ ॥

ओम् अग्निवायुचन्द्रसूर्य्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्ता-मस्या अपहत स्वाहा ॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः—इदन्न मम ॥ ५ ॥

ओम् अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥
इदमग्नये—इदन्न मम ॥ ६ ॥

ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथ-काम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥
इदं वायवे—इदन्न मम ॥ ७ ॥

ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथ-काम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥
इदं चन्द्राय—इदन्न मम ॥ ८ ॥

ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथ-काम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥
इदं सूर्य्याय—इदन्न मम ॥ ९ ॥

ओम् अग्निवायुचन्द्रसूर्य्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा ॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः—इदन्न मम ॥ १० ॥

ओम् अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥
इदमग्नये—इदन्न मम ॥ ११ ॥

ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं वायवे—इदन्न मम ॥ १२ ॥

ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय—इदन्न मम ॥ १३ ॥

ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं सूर्याय—इदन्न मम ॥ १४ ॥

ओम् अग्निवायुचन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्यास्तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा ॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः—इदन्न मम ॥ १५ ॥

ओम् अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा । इदमग्नये—इदन्न मम ॥ १६ ॥

ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं वायवे—इदन्न मम ॥ १७ ॥

ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय—इदन्न मम ॥ १८ ॥

ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकामोम् उपधावामि यास्या अपसव्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं सूर्याय—इदन्न मम ॥ १९ ॥

ओम् अग्निवायुचन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्यास्तनूस्तामस्या

अपहत स्वाहा ।। इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः—इदन्न मम ।। २० ।।

इन बीस मन्त्रों से बीस आहुति देनी*। और बीस आहुति करने से यत्किंचित् घृत बचे, वह कांसे के पात्र में ढांक के रख देवें।

इसके पश्चात् भात की आहुति देने के लिये यह विधि करना, अर्थात् एक चांदी वा कांसे के पात्र में भात रख के, उस में घी, दूध और शक्कर मिला के कुछ थोड़ी देर रख के, जब घृत आदि भात में एकरस हो जाय, पश्चात् नीचे लिखे एक-एक मन्त्र से एक-एक आहुति अग्नि में देवें, और स्रुवा में का शेष आगे धरे हुए कांसे के उदकपात्र में छोड़ता जावे—

ओम् अग्नये पवमानाय स्वाहा ।। इदमग्नये पवमानाय—इदन्न मम ।। १ ।।

ओम् अग्नये पावकाय स्वाहा ।। इदमग्नये पावकाय—इदन्न मम ।। २ ।।

ओम् अग्नये शुचये स्वाहा ।। इदमग्नये शुचये—इदन्न मम ।। ३ ।।

ओं अदित्यै स्वाहा ।। इदमदित्यै—इदन्न मम ।। ४ ।।

ओम् प्रजापतये स्वाहा ।। इदं प्रजापतये—इदन्न मम ।। ५ ।।

ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् । अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्यात्सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे । अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्धय स्वाहा ।। इदमग्नये स्विष्टकृते—इदन्न मम ।। ६ ।।

इन छः मन्त्रों से उस भात की आहुति देवें। तत्पश्चात् पूर्व सामान्य-प्रकरणोक्त २७–२८ पृष्ठ लिखित आठ मन्त्रों से अष्टाज्याहुति देनी। उन ८ आठ मन्त्रों से ८ आठ तथा निम्नलिखित मन्त्रों से भी आज्याहुति देवें—

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु ।
आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते स्वाहा ।। १।।

---

* इन बीस आहुति देते समय वधू अपने दक्षिण हाथ से वर के दक्षिण स्कन्ध पर स्पर्श कर रक्खे ।।

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति ।
गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजा स्वाहा ॥ २ ॥

हिरण्ययी अरणी यं निर्मन्थतो अश्विना ।
तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे स्वाहा ॥ ३ ॥

ऋ० मं० १० । सू० १८४ ॥

रेतो मूत्रं वि जहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियम् ।
गर्भो जरायुणावृत उल्वं जहाति जन्मना ।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु स्वाहा ॥ ४ ॥ यजु० ॥

यत्ते सुसीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् । वेदाहं तन्मां तद्विद्यात् ॥ पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् स्वाहा ॥ ५ ॥ यजुर्वेदे

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे ।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे स्वाहा ॥ ६ ॥

यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतीन् ।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे स्वाहा ॥ ७ ॥

यथेयं पृथिवी मही दाधार पर्वतान् गिरीन् ।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे स्वाहा ॥ ८ ॥

यथेयं पृथिवी मही दाधार विष्ठितं जगत् ।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे स्वाहा ॥ ९ ॥

अथर्व० कां० ६ । सू० १७ ॥

इन ९ मन्त्रों से नव आज्य और मोहनभोग की आहुति दे के, नीचे लिखे मन्त्रों से भी चार घृताहुति देवे—

ओं भूरग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये-इदन्न मम ॥ १ ॥
ओं भुवर्वायवे स्वाहा ॥ इदं वायवे-इदन्न मम ॥ २ ॥
ओं स्वरादित्याय स्वाहा ॥ इदमादित्याय-इदन्न मम ॥ ३ ॥

ओम् अग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ॥ इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः—इदन्न मम ॥ ४ ॥

पश्चात् नीचे लिखे मन्त्रों से घृत की दो आहुति देनी—

ओम् अयास्यग्नेर्वषट्कृतं यत्कर्मणोऽत्यरीरिचं देवा गातुविदः स्वाहा ॥ इदं देवेभ्यो गातुविद्भ्यः—इदन्न मम ॥

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये—इदन्न मम ॥ २ ॥

इन कर्म और आहुतियों के पश्चात् पृष्ठ २५ में लिखे प्रमाणे "**ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं०**" इस मन्त्र से एक स्विष्टकृत् आहुति घृत की देवे।

जो इन मन्त्रों से आहुति देते समय प्रत्येक आहुति के स्रुवा में शेष रहे घृत को आगे धरे हुए कांसे के उदकपात्र में इकट्ठा करते गये हों, जब आहुति हो चुकें तब उस आहुतियों के शेष घृत को वधू लेके स्नान के घर में जाकर, उस घी का पग के नख से लेके शिर पर्यन्त सब अङ्गों पर मर्दन करके स्नान करे। तत्पश्चात् शुद्ध वस्त्र से शरीर पोंछ, शुद्ध वस्त्र धारण करके कुण्ड के समीप आवे। तब दोनों वधू वर कुण्ड की प्रदक्षिणा करके सूर्य का दर्शन करें। उस समय—

ओम् आदित्यं गर्भं पयसा समङ्ग्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम् ।
परिवृङ्ग्धि हरसा माभि मंस्थाः शतायुषं कृणुहि चीयमानः ॥१॥
(यजु० अ० १३ । मं० ४१) ॥

सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात् । अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः ॥२॥

जोषा सवितर्यस्य ते हरः शतं सवाँ अर्हति ।
पाहि नो दिद्युतः पतन्त्याः ॥ ३ ॥

चक्षुर्नो देवः सविता चक्षुर्न उत पर्वतः । चक्षुर्धाता दधातु नः ॥४॥

चक्षुर्नो धेहि चक्षुषे चक्षुर्विख्यै तनूभ्यः । सं चेदं वि च पश्येम ॥५॥

सुसंदृशं त्वा वयं प्रति पश्येम सूर्य । वि पश्येम नृचक्षसः ॥६॥

इन मन्त्रों से परमेश्वर का उपस्थान करके, वधू—

ओं अमुक[1] गोत्रा शुभदा, अमुकदा[2] अहं भो भवन्तमभिवादयामि

ऐसा वाक्य बोल के अपने पति को वन्दन अर्थात् नमस्कार करे। तत्पश्चात् स्वपति के पिता पितामहादि और जो वहाँ अन्य माननीय पुरुष तथा पति की माता तथा अन्य कुटुम्बी और सम्बन्धियों की वृद्ध स्त्रियाँ हों, उन को भी इसी प्रकार वन्दन करे।

इस प्रमाणे वधू वर के गोत्र की हुए अर्थात् वधू पत्नीत्व और वर पतित्व को प्राप्त हुए पश्चात् दोनों पति पत्नी शुभासन पर पूर्वाभिमुख वेदी के पश्चिम भाग में बैठ के वामदेव्यगान करें।

तत्पश्चात् यथोक्त[3] भोजन दोनों जने करें, और पुरोहितादि सब मण्डली को सन्मानार्थ यथाशक्ति भोजन कराके आदर सत्कार पूर्वक सब को विदा करें।

---

(१) इस ठिकाने वर के गोत्र अथवा वर के कुल का नामोच्चारण करे ॥

(२) इस ठिकाने वधू अपना नाम उच्चारण करे ॥

(३) उत्तम सन्तान करने का मुख्य हेतु यथोक्त वधू वर के आहार पर निर्भर है। इस लिये पति पत्नी अपने शरीर आत्मा की पुष्टि के लिये बल और बुद्धि आदि की वर्द्धक सर्वौषधि का सेवन करें। सर्वौषधि ये हैं—

इस के पश्चात् रात्रि में नियत समय पर जब दोनों का शरीर आरोग्य, अत्यन्त प्रसन्न और दोनों में अत्यन्त प्रेम बढ़ा हो, उस समय गर्भाधान क्रिया करनी। गर्भाधान क्रिया का समय प्रहर रात्रि के गये पश्चात् प्रहर रात्रि रहे तक है। जब वीर्य गर्भाशय में जाने का समय आवे, तब दोनों स्थिर शरीर, प्रसन्नवदन, मुख के सामने मुख, नासिका के सामने नासिकादि, सब सूधा शरीर रक्खें। वीर्य का प्रक्षेप पुरुष करे। जब वीर्य स्त्री के शरीर में प्राप्त हो, उस समय अपना पायु मूलेन्द्रिय और योनीन्द्रिय को ऊपर संकोच और वीर्य को खेंच कर स्त्री गर्भाशय में स्थिन करे।

दो खण्ड आंबाहलदी, दूसरी खाने की हलदी, चन्दन, मुरा (यह नाम दक्षिण में प्रसिद्ध है) कुष्ठ, जटामांसी, मोरवेल (यह भी नाम दक्षिण में प्रसिद्ध है), शिलाजित्, कपूर, मुस्ता, भद्रमोथ।

इन सब औषधियों का चूर्ण करके, सब सम भाग लेके, उदुम्बर के काष्ठपात्र में गाय के दूध के साथ मिला उन का दही जमा और उदुम्बर ही के लकड़े की मन्थनी से मन्थन करके उस में से मक्खन निकाल उस को ताय, घृत करके, उस में सुगन्धित द्रव्य केशर, कस्तूरी, जायफल, इलायची, जावित्री मिलाके अर्थात् सेर भर दूध में छटांक भर पूर्वोक्त सर्वौषधी मिला सिद्ध कर, घी हुए पश्चात् एक सेर में एक रत्ती कस्तूरी और एक मासा केशर और एक एक मासा जायफलादि भी मिला के, नित्य प्रातःकाल उस घी में से ४८ पृष्ठ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति ४ और पृष्ठ ६६ में लिखे हुए (विष्णुर्योनिं०) इत्यादि ७ सात मन्त्रों के अन्त में स्वाहा शब्द का उच्चारण करके जिस रात्रि में गर्भस्थापन क्रिया करनी हो उस के दिन में होम करके उसी घी को दोनों जने खीर अथवा भात के साथ मिला के यथारुचि भोजन करें।

इस प्रकार गर्भस्थापन करें तो सुशील. विद्वान्, दीर्घायु, तेजस्वी, सुदृढ़ और नीरोग पुत्र उत्पन्न होवे और यदि कन्या की इच्छा हो तो जल में चावल पका पूर्वोक्त प्रकार घृत गूलर के एक पात्र में जमाए हुए दही के साथ भोजन करने से उत्तम गुणयुक्त कन्या भी होवे। क्योंकि—

तत्पश्चात् थोड़ा ठहर के स्नान करे। यदि शीतकाल हो तो प्रथम केशर, कस्तूरी, जायफल, जावित्री, छोटी इलायची डाल, गर्म कर रक्खे हुए शीतल दूध का यथेष्ट पान करके, पश्चात् पृथक् पृथक् शयन करें। यदि स्त्री पुरुष को ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाय कि गर्भ स्थिर हो गया, तो उसके दूसरे दिन और जो गर्भ रहे का दृढ़ निश्चय न हो तो एक महीने के पश्चात् रजस्वला होने के समय, स्त्री रजस्वला न हो तो निश्चित जानना कि गर्भ स्थित हो गया है।

अर्थात् दूसरे दिन वा दूसरे महीने के प्रारम्भ में निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देवें*—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः ॥

यह छान्दोग्य का वचन है। अर्थात् शुद्ध आहार जो कि मद्य मांसादि रहित घृत, दुग्धादि, चावल, गेहूं आदि के करने से अन्तःकरण की शुद्धि, बल, पुरुषार्थ, आरोग्य और बुद्धि की प्राप्ति होती है। इसलिये पूर्ण युवावस्था में विवाह कर इस प्रकार विधि कर प्रेमपूर्वक गर्भाधान करें तो सन्तान और कुल नित्य प्रति उत्कृष्टता को प्राप्त होते जायें। जब रजस्वला होने के समय में १२-१३ दिन शेष रहें, तब शुक्लपक्ष में १२ दिन तक पूर्वोक्त घृत मिला के इसी खीर का भोजन करके १२ दिन का व्रत भी करें और मिताहारी होकर ऋतु समय में पूर्वोक्त रीति से गर्भाधान क्रिया करें तो अत्युत्तम सन्तान होवें। जैसे सब पदार्थों को उत्कृष्ट करने की विद्या है वैसे सन्तान को उत्कृष्ट करने की यही विद्या है। इस पर मनुष्य लोग बहुत ध्यान देवें, क्योंकि इस के न होने से कुल की हानि, नीचता और होने से कुल की वृद्धि और उत्तमता अवश्य होती है।

* यदि दो ऋतुकाल व्यर्थ जायें अर्थात् दो बार दो महीनों में गर्भाधान क्रिया निष्फल हो जाय, गर्भस्थिति न होवे, तो तीसरे महीने में ऋतुकाल समय जब आवे तब पुष्यनक्षत्रयुक्त ऋतुकाल दिवस में प्रथम प्रातःकाल उपस्थित होवे, तब प्रथम प्रसूता गाय का दही दो मासा और यव के दाणों को सेक के पीस के दो मासा ले के इन दोनों को एकत्र करके पत्नी के हाथ में दे के उस से पति पूछे—"किं पिबसि" इस प्रकार तीन वार पूछे, और स्त्री भी अपने पति

यथा वातः पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वतः ।
एवा ते गर्भ एजतु निरैतु दशमास्यः स्वाहा ॥ १ ॥
यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति ।
एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा स्वाहा ॥ २ ॥
दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि ।
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि स्वाहा ॥ ३ ॥

ऋ० मं० ५ । सू० ७८ । मं० ७ । ८ । ९ ॥

एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह ।
यथायं वायुरेजति यथा समुद्र एजति ।
एवायं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह स्वाहा ॥ १ ॥
यस्यै ते यज्ञियो गर्भो यस्यै योनिर्हिरण्ययी ।
अङ्गान्यहुता यस्य तं मात्रा समजीगमꣳ स्वाहा ॥ २ ॥

यजु० अ० ८ । मं० २८ । २९ ॥

को "पुंसवनम्" इस वाक्य को तीन वार बोल के उत्तर देवे और उस का प्राशन करे। इसी रीति से पुनः पुनः तीन वार विधि करना। तत्पश्चात् सङ्खाहूली वा भटकटाई औषधि को जल में महीन पीस के उस का रस कपड़े में छान के पति पत्नी के दाहिने नाक के छिद्र में सिञ्चन करे। और पति—

ओम् इयमोषधी त्रायमाणा सहमाना सरस्वती ।
अस्या अहं बृहत्याः पुत्रः पितुरिव नाम जग्रभम् ॥

इस मन्त्र से जगन्नियन्ता परमात्मा की प्रार्थना करके यथोक्त ऋतुदान विधि करे। यह सूत्रकार का मत है।

पुमाꣳसौ मित्रावरुणौ पुमाꣳसावश्विनावुभौ ।
पुमानग्निश्च वायुश्च पुमान् गर्भस्तवोदरे स्वाहा ॥ १ ॥
पुमानग्निः पुमानिन्द्रः पुमान्देवो बृहस्पतिः ।
पुमाꣳसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमाननु जायतां स्वाहा ॥ २ ॥

सामवेदे ॥

इन मन्त्रों से आहुति दे कर, पूर्वलिखित सामान्यप्रकरण की शान्त्याहुति दे के, पुनः २८ पृष्ठ में लिखे प्रमाणे पूर्णाहुति देवे ।

पुनः स्त्री के भोजन छादन का सुनियम करे । कोई मादक मद्य आदि, रेचक हरीतकी आदि, क्षार अतिलवणादि, अत्यम्ल अर्थात् अधिक खटाई, रूक्ष चणे आदि तीक्ष्ण अधिक लाल मिर्ची आदि स्त्री कभी न खावे, किन्तु घृत दुग्ध मिष्ट सोमलता अर्थात् गुडूच्यादि ओषधि चावल, मिष्ट, दधि, गेहूं, उर्द, मूंग तुअर आदि अन्न और पुष्टिकारक शाक खावें । उस में ऋतु ऋतु के मशाले गर्मी में ठण्डे सफेद इलायची आदि और शरदी में केशर, कस्तूरी आदि डालकर खाया करें । युक्ताहार विहार सदा किया करें । दूध में सूंठी और ब्राह्मी औषधि का सेवन स्त्री विशेष किया करे । जिस से सन्तान अति बुद्धिमान् रोगरहित शुभ गुण कर्म स्वभाव वाला होवे ॥

इति गर्भाधानविधिः समाप्तः ॥

अथ पुंसवनम्

पुंसवन संस्कार का समय गर्भस्थिति ज्ञान हुए समय से दूसरे वा तीसरे महीने में है। उसी समय पुंसवन संस्कार करना चाहिये, जिस से पुरुषत्व अर्थात् वीर्य का लाभ होवे। यावत् बालक के जन्म हुए पश्चात् दो महीने न बीत जावें, तब तक पुरुष ब्रह्मचारी रहकर स्वप्न में भी वीर्य को नष्ट न होने देवे। भोजन, छादन, शयन, जागरणादि व्यवहार उसी प्रकार से करे जिस से वीर्य स्थिर रहे और दूसरा सन्तान भी उत्तम होवे।

अत्र प्रमाणानि—

पुमाᳬसौ मित्रावरुणौ पुमाᳬसावश्विनावुभौ।
पुमानग्निश्च वायुश्च पुमान् गर्भस्तवोदरे॥ १॥
पुमानग्निः पुमानिन्द्रः पुमान् देवो बृहस्पतिः।
पुमाᳬसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमाननु जायताम्॥ २॥ सामवेदे

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्स्त्रीष्वा भरामसि॥ १॥
पुंसि वै रेतो भवति तत्स्त्रियामनु षिच्यते।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्प्रजापतिरब्रवीत्॥ २॥
प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्यचीक्लृपत्।
स्त्रैषूयमन्यत्र दधत्पुमांसमु दधदिह॥ ३॥

अथर्व० का० ६। सू० ११।

इन मन्त्रों का यही अभिप्राय है कि पुरुष को वीर्यवान् होना चाहिये।

इस में आश्वलायन गृह्यसूत्र का प्रमाण—

अथास्यै मण्डलागारच्छायायां दक्षिणस्यां नासिकायामजीतामोषधीं नस्तः करोति ॥ १ ॥

प्रजावज्जीवपुत्राभ्यां हैके ॥ २ ॥

गर्भ के दूसरे वा तीसरे महीने में वट वृक्ष की जटा वा उस की पत्ती लेके स्त्री को दक्षिण नासापुट से सुंघावे और कुछ अन्य पुष्ट अर्थात् गुड़च जो गिलोय वा ब्राह्मी औषधी खिलावे। ऐसा ही पारस्कर गृह्यसूत्र का प्रमाण है।

अथ पुंसवनं पुरा स्यन्दत इति मासे द्वितीये तृतीये वा ॥ १ ॥

यह पारस्कर गृह्यसूत्र का प्रमाण है।

इस के अनन्तर, पुंसवन उस को कहते हैं जो पूर्व ऋतुदान देकर गर्भस्थिति से दूसरे वा तीसरे महीने में पुंसवन संस्कार किया जाता है।

इसी प्रकार गोभिलीय और शौनक गृह्यसूत्रों में भी लिखा है।

अथ क्रियारम्भः

पृष्ठ ४ से १४ वें पृष्ठ के शान्तिकरण पर्यन्त कहे प्रमाणे (**विश्वानि देव०**) इत्यादि चारों वेदों के मन्त्रों से यजमान और पुरोहितादि ईश्वरोपासना करें और जितने पुरुष वहाँ उपस्थित हों वे भी परमेश्वरोपासना में चित्त लगावें। और पृष्ठ ८ में कहे प्रमाणे स्वस्तिवाचन तथा पृष्ठ ११ में लिखे प्रमाणे शान्तिकरण करके पृष्ठ १५ में लिखे प्रमाणे यज्ञदेश, यज्ञशाला तथा पृष्ठ १५ वें में यज्ञकुण्ड, १६ में यज्ञसमिधा होम के द्रव्य और पाकस्थाली आदि करके और पृष्ठ २४ में लिखे प्रमाणे (**अयन्त इध्म०**) इत्यादि, (**ओम् अदिते०**) इत्यादि ४ चार मन्त्रोक्त कर्म और आघारावाज्यभागाहुति ४ चार तथा व्याहृति आहुति ४ चार और पृष्ठ २६ में (**ओं प्रजापतये स्वाहा**) ॥ १ ॥ पृष्ठ २५ (**ओं यदस्य कर्मणो०**) ॥ २ ॥ लिखे प्रमाणे २ आहुति देकर, नीचे लिखे हुए दोनों मन्त्रों से दो आहुति घृत की देवे—

ओम् आ ते गर्भो योनिमेतु पुमान् बाण इवेषुधिम्।
आ वीरो जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः स्वाहा ॥१॥

ओम् अग्निरेतु प्रथमो देवतानां सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात् ।
तदयं राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयं स्त्री पौत्रमघं न रोदात् स्वाहा ॥२॥

इन दोनों मन्त्रों को बोल के दो आहुति किये पश्चात्, एकान्त में पत्नी के हृदय पर हाथ धर के यह निम्नलिखित मन्त्र पति बोले—

ओं यत्ते सुसीमे हृदये हितवन्तः प्रजापतौ ।
मन्येऽहं मां तद्विद्वांसं माहं पौत्रमघन्नियाम् ॥ १ ॥

तत्पश्चात् पृष्ठ २८-२६ में लिखे प्रमाणे सामवेद का महावामदेव्यगान गा के जो जो पुरुष वा स्त्री संस्कार समय पर आये हों उन को विदा कर दें ।

पुनः वटवृक्ष के कोमल कूपल और गिलोय को महीन बांट, कपड़े में छान, गर्भिणी स्त्री के दक्षिण नासापुट में सुंघावे । तत्पश्चात्—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥

य० अ० १३ । मं० ४ ।

अद्भ्यः संभृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे ।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥ २ ॥

य० अ० ३१ । १७ ॥

इन दोनों मन्त्रों को बोल के पति अपनी गर्भिणी पत्नी के गर्भाशय पर हाथ धर के यह मन्त्र बोले—

सुपर्णोऽसि गरुत्माँस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ ।
स्तोम आत्मा छन्दाᳬंस्यङ्गानि यजूᳬंषि नाम ।
साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः ।
सुपर्णोऽसि गरुत्मान्दिवं गच्छ स्वः पत ॥ १ ॥

य० अ० १२ । मं० ४ ॥

इस के पश्चात् स्त्री सुनियम युक्ताहार विहार करे। विशेष कर गिलोय, ब्राह्मी ओषधी और सूंठी को दूध के साथ थोड़ी थोड़ी खाया करे। और अधिक शयन और अधिक भाषण, अधिक खारा, खट्टा, तीखा, कड़वा, रेचक हरड़े आदि न खावे, सूक्ष्म आहार करे। क्रोध, द्वेष, लोभादि दोषों में न फँसे, चित्त को सदा प्रसन्न रक्खे, इत्यादि शुभाचरण करे ॥

इति पुंसवनसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

अथ सीमन्तोन्नयनम्

अब तीसरा संस्कार सीमन्तोन्नयन कहते हैं जिससे गर्भिणी स्त्री का मन सन्तुष्ट, आरोग्य, गर्भ स्थिर, उत्कृष्ट होवे और प्रतिदिन बढ़ता जावे। इस में आगे प्रमाण लिखते हैं—

चतुर्थे गर्भमासे सीमन्तोन्नयनम् ॥ १ ॥

आपूर्यमाणपक्षे पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युक्तः स्यात् ॥ २ ॥

अथास्यै युग्मेन शलालुग्रप्सेन त्र्येण्या च शलल्या त्रिभिश्च कुशपिञ्जूलैरूर्ध्वं सीमन्तं व्यूहति भूर्भुवः स्वरोमिति त्रिः चतुर्वा ॥

यह आश्वलायनगृह्यसूत्र।

पुंसवनवत्प्रथमे गर्भे मासे षष्ठेऽष्टमे वा ॥

यह पारस्करगृह्यसूत्र का प्रमाण। इसी प्रकार गोभिलीय और शौनकगृह्यसूत्र में भी लिखा है।

अर्थ—गर्भमास से चौथे महीने में, शुक्लपक्ष में जिस दिन मूल आदि पुरुष नक्षत्रों से युक्त चन्द्रमा हो, उसी दिन सीमन्तोन्नयन संस्कार करे। और पुंसवन संस्कार के तुल्य छठे, आठवें महीने में पूर्वोक्त पक्ष नक्षत्रयुक्त चन्द्रमा के दिन सीमन्तोन्नयन संस्कार करें।

इस में प्रथम ४-२४ पृष्ठ तक का विधि करके **(अदितेऽनुमन्यस्व)** इत्यादि पृष्ठ २४ में लिखे प्रमाणे वेदी से पूर्वादि दिशाओं में जल सेचन करके—

ओं देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु स्वाहा ॥ १ ॥ य० अ० ११। मं० ७॥

इस मन्त्र से कुण्ड के चारों ओर जल सेचन करके, आधारावाज्यभागाहुति ४ चार और व्याहृति आहुति ४ चार मिल के ८ आठ आहुति पृष्ठ २५ में लिखे प्रमाणे करके—

ओं प्रजापतये त्वा जुष्टं निर्वपामि ॥

अर्थात् चावल, तिल, मूंग इन तीनों को सम भाग लेके—

ओं प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥

अर्थात् धोके इन की खिचड़ी बना, उस में पुष्कल घी डाल के निम्नलिखित मन्त्रों से ८ आठ आहुति देवें—

ओं धाता द॑दातु दा॒शुषे॒ प्राचीं॑ जी॒वातु॒मक्षि॑ताम् ।
व॒यं दे॒वस्य॑ धीमहि सुम॒तिं वा॒जिनी॑वति॒ स्वाहा॑ ॥
इदं धात्रे--इदन्न मम ॥ १ ॥

ओं धा॒ता प्र॒जाना॑मु॒त रा॒यऽई॑शे धा॒त्रेदं॒ विश्वं॒ भुव॑नं जजान ।
धा॒ता कृ॒ष्टीरनि॑मिषा॒भि च॑ष्टे धा॒त्रऽइद्ध॒व्यं घृ॒तव॑ज्जुहोत॒ स्वाहा॑ ॥
इदं धात्रे--इदन्न मम ॥ २ ॥

ओं रा॒कामहं॑ सु॒हवां॑ सुष्टु॒ती हु॑वे शृ॒णोतु॑ नः सु॒भगा॒ बोध॑तु॒ त्मना॑ ।
सीव्य॒त्वपः॑ सू॒च्याछि॑द्यमानया॒ दद॑ातु वी॒रं श॒तदा॑यमु॒क्थ्यं॒ स्वाहा॑ ॥
इदं राकायै--इदन्न मम ॥ ३ ॥

यास्ते॑ राके सुम॒तयः॑ सु॒पेश॑सो॒ याभि॒र्ददा॑सि दा॒शुषे॒ वसू॑नि ।
ताभि॑र्नो अ॒द्य सु॒मना॑ उ॒पाग॑हि सहस्रपो॒षं सु॑भगे॒ ररा॑णा॒ स्वाहा॑ ॥
इदं राकायै--इदन्न मम ॥ ४ ॥ ऋ० मं० २। सू० ३२। मं० ४। ५॥

नेज॑मेष॒ परा॑ पत॒ सुपु॑त्रः॒ पुन॒राप॑त ।
अ॒स्यै मे॑ पु॒त्रका॑माय॒ गर्भ॒मा धे॑हि॒ यः पु॒मान्स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

यथेयं पृथिवी मह्युत्ताना गर्भमा दधे ।
एवं तं गर्भमा धेहि दशमे मासि सूतवे स्वाहा ॥ ६ ॥
विष्णोः श्रेष्ठेन रूपेणास्यां नार्यां गवीन्याम् ।
पुमांसं पुत्राना धेहि दशमे मासि सूतवे स्वाहा ॥ ७ ॥

इन सात मन्त्रों से खिचड़ी की ७ आहुति देके, पुनः "**प्रजापते न त्व०**" पृष्ठ २६ में लिखित इस से एक, सब मिला के आठ आहुति देवे। और पृष्ठ २६ में लिखे प्रमाणे "**ओं प्रजापतये०**" मन्त्र से एक भात की, और पृष्ठ २५ में लिखे प्रमाणे "**ओं यदस्य कर्मणो०**" मन्त्र से एक खिचड़ी की आहुति देवे।

तत्पश्चात् "**ओं त्वन्नो अग्ने०**" पृष्ठ २७ में लिखे प्रमाणे ८ आठ घृत की आहुति, और "**ओं भूरग्नये**" पृष्ठ २५ में लिखे प्रमाणे ४ चार व्याहृति मन्त्रों से चार आज्याहुति देकर, पति और पत्नी एकान्त में जा के उत्तमासन पर बैठ पति पत्नी के पश्चात् पृष्ठ की ओर बैठ—

ओं सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु । दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ १ ॥

यजु० अ० ६ । मं० २२ ॥

मूर्द्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम् ।
कविꣳ सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ॥२॥

यजु० अ० ७ । मं० २४ ॥

ओम् अयमूर्ज्जावतो वृक्ष ऊर्ज्जीव फलिनी भव ।
पर्णं वनस्पते नु त्वा नु त्वा सूयताꣳ रयिः ॥ ३ ॥
ओं येनादितेः सीमानं नयति प्रजापतिर्महते सौभगाय ।
तेनाहमस्यै सीमानं नयामि प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोमि ॥ ४ ॥
ओं राकामहꣳ सुहवाꣳ सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना ।
सीव्यत्वपः सूच्या च्छिद्यमानया ददातु वीरꣳ शतदायमुक्थ्यम् ॥५॥

ओं यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि। ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषं सुभगे रराणा ॥ ६ ॥

किं पश्यसि प्रजां पशून्त्सौभाग्यं मह्यं दीर्घायुष्ट्वं पत्युः ॥ ७ ॥

इन मन्त्रों को पढ़ के पति अपने हाथ से स्वपत्नी के केशों में सुगन्ध तैल डाल कंघे से सुधार, हाथ में उदुम्बर अथवा अर्ज्जुन वृक्ष की शलाका वा कुशा की मृदु छीपी वा शाही पशु के कांटे से अपनी पत्नी के केशों को स्वच्छ कर, पट्टी निकाल और पीछे की ओर जूड़ा सुन्दर बांधकर यज्ञशाला में आवे। उस समय वीणा आदि बाजे बजवावें। तत्पश्चात् पृष्ठ २८-२९ में लिखे प्रमाणे सामवेद का गान करें। पश्चात्—

ओं सोम एव नो राजेमा मानुषीः प्रजाः।
अविमुक्तचक्र आसीरंस्तीरे तुभ्यम् असौ[1] ॥

आरम्भ में इस मन्त्र का गान करके पश्चात् अन्य मन्त्रों का गान करें। तत्पश्चात् पूर्व आहुतियों के देने से बची हुई खिचड़ी में पुष्कल घृत डाल के गर्भिणी स्त्री अपना प्रतिबिम्ब उस घी में देखे।

उस समय पति स्त्री से पूछे—"**किं पश्यसि ?**"

स्त्री उत्तर देवे—"**प्रजां पश्यामि**"

तत्पश्चात् एकान्त में वृद्ध कुलीन सौभाग्यवती, पुत्रवती गर्भिणी अपने कुल की और ब्राह्मणों की स्त्रियां बैठें, प्रसन्नवदन और प्रसन्नता की बातें करें, और वह गर्भिणी स्त्री उस खिचड़ी को खावे और वे वृद्ध, समीप बैठी हुई उत्तम स्त्री लोग ऐसा आशीर्वाद देवें—

ओं वीरसूस्त्वं भव, जीवसूस्त्वं भव, जीवपत्नी त्वं भव।

ऐसे शुभ मांगलिक वचन बोले। तत्पश्चात् संस्कार में आये हुए मनुष्यों का यथायोग्य सत्कार करके स्त्री स्त्रियों को और पुरुष पुरुषों को विदा करें।

इति सीमन्तोन्नयनसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

---

१. यहां किसी नदी का नामोच्चारण करें।

अथ जातकर्मसंस्कारविधिः

इस का समय और प्रमाण और कर्मविधि इस प्रकार करें—

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति।

इत्यादि पारस्कर गृह्यसूत्र का प्रमाण है। इसी प्रकार आश्वलायन, गोभिलीय और शौनकगृह्यसूत्रों में भी लिखा है।

जब प्रसव होने का समय आवे तब निम्नलिखित मन्त्र से गर्भिणी स्त्री के शरीर पर जल से मार्जन करे—

ओम् एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह।
यथायं वायुरेजति यथा समुद्र एजति।
एवायं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह॥

इससे मार्जन करने के पश्चात्—

ओम् अवैतु पृश्निशेवलꣳशुने जराय्वत्तवे। नैव माꣳसेन पीवरीं न कस्मिंश्चनायतनमव जरायु पद्यताम्॥

इस मन्त्र का जप करके पुनः मार्जन करे।

कुमारं जातं पुराऽन्यैरालम्भात् सर्पिर्मधुनी हिरण्यनिकाषं हिरण्ययेन प्राशयेत्॥

जब पुत्र का जन्म होवे तब प्रथम दायी आदि स्त्री लोग बालक के शरीर का जरायु पृथक् कर मुख, नासिका, कान, आंख आदि में से मल को शीघ्र दूर कर कोमल वस्त्र से पोंछ शुद्ध कर पिता के गोद में बालक को देवे।

पिता जहां वायु और शीत का प्रवेश न हो वहां बैठ के एक बीता भर नाड़ी को छोड़ ऊपर सूत से बांध के उस बन्धन के ऊपर से नाड़ी छेदन करके किञ्चित् उष्ण जल से बालक को स्नान करा, शुद्ध वस्त्र से पूंछ, नवीन शुद्ध वस्त्र पहिना, जो प्रसूता घर के बाहर पूर्वोक्त प्रकार कुण्ड कर रक्खा हो अथवा ताम्बे के कुण्ड में समिधा पूर्वलिखित प्रमाणे चयन कर, पूर्वोक्त सामान्यविध्युक्त

पृष्ठ २२–२३ में कहे प्रमाणे अग्न्याधान, समिदाधान कर, अग्नि को प्रदीप्त करके, सुगन्धित घृतादि वेदी के पास रख के, हाथ पग धोके, एक पीठासन अर्थात् शुभासन पुरोहित[1] के लिये कुण्ड के दक्षिणभाग में रक्खे, उस पर उत्तराभिमुख बैठे।

और यजमान अर्थात् बालक का पिता हाथ पग धोके वेदी के पश्चिम भाग में आसन बिछा उस पर उपवस्त्र ओढ़ के पूर्वाभिमुख बैठे तथा सब सामग्री अपने और पुरोहित के पास रख के पुरोहित पद के स्वीकार के लिये बोले—

ओम् आ वसोः सदने सीद ॥

तत्पश्चात् पुरोहित—**ओं सीदामि ॥**

बोल के आसन पर बैठ के पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे "**अयन्त इध्म॰**" ३ मन्त्रों से वेदी में चन्दन की समिदाधान करे। और प्रदीप्त समिधा पर पूर्वोक्त सिद्ध किये घी की पृष्ठ २५ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और व्याहृति आहुति ४ चार दोनों मिल के आठ आज्याहुति देनी।

तत्पश्चात्—

ओं या तिरश्ची निपद्यते अहं विधरणी इति। तां त्वा घृतस्य धारया यजे सꣳराधनीमहम्। सꣳराधिन्यै देव्यै देष्ट्र्यै स्वाहा ॥ इदं संराधिन्यै—इदन्न मम ॥

ओं विपश्चित्पुच्छमभरत्तद्धाता पुनराहरत्। परेहि त्वं विपश्चित्पुमानयं जनिष्यतेऽसौ नाम स्वाहा ॥ इदं धात्रे इदन्न मम ॥

इन दोनों मन्त्रों से दो आज्याहुति करके पृष्ठ २८-२९ में लिखे प्रमाणे वामदेव्य गान करके, ४–१४ पृष्ठ में लिखे प्रमाणे ईश्वरोपासना करे।

तत्पश्चात् घी और मधु दोनों बराबर मिला के जो प्रथम सोने की शलाका कर रक्खी हो उस से बालक की जीभ पर—'**ओ३म्**' यह अक्षर लिख के उस के

---

१. पुरोहित—धर्मात्मा, शास्त्रोक्त विधि को पूर्णरीति से जाननेहारा, विद्वान्, सद्धर्मी, कुलीन, निर्व्यसनी, सुशील, वेदप्रिय, पूजनीय, सर्वोपकारी गृहस्थ की पुरोहित संज्ञा है।

दक्षिण कान में "वेदोसीति"[1] तेरा गुप्त नाम वेद है, ऐसा सुना के पूर्व मिलाये हुए घी और मधु को उस सोने की शलाका से बालक को नीचे लिखे मन्त्र से थोड़ा थोड़ा चटावे —

ओं प्र ते ददामि मधुनो घृतस्य वेद सवित्रा प्रसूतं मघोनाम् ।
आयुष्मान् गुप्तो देवताभिः शतं जीव शरदो लोके अस्मिन् ॥ १ ॥

ओं भूस्त्वयि दधामि ॥ २ ॥ ओं भुवस्त्वयि दधामि ॥ ३ ॥ ओं स्वस्त्वयि दधामि ॥ ४ ॥ ओं भूर्भुवः स्वस्सर्वं त्वयि दधामि ॥ ५ ॥

ओं सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
सनिं मेधामयासिषᳪं स्वाहा ॥ ६ ॥

इन प्रत्येक मन्त्रों से छः बार घृत मधु प्राशन कराके, तत्पश्चात् चावल और जव को शुद्ध कर पानी से पीस वस्त्र से छान एक पात्र में रख के, हाथ के अंगूठा और अनामिका से थोड़ा सा ले के—

ओम् इदमाज्यमिदमन्नमिदमायुरिदममृतम् ॥

इस मन्त्र को बोल के बालक के मुख में एक बिन्दु छोड़ देवे । यह एक गोभिलीय गृह्यसूत्र का मत है सब का नहीं ।

पश्चात् बालक का पिता बालक के दक्षिण कान में मुख लगा के निम्न-लिखित मन्त्र बोले :—

ओं मेधां ते देवः सविता मेधां देवी सरस्वती ।
मेधां ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥ १ ॥

ओम् अग्निरायुष्मान् स वनस्पतिभिरायुष्माँस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि ॥ २ ॥

ओं सोम आयुष्मान् स ओषधीभिरायुष्माँस्तेन०* ॥ ३ ॥
ओं ब्रह्मऽऽआयुष्मत् तद् ब्राह्मणैरायुष्मत्तेन० ॥ ४ ॥

---

* यहाँ पूर्व मन्त्र का शेष भाग (त्वा) इत्यादि उत्तर मन्त्रों के पश्चात् बोले ।

ओं देवा आयुष्मन्तस्तेऽमृतेनायुष्मन्तस्तेन० ॥ ५ ॥

ओम् ऋषय आयुष्मन्तस्ते व्रतैरायुष्मन्तस्तेन० ॥ ६ ॥

ओं पितर आयुष्मन्तस्ते स्वधाभिरायुष्मन्तस्तेन० ॥ ७ ॥

ओं यज्ञ आयुष्मान् स दक्षिणाभिरायुष्मांस्तेन० ॥ ८ ॥

ओं समुद्र आयुष्मान् स स्रवन्तीभिरायुष्माँस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि ॥ ९ ॥

इन नव मंत्रों का जप करे। इसी प्रकार बायें कान पर मुख ध र ये ही नव मन्त्र पुनः जपे। इस के पीछे बालक के कन्धों पर कोमल स्पर्श से हाथ धर अर्थात् बालक के स्कन्धों पर हाथ का बोझ न पड़े, धर के निम्नलिखित मन्त्र बोले—

ओम् इन्द्र श्रेष्ठा॑नि द्रवि॑णानि धेहि चित्तिं दक्ष॑स्य सुभगत्वम॒स्मे।
पोषंꣳ रयीणामरि॑ष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सु॑दिनत्वमह्ना॑म् ॥१॥

अस्मे प्र य॑न्धि मघवन्नृजीषिन्निन्द्र॑ रायो विश्ववा॑रस्य भूरेः।
अस्मे शतं शरदो जीवसे॑ धा अस्मे वीराञ्छश्व॑त इन्द्र शिप्रिन् ॥२॥

ओम् अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव।
वेदो वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥ ३ ॥

इन तीनों मन्त्रों को बोले। तत्पश्चात्—

त्र्यायुषं जमद॑ग्नेः कश्यप॑स्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु॑ त्र्यायुषं तन्नो॑ अस्तु त्र्यायुषम् ॥ १ ॥

इस मन्त्र का तीन वार जप करे।

तत्पश्चात् बालक के स्कन्धों पर से हाथ उठा ले और जिस जगह पर बालक का जन्म हुआ हो, वहाँ जा के—

ओं वेद ते भूमि हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदाहं तन्मां

तद्विद्यात्पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतम् ॥ १ ॥

इस मन्त्र का जप करे। तथा—

यत्ते सुसीमे हृदयꣳ हितमन्तः प्रजापतौ।
वेदाहं मन्ये तद्ब्रह्म माहं पौत्रमघं निगाम् ॥
यत्पृथिव्या अनामृतं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्।
वेदामृतस्येह नाम माहं पौत्रमघꣳ रिषम् ॥ ३ ॥
इन्द्राग्नी शर्म यच्छतं प्रजापती।
यथायं न प्रमीयते पुत्रो जनित्र्या अधि ॥ ४ ॥
यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयꣳ श्रितम्।
तदहं विद्वाꣳस्तत्पश्यन् माहं पौत्रमघꣳ रुदम् ॥ ५ ॥

इन मन्त्रों को पढ़ता हुआ सुगन्धित जल से प्रसूता के शरीर का मार्जन करे।

• कोऽसि कतमोऽस्येषोऽस्यमृतोऽसि।
आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ ॥ ६ ॥

स त्वाह्ने परिददात्वहस्त्वा रात्र्यै परिददातु रात्रिस्त्वाहोरात्राभ्यां परिददात्वहोरात्रौ त्वार्द्धमासेभ्यः परिदत्तामर्द्धमासास्त्वा मासेभ्यः परिददतु मासास्त्वर्तुभ्यः परिददत्वृतवस्त्वा संवत्सराय परिददतु संवत्सरस्त्वायुषे जरायै परिददात्वसौ ॥ ७ ॥

इन मन्त्रों को पढ़ के बालक को आशीर्वाद देवे। पुनः—

अङ्गादङ्गात्सꣳस्रवसि हृदयादधिजायसे।
प्राणं ते प्राणेन सं दधामि जीव मे यावदायुषम् ॥ ८ ॥

अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधिजायसे।
वेदो वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥ ९ ॥

अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव।
आत्मासि पुत्र मा मृथाः स जीव शरदः शतम् ॥ १० ॥

पशूनां त्वा हिङ्कारेणाभिजिघ्राम्यसौ ॥ ११ ॥

इन मन्त्रों को पढ़ के पुत्र के शिर का आघ्राण करे, अर्थात् सूंघे। इसी प्रकार जब-जब परदेश से आवे वा जावे तब-तब भी इस क्रिया को करे, जिस से पुत्र और पिता माता में अति प्रेम बढ़े।

ओम् इडासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनथाः।
सा त्वं वीरवती भव याऽस्मान्वीरवतोऽकरत् ॥ १ ॥

इस मन्त्र से ईश्वर की प्रार्थना करके प्रसूता स्त्री को प्रसन्न करके पश्चात् स्त्री के दोनों स्तन किञ्चित् उष्ण सुगन्धित जल से प्रक्षालन कर पोंछ के—

ओम् इमꣳ स्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये।
उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियꣳ सदनमाविशस्व ॥ १ ॥

इस मन्त्र को पढ़ के दक्षिण स्तन प्रथम बालक के मुख में देवें। इस के पश्चात्—

ओं यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे कः ॥ १ ॥

इस मन्त्र को पढ़ के वाम स्तन बालक के मुख में देवे। तत्पश्चात्—

ओम् आपो देवेषु जागृथ यथा देवेषु जागृथ।
एवमस्याꣳ सूतिकायाꣳ सपुत्रिकायां जागृथ ॥ १ ॥

इस मन्त्र से प्रसूता स्त्री के शिर की ओर एक कलश जल से पूर्ण भर के दश रात्रि तक वहीं धर रक्खे तथा प्रसूता स्त्री प्रसूत स्थान में दश दिन तक रहे। वहाँ नित्य सायं और प्रातःकाल सन्धिवेला में निम्नलिखित दो मन्त्रों से भात और सरसों मिला के दश दिन तक बराबर आहुतियाँ देवे—

ओं शण्डामर्का उपवीरः शौण्डिकेय उलूखलः।
मलिम्लुचो द्रोणासश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा ॥
इदं शण्डामर्काभ्यामुपवीराय शौण्डिकेयायोलूखलाय
मलिम्लुचाय द्रोणेभ्यश्च्यवनाय—इदं न मम ॥ १ ॥

ओम् आलिखन्ननिमिषः किंवदन्त उपश्रुतिर्हर्यक्षः कुम्भीशत्रुः पात्रपाणिर्नृमणिर्हन्त्रीमुखः सर्षपारुणश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा ॥

इदमालिखतेऽनिमिषाय किंवदद्भ्य उपश्रुतये हर्यक्षाय कुम्भीशत्रवे पात्रपाणये नृमणये हन्त्रीमुखाय सर्षपारुणाय च्यवनाय—इदं न मम ॥ २ ॥

इन मन्त्रों से १० दिन तक होम करके, पश्चात् अच्छे-अच्छे विद्वान् धार्मिक वैदिक मत वाले बाहर खड़े रहकर और बालक का पिता भीतर रहकर आशीर्वादरूपी नीचे लिखे मन्त्रों का पाठ आनन्दित होके करें—

मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्तन्वस्तनूजाः ।
अमर्त्या मर्त्यां अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः ॥१॥

अथर्व० कां० ६ । अनु० ४ । सू० ४१ ॥

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम् ।
शतं जीवन्तः शरदः पुरूचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥२॥

अथर्व० कां० १२ । अ० २ । मं० २३ ॥

विवस्वान्नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामा जीरदानुः सुदानुः ।
इहेमे वीरा बहवो भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम् ॥ ३ ॥

अथर्व कां० १८ । अनु० ३ । मं० ६१ ॥

इति जातकर्मसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

अथ नामकरणसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

अत्र प्रमाणम्—नाम चास्मै दद्युः ॥ १ ॥

घोषवदाद्यन्तःस्थमभिनिष्ठानान्तं द्व्यक्षरम् ॥ २ ॥

चतुरक्षरं वा ॥ ३ ॥

द्व्यक्षरं प्रतिष्ठाकामश्चतुरक्षरं ब्रह्मवर्चसकामः ॥ ४ ॥

युग्मानि त्वेव पुंसाम् ॥ ५ ॥

अयुजानि स्त्रीणाम् ॥ ६ ॥

अभिवादनीयं च समीक्षेत तन्मातापितरौ विदध्यातामोपनयनात् ॥ ७ ॥ इत्याश्वलायनगृह्यसूत्रेषु ॥

तथा पारस्कर गृह्यसूत्र—

दशम्यामुत्थाप्य पिता नाम करोति ॥ १ ॥ द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा। घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थं दीर्घाभिनिष्ठानान्तं कृतं कुर्यान्न तद्धितम् ॥ २ ॥ अयुजाक्षरमाकारान्तꣳ स्त्रियै ॥ ३ ॥ शर्म ब्राह्मणस्य वर्म क्षत्रियस्य गुप्तेति वैश्यस्य ॥ ४ ॥

इसी प्रकार गोभिलीय और शौनक गृह्यसूत्र में भी लिखा है। 'नामकरण' अर्थात् जन्मे हुए बालक का सुन्दर नाम धरे।

नामकरण का काल—जिस दिन जन्म हो, उस दिन से ले के १० दिन छोड़ ११ में, वा १०१ एक सौ एक वें अथवा दूसरे वर्ष के आरम्भ में जिस दिन जन्म हुआ हो, नाम धरे।

जिस दिन नाम धरना हो उस दिन अति प्रसन्नता से इष्ट मित्र हितैषी लोगों को बुला यथावत् सत्कार कर, क्रिया का आरम्भ यजमान बालक का पिता और ऋत्विज करें।

पुनः पृष्ठ ४–२९ में लिखे प्रमाणे सब मनुष्य ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण और सामान्यप्रकरणस्थ संपूर्ण विधि करके आघारावाज्य-

भागाहुति ४ चार और व्याहृति आहुति ४ चार और पृष्ठ २७ में लिखे प्रमाणे "त्वं नो अग्ने" इत्यादि आठ मन्त्रों से ८ आठ आहुति अर्थात् सब मिलाके १६ घृताहुति करें।

तत्पश्चात् बालक को शुद्ध स्नान करा शुद्ध वस्त्र पहिना के उस की माता कुण्ड के समीप बालक के पिता के पीछे से आ दक्षिण भाग में होकर, बालक का मस्तक उत्तर दिशा में रख के, बालक के पिता के हाथ में देवे और स्त्री पुनः उसी प्रकार पति के पीछे होकर उत्तर भाग में पूर्वाभिमुख बैठे।

तत्पश्चात् पिता उस बालक को उत्तर में शिर और दक्षिण में पग करके अपनी पत्नी को देवे। पश्चात् जो उसी संस्कार के लिये कर्त्तव्य हो, उस प्रथम प्रधान होम को करे। पूर्वोक्त प्रकार घृत और सब साकल्य सिद्ध कर रक्खे उसमें से प्रथम घी का चमचा भर के—

"ओं प्रजापतये स्वाहा।"

इस मन्त्र से एक आहुति देकर, पीछे जिस तिथि जिस नक्षत्र में बालक का जन्म हुआ हो उस तिथि और उस नक्षत्र का नाम लेके, उस तिथि और उस नक्षत्र के देवता के नाम से ४ चार आहुति देनी।

अर्थात् एक तिथि, दूसरी तिथि के देवता, तीसरी नक्षत्र और चौथी नक्षत्र के देवता के नाम से, अर्थात् तिथि नक्षत्र और उनके देवताओं के नाम के अन्त में चतुर्थी विभक्ति का रूप और स्वाहान्त बोल के ४ चार घी की आहुति देवे। जैसे किसी का जन्म प्रतिपदा और अश्विनी नक्षत्र में हुआ हो, तो—

ओं प्रतिपदे स्वाहा। ओं ब्रह्मणे स्वाहा। ओं अश्विन्यै स्वाहा। ओम् अश्विभ्यां स्वाहा* ॥

---

* **तिथि देवता :** १—ब्रह्मन्। २—त्वष्टृ। ३—विष्णु। ४—यम। ५—सोम। ६—कुमार। ७—मुनि। ८—वसु। ९—शिव। १०—धर्म। ११—रुद्र। १२—वायु। १३—काम। १४—अनन्त। १५—विश्वेदेव। ३०—पितर।

नक्षत्र देवता : अश्विनी—अश्वी। भरणी—यम। कृत्तिका—अग्नि। रोहिणी—प्रजापति। मृगशीर्ष—सोम। आर्द्रा—रुद्र। पुनर्वसु—अदिति।

तत्पश्चात् पृष्ठ २५ में लिखी हुई स्विष्टकृत् मन्त्र से एक आहुति और पृष्ठ २५-२६ में लिखे प्रमाणे ४ चार व्याहृति आहुति, दोनों मिल के ५ आहुति देके, तत्पश्चात् माता बालक को लेके शुभ आसन पर बैठें और पिता बालक के नासिका द्वार से बाहर निकलते हुए वायु का स्पर्श करके—

कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि ।
यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम ।
भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याथं सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः ॥

य० अ० ७ । मं० २९ ॥

ओं कोऽसि कतमोऽस्येषोऽस्यमृतोऽसि । आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ ॥

जो यह "असौ" पद है, इस के पीछे बालक का ठहराया हुआ नाम, अर्थात् जो पुत्र हो तो नीचे लिखे प्रमाणे दो अक्षर का वा चार अक्षर का, घोषसंज्ञक और अन्तःस्थ वर्ण अर्थात् पाँचों वर्गों के दो-दो अक्षर छोड़ के तीसरा, चौथा, पाँचवां और य, र, ल, व ये चार वर्ण नाम में अवश्य आवें❀ ।

पुष्य—बृहस्पति । आश्लेषा—सर्प । मघा—पितृ । पूर्वाफाल्गुनी—भग । उत्तराफाल्गुनी—अर्यमन् । हस्त—सवितृ । चित्रा—त्वष्टृ । स्वाति—वायु । विशाखा—इन्द्राग्नी । अनुराधा—मित्र । ज्येष्ठा—इन्द्र । मूल—निर्ऋति । पूर्वाषाढा—अप् । उत्तराषाढा—विश्वेदेव । श्रवण—विष्णु । धनिष्ठा—वसु । शतभिषज्—वरुण । पूर्वाभाद्रपदा—अजपाद् । उत्तराभाद्रपदा—अहिर्बुध्न्य । रेवती—पूषन् ॥

❀ ग, घ, ङ, ज, झ, ञ, ड, ढ, ण, द, ध, न, ब, भ, म, ये स्पर्श और य, र, ल, व ये चार अन्तःस्थ और ह एक ऊष्मा, इतने अक्षर नाम में होने चाहिये और स्वरों में से कोई भी स्वर हो । जैसे (भद्रः, भद्रसेनः, देवदत्तः, भवः, भवनाथः, नागदेवः, रुद्रदत्तः, हरिदेवः) इत्यादि पुरुषों का समाक्षर नाम रखना चाहिये तथा स्त्रियों का विषमाक्षर नाम रक्खे । अन्त्य में दीर्घ स्वर और तद्धितान्त भी होवे—जैसे (श्रीः, ह्रीः, यशोदा, सुखदा, गान्धारी, सौभाग्यवती, कल्याणक्रोडा) इत्यादि । परन्तु स्त्रियों के जिस प्रकार के नाम कभी न रक्खे, उसमें प्रमाण :—

जैसे देव अथवा जयदेव, ब्राह्मण हो तो देवशर्म्मा, क्षत्रिय हो तो देववर्मा वैश्य हो तो देवगुप्त और शूद्र हो तो देवदास इत्यादि। और जो स्त्री हो तो एक, तीन वा पाँच अक्षर का नाम रक्खे—श्री, ह्री, यशोदा, सुखदा, सौभाग्य-प्रदा इत्यादि नामों को प्रसिद्ध बोल के, पुनः "असौ" पद के स्थान में बालक का नाम धर के, पुनः "ओं कोऽसि०" ऊपर लिखित मन्त्र बोलना—

ओं स त्वाह्ने परिददात्वहस्त्वा रात्र्यै परिददातु रात्रिस्त्वा-होरात्राभ्यां परिददात्वहोरात्रौ त्वार्द्धमासेभ्यः परिदत्तामर्द्धमासास्त्वा मासेभ्यः परिददतु मासास्त्वर्त्तुभ्यः परिददत्वृतवस्त्वा संवत्सराय परिददतु संवत्सरस्त्वायुषे जरायै परिददातु, असौ ॥

इन मन्त्रों से बालक को जैसा जातकर्म में लिख आये हैं वैसे आशीर्वाद देवे। इस प्रमाणे बालक का नाम रख के संस्कार में आये हुए मनुष्यों को वह नाम सुना के पृष्ठ २८–२९ में लिखे प्रमाणे महावामदेव्यगान करे।

तत्पश्चात् कार्यार्थ आये हुए मनुष्यों को आदर सत्कार करके विदा करे। और सब लोग जाते समय पृष्ठ ४–१४ में लिखे प्रमाणे परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थनोपासना करके बालक को आशीर्वाद देवें कि—

"हे बालक ! त्वमायुष्मान् वर्च्चस्वी तेजस्वी श्रीमान् भूयाः।"

हे बालक ! तू आयुष्मान्, विद्यावान्, धर्मात्मा, यशस्वी, पुरुषार्थी, प्रतापी, परोपकारी श्रीमान् हो॥

इति नामकरणसंस्कारविधिः समाप्तः॥

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम्॥ मनुस्मृतौ॥

(ऋक्ष) रोहिणी, रेवती इत्यादि (वृक्ष) चम्पा, तुलसी इत्यादि (नदी) गङ्गा, यमुना, सरस्वती इत्यादि (अन्त्य) चाण्डाली इत्यादि (पर्वत) विन्ध्याचला, हिमालया इत्यादि (पक्षी) कोकिला, हंसा इत्यादि (अहि) सर्पिणी नागी इत्यादि (प्रेष्य) दासी, किङ्करी इत्यादि (भयंकर) भीमा, भयंकरी, चण्डिका इत्यादि नाम निषिद्ध हैं।

अथ निष्क्रमणसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

'निष्क्रमण संस्कार' उस को कहते हैं कि जो बालक को घर से जहाँ का वायुस्थान शुद्ध हो वहाँ भ्रमण कराना होता है। उस का समय जब अच्छा देखे, तभी बालक को बाहर घुमावें, अथवा चौथे मास में तो अवश्य भ्रमण करावें। इसमें प्रमाण—

चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका। सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति ॥

यह आश्वलायन गृह्यसूत्र का वचन है ॥

जननाद्यस्तृतीयो ज्यौत्स्नस्तस्य तृतीयायाम् ॥

यह पारस्कर गृह्यसूत्र में भी है ॥

अर्थः—निष्क्रमण संस्कार के काल के दो भेद हैं, एक बालक के जन्म के पश्चात् तीसरे शुक्लपक्ष की तृतीया और दूसरा चौथे महीने में जिस तिथि में बालक का जन्म हुआ हो उस तिथि में यह संस्कार करे।

उस संस्कार के दिन प्रातःकाल सूर्योदय के पश्चात् बालक को शुद्ध जल से स्नान करा, शुद्ध सुन्दर वस्त्र पहिनावे। पश्चात् बालक को यज्ञशाला में बालक की माता ले आ के पति के दक्षिण पार्श्व में होकर पति के सामने आकर बालक का मस्तक उत्तर और छाती ऊपर अर्थात् चित्ता रख के पति के हाथ में देवे। पुनः पति के पीछे की ओर घूम के बायें पार्श्व में पूर्वाभिमुख बैठ जावे।

ओं यत्ते सुसीमे हृदयꣳ हितमन्तः प्रजापतौ।
वेदाहं मन्ये तद् ब्रह्म माहं पौत्रमघं निगाम् ॥ १ ॥
ओं यत्पृथिव्या अनामृतं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्।
वेदामृतस्याहं नाम माहं पौत्रमघꣳ रिषम् ॥ २ ॥
ओम् इन्द्राग्नी शर्म यच्छतं प्रजापती।
यथायं न प्रमीयेत पुत्रो जनित्र्या अधि ॥ ३ ॥

इन तीन मन्त्रों से परमेश्वर की आराधना करके पृष्ठ ४-२६ में लिखे प्रमाणे परमेश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण आदि और सामान्य-प्रकरणोक्त समस्त विधि कर और पुत्र को देख के, इन निम्नलिखित तीन मन्त्रों से पुत्र के शिर को स्पर्श करे—

ओम् अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥ १ ॥
ओं प्रजापतेष्ट्वा हिङ्कारेणावजिघ्रामि ।
सहस्रायुषाऽसौ जीव शरदः शतम् ॥ २ ॥
गवां त्वा हिङ्कारेणावजिघ्रामि ।
सहस्रायुषाऽसौ जीव शरदः शतम् ॥ ३ ॥

तथा निम्नलिखित मन्त्र बालक के दक्षिण कान में जपे:—

अस्मे प्र यन्धि मघवन्नृजीषिन्निन्द्र रायो विश्ववारस्य भूरेः ।
अस्मे शतंꣳ शरदो जीवसे धा अस्मे वीराञ्छश्वत इन्द्र शिप्रिन् ॥१॥

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे ।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम् ॥ २ ॥

इस मन्त्र को वाम कान में जप के पत्नी की गोद में उत्तर दिशा में शिर और दक्षिण दिशा में पग करके बालक को देवे और मौन करके स्त्री के शिर का स्पर्श करे। तत्पश्चात् आनन्दपूर्वक उठ के बालक को सूर्य का दर्शन करावे और निम्नलिखित मन्त्र वहाँ बोले—

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥

इस मन्त्र को बोल के थोड़ा-सा शुद्ध वायु में भ्रमण कराके यज्ञशाला में आ, सब लोग—

"त्वं जीव शरदः शतं वर्धमानः ।।"

इस वचन को बोल के आशीर्वाद देवें। तत्पश्चात् बालक के माता और पिता संस्कार में आये हुए स्त्रियों और पुरुषों का यथायोग्य सत्कार करके विदा करें। तत्पश्चात् जब रात्रि में चन्द्रमा प्रकाशमान हो, तब बालक की माता लड़के को शुद्ध वस्त्र पहिना दाहिनी ओर से आगे आके पिता के हाथ में बालक को उत्तर की ओर शिर और दक्षिण की ओर पग करके देवे, और बालक की माता दाहिनी ओर से लौट कर बाईं ओर आ अञ्जलि भर के चन्द्रमा के सम्मुख खड़ी रह के—

ओं यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयꣳ श्रितम् ।
तदहं विद्वाꣳस्तत्पश्यन्माहं पौत्रमघꣳ रुदम् ।।

इस मन्त्र से परमात्मा की स्तुति करके जल को पृथिवी पर छोड़ देवे। तत्पश्चात् बालक की माता पुनः पति के पृष्ठ की ओर से पति के दाहिने पार्श्व से सम्मुख आके पति से पुत्र को लेके पुनः पति के पीछे होकर बाईं ओर बालक का उत्तर की ओर शिर दक्षिण की ओर पग रख के खड़ी रहै, और बालक का पिता जल की अञ्जलि भर **"ओं यददश्च०"** इसी मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना करके जल को पृथिवी पर छोड़ के दोनों प्रसन्न होकर घर में आवें।

इति निष्क्रमणसंस्कारविधिः समाप्तः ।।

अथान्नप्राशनविधिं वक्ष्यामः

अन्नप्राशन संस्कार तभी करे जब बालक की शक्ति अन्न पचाने योग्य होवे। इस में आश्वलायन गृह्यसूत्र का प्रमाण—

षष्ठे मास्यन्नप्राशनम् ॥ १ ॥ घृतौदनं तेजस्कामः ॥ २ ॥ दधिमधुघृतमिश्रमन्नं प्राशयेत् ॥ ३ ॥

इसी प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्रादि में भी है।

छठे महीने बालक को अन्नप्राशन करावे। जिस को तेजस्वी बालक करना हो, वह घृतयुक्त भात अथवा दही, शहद और घृत तीनों भात के साथ मिला के निम्नलिखित विधि से अन्नप्राशन करावे, अर्थात् पूर्वोक्त पृष्ठ ४-२६ में कहे हुए सम्पूर्ण विधि को करके जिस दिन बालक का जन्म हुआ हो उसी दिन यह संस्कार करे। और निम्न लिखे प्रमाणे भात सिद्ध करे—

ओं प्राणाय त्वा जुष्टं प्रोक्षामि। ओम् अपानाय त्वा०। ओं चक्षुषे त्वा०। ओं श्रोत्राय त्वा०। ओम् अग्नये स्विष्टकृते त्वा० ॥

इन पांच मन्त्रों का यही अभिप्राय है कि चावलों को धो, शुद्ध करके अच्छे प्रकार बनाना और पकते हुए भात में यथायोग्य घृत भी डाल देना। जब अच्छे प्रकार पक जावें, तब उतार थोड़े ठंडे हुए पश्चात् होमस्थाली में—

ओं प्राणाय त्वा जुष्टं निर्वपामि। ओम् अपानाय त्वा०। ओं चक्षुषे त्वा०। ओं श्रोत्राय त्वा०। ओम् अग्नये स्विष्टकृते त्वा० ॥

इन पांच मन्त्रों से कार्यकर्त्ता यजमान और पुरोहित तथा ऋत्विजों को पात्र में पृथक्-पृथक् देके, पृष्ठ २२-२५ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान, समिदाधानादि करके प्रथम आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और व्याहृति ४ चार, मिल के ८ आठ घृत की आहुति देके, पुनः उस पकाये हुए भात की आहुति नीचे लिखे हुए मन्त्रों से देवे—

दे॒वीं वाच॑मजनयन्त दे॒वास्तां वि॒श्वरू॑पाः प॒शवो॑ वदन्ति।

सा नो॑ म॒न्द्रेष॒मूर्जं॒ दुहा॑ना धे॒नुर्वाग॒स्मानुप॒ सुष्टु॒तैतु॑ स्वाहा॑ ॥
इदं वाचे—इदन्न मम ॥ १ ॥

वाजो॑ नोऽअ॒द्य प्र सु॑वाति॒ दानं॒ वाजो॑ दे॒वाँ ऋ॒तुभिः॑ कल्पयाति ।
वाजो॒ हि मा॒ सर्व॑वीरं ज॒जान॒ विश्वा॒ आशा॒ वाज॑पतिर्जयेय॒ᳬ स्वाहा॑ ॥
इदं वाचे वाजाय—इदन्न मम ॥ २ ॥

इन दो मन्त्रों से दो आहुति देवें। तत्पश्चात् उसी भात में और घृत डाल के—

ओं प्राणेनान्नमशीय स्वाहा ॥ इदं प्राणाय—इदन्न मम ॥ १ ॥
ओम् अपानेन गन्धानशीय स्वाहा ॥ इदमपानाय—इदन्न मम ॥ २ ॥
ओं चक्षुषा रूपाण्यशीय स्वाहा ॥ इदं चक्षुषे—इदन्न मम ॥ ३ ॥
ओं श्रोत्रेण यशोऽशीय स्वाहा ॥ इदं श्रोत्राय—इदन्न मम ॥ ४ ॥

इन मन्त्रों से चार आहुति देके, **"ओं यदस्य कर्मणो०"** पृष्ठ २५ में लि० स्विष्टकृत् आहुति एक देवे। तत्पश्चात् पृष्ठ २५ में लि० प्रमाणे व्याहृति आहुति ४ चार और पृष्ठ २७ में लिखे प्रमाणे **"ओं त्वं नो०"** इत्यादि से ८ आठ आज्याहुति मिल के १२ बारह आहुति देवे। उसके पीछे आहुति से बचे हुए दही, मधु और उसमें घी यथायोग्य किंचित् किंचित् मिला के और भात में सुगन्धियुक्त और भी चावल बनाये हुए थोड़े से मिला के बालक के रुचि प्रमाणे—

ओम् अन्न॑प॒तेऽन्न॑स्य नो देह्यनमी॒वस्य॑ शु॒ष्मिणः॑ ।
प्रप्र॑ दा॒तारं॑ तारिष॒ ऊर्जं॑ नो धेहि द्वि॒पदे॒ चतु॑ष्पदे ॥

इस मन्त्र को पढ़ के थोड़ा थोड़ा पूर्वोक्त भात बालक के मुख में देवे। यथारुचि खिला बालक का मुख धो और अपने हाथ धो के पृष्ठ २८-२९ में लि० महावामदेव्यगान करके जो बालक के माता पिता और अन्य वृद्ध स्त्री-पुरुष आये हों, वे परमात्मा की प्रार्थना करके—

"त्वमन्नपतिरन्नादो वर्धमानो भूयाः"

इस वाक्य से बालक को आशीर्वाद देके, पश्चात् संस्कार में आये हुए पुरुषों का सत्कार बालक का पिता और स्त्रियों का सत्कार बालक की माता करके सब को प्रसन्नता पूर्वक विदा करें।

इत्यन्नप्राशनसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

अथ चूडाकर्मसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

यह आठवां संस्कार चूड़ाकर्म है, जिस को केशच्छेदन संस्कार भी कहते हैं। इस में आश्वलायन गृह्यसूत्र का मत ऐसा है—

तृतीये वर्षे चौलम् ॥ १ ॥ उत्तरतोऽग्नेर्व्रीहियवमाषतिलानां शरावाणि निदधाति ॥ २ ॥

इसी प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्रादि में भी है—

सांवत्सरिकस्य चूडाकरणम् ॥

इसी प्रकार गोभिलीय गृह्यसूत्र का भी मत है।

यह चूड़ाकर्म अर्थात् मुण्डन बालक के जन्म से तीसरे वर्ष वा एक वर्ष में करना। उत्तरायणकाल शुक्लपक्ष में जिस दिन आनन्द मङ्गल हो, उस दिन यह संस्कार करें।

विधिः—आरम्भ में पृष्ठ ४-२६ में लिखित विधि करके चार शरावे ले; एक में चावल, दूसरे में यव, तीसरे में उर्द और चौथे शरावे में तिल भर के वेदी के उत्तर में धर देवे। धर के पृष्ठ २४ में लिखे प्रमाणे **"ओम् अदिते-ऽनुमन्यस्व०"** इत्यादि तीन मन्त्रों से कुण्ड के तीन बाजू और पृष्ठ २४ में लिखे प्रमाणे **"ओं देव सवितः प्रसुव०"** इस मन्त्र से कुण्ड के चारों ओर जल छिटका के पूर्व पृष्ठ २२-२४ में लिखित अग्न्याधान समिदाधान कर अग्नि को प्रदीप्त करके जो समिधा प्रदीप्त हुई हो उस पर लक्ष्य देकर पृष्ठ २५ में आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और व्याहृति आहुति ४ चार और पृष्ठ २७ में लिखी ८ आठ आज्याहुति, सब मिल के १६ सोलह आहुति देके, पृष्ठ २६ में लिखे प्रमाणे **"ओं भूर्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि०"** इत्यादि मन्त्रों से चार आज्याहुति प्रधान होम की देके, पश्चात् पृष्ठ २५ में लिखे प्रमाणे व्याहृति आहुति ४ चार और स्विष्टकृत् मन्त्र से एक आहुति मिल के पाँच घृत की आहुति देवे, इतनी क्रिया करके कर्मकर्त्ता परमात्मा का ध्यान करके नाई की ओर प्रथम देख के—

ओम् आयमंगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेनं वाय उदुकेनेहिं। आदित्या रुद्रा वसंव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत प्रचेतसः ॥ अथर्व० कां० ६। सू० ६८॥

इस मन्त्र का जप करके, पिता बालक के पृष्ठ भाग में बैठ के किञ्चित् उष्ण और किञ्चित् ठण्डा जल दोनों पात्रों में लेके—

ओम् उष्णेन०॥

इस मन्त्र को बोल के दोनों पात्रों का जल एक पात्र में मिला देवे। पश्चात् थोड़ा जल थोड़ा माखन अथवा दही की मलाई लेके---

ओम् अदितिः श्मश्रु वपत्वाप उन्दन्तु वर्चसा। चिकित्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुत्वाय चक्षसे ॥ अथर्व० कां० ६। सू० ६८॥

ओं सवित्रा प्रसूता दैव्या आप उन्दन्तु ते तनूं दीर्घायुत्वाय वर्चसे ॥ २॥

इन मन्त्रों को बोल के बालक के सिर के बालों में तीन वार हाथ फेर के केशों को भिगोवे। तत्पश्चात् कंगा लेके केशों को सुधार के इकट्ठा करे, अर्थात् बिखरे न रहें। तत्पश्चात्—

ओम् ओषधे त्रायस्वैनम्०॥

इस मन्त्र को बोल के तीन दर्भ लेके दाहिनी बाजू के केशों के समूह को हाथ से दबा के—

ओं विष्णोर्दंष्ट्रोऽसि०॥

इस मन्त्र से छुरे की ओर देख के—

ओं शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते मा मा हिंसीः॥

इस मन्त्र को बोल के छुरे को दाहिने हाथ में लेवे। तत्पश्चाद—

ओं स्वधिते मैनंᳶहिᳶसीः ॥

ओं निवर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय ॥

इन दो मन्त्रों को बोल के उस छुरे और उन कुशाग्रों को केशों के समीप ले जाके—

ओं येनावपत्सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान् ।
तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान् ॥
अथर्व० कां० ६ । सू० ६८ ॥

इस मन्त्र को बोल के कुशसहित उन केशों को काटे❀ । और वे काटे हुए केश और दर्भ शमीवृक्ष के पत्रसहित, अर्थात् यहाँ शमीवृक्ष के पत्र भी प्रथम मे रखने चाहिये, उन सब को लड़के का पिता और लड़के की माँ एक शरावा में रक्खे और कोई केश छेदन करते समय उड़ा हो, उसको गोबर से उठा के शरावा में अथवा उसके पास रक्खे । तत्पश्चात् इसी प्रकार—

ओं येन धाता बृहस्पतेरग्नेरिन्द्रस्य चायुषेऽवपत् ।
तेन त आयुषे वपामि सुश्लोक्याय स्वस्तये ॥

इस मन्त्र से दूसरी वार केश का समूह दूसरी ओर का काट के उसी प्रकार शरावा में रक्खे । तत्पश्चात्—

ओं येन भूयश्चरात्र्य ज्योक् च पश्याति सूर्यम् ।
तेन त आयुषे वपामि सुश्लोक्याय स्वस्तये ॥

इस मन्त्र से तीसरी वार उसी प्रकार केशसमूह को काट के उपरि उक्त तीन मन्त्रों अर्थात् **"ओं येनावपत्०" "ओं येन धाता०" "ओं येन भूयश्च०"** और—

❀ केशछेदन की रीति ऐसी है कि दर्भ और केश दोनों युक्ति से पकड़ कर अर्थात् दोनों ओर से पकड़ के बीच में से केशों को छुरे से काटे । यदि छुरे के बदले कैंची से काटे तो भी ठीक है ।

ओं येन पूषा बृहस्पतेर्वायोरिन्द्रस्य चावपत् ।
तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय दीर्घायुष्ट्वाय ।।

इस एक, इन चार मन्त्रों को बोल के चौथी वार इसी प्रकार केशों के समूहों को काटे । अर्थात् प्रथम दक्षिण बाजू के केश काटने का विधि पूर्ण हुए पश्चात् बाईं ओर के केश काटने की विधि करे । तत्पश्चात् उस के पीछे आगे के केश काटे । परन्तु चौथी वार काटने में "**येन पूषा०**" इस मन्त्र के बदले—

ओं येन भूरिश्चरा दिवं ज्योक् च पश्चाद्धि सूर्यम् ।
तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय सुश्लोक्याय स्वस्तये ।।

यह मन्त्र बोल चौथी वार छेदन करे । तत्पश्चात्—

ओं त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ।।

इस एक मन्त्र को बोल के शिर के पीछे के केश एक वार काट के इसी (**ओं त्र्यायुषं०**) मन्त्र को बोलते जाना और ओंधे हाथ के पृष्ठ से बालक के शिर पर हाथ फेर के मन्त्र पूरा हुए पश्चात् छुरा नाई के हाथ में देके—

ओं यत्क्षुरेण मर्चयता सुपेशसा वप्ता वपसि केशान् ।
शुन्धि शिरो मास्यायुः प्र मोषीः ।।

इस मन्त्र को बोल के, नापित से पथरी पर छुरे की धार तेज करा के नापित से बालक का पिता कहे कि इस शीतोष्ण जल से बालक का शिर अच्छे, प्रकार कोमल हाथ से भिजो, सावधानी और कोमल हाथ से क्षौर कर, कहीं छुरा न लगने पावे । इतना कह के कुण्ड से उत्तर दिशा में नापित को ले जा, उसके सन्मुख बालक को पूर्वाभिमुख बैठा के जितने केश रखने हों उतने ही केश रक्खे । परन्तु पाँचों ओर थोड़ा-थोड़ा केश रखावे अथवा किसी एक ओर रक्खे, अथवा एक बार सब कटवा देवे, पश्चात् दूसरी वार के केश रखने अच्छे होते हैं ।

जब क्षौर हो चुके, तब कुण्ड के पास पड़ा व धरा हुआ देने योग्य पदार्थ वा शरावा आदि कि जिनमें प्रथम अन्न भरा था नापित को देवे । और मुण्डन

किये हुए सब केश, दर्भ, शमीपत्र और गोबर नाई को देवें, यथायोग्य उसको धन वा वस्त्र भी देवे। और नाई केश, दर्भ, शमीपत्र और गोबर को जंगल में ले जा गढ़ा खोद के उस में सब डाल ऊपर से मट्टी से दाब देवें, अथवा गोशाला, नदी वा तालाब के किनारे पर उसी प्रकार केशादि को गाड़ देवे, ऐसा नापित से कह दे अथवा किसी को साथ भेज देवे, वह उस से उक्त प्रकार करा लेवे।

क्षौर हुए पश्चात् मक्खन अथवा दही का मलाई हाथ में लगा बालक के शिर पर लगा के स्नान करा उत्तम वस्त्र पहिना के बालक को पिता अपने पास ले शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठ के, पृष्ठ २८-२९ में सामवेद का महावामदेव्यगान करके, बालक की माता स्त्रियों और बालक का पिता पुरुषों का यथायोग्य सत्कार करके विदा करें और जाते समय सब लोग तथा बालक के माता पिता परमेश्वर का ध्यान करके—

"ओं त्वं जीव शरदः शतं वर्धमानः ॥"

इस मन्त्र को बोल बालक को आशीर्वाद देके अपने-अपने घर को पधारें और बालक के माता पिता प्रसन्न होकर बालक को प्रसन्न रखें।

इति चूडाकर्मसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

अथ कर्णवेधसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

अत्र प्रमाणम्—कर्णवेधो वर्षे तृतीये पञ्चमे वा ॥ १ ॥

यह आश्वलायन गृह्यसूत्र का वचन है। बालक के कर्ण वा नासिका के वेध का समय जन्म से तीसरे वा पांचवें वर्ष का उचित है।

जो दिन कर्ण वा नासिका के वेध का ठहराया हो, उसी दिन बालक को प्रातःकाल शुद्ध जल से स्नान और वस्त्रालङ्कार धारण कराके बालक की माता यज्ञशाला में लावे। पृष्ठ ४-२९ तक में लिखा हुआ सब विधि करे और उस बालक के आगे कुछ खाने का पदार्थ वा खिलौना धर के—

ओं भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाᳬंसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥१॥

इस मन्त्र को पढ़ के चरक सुश्रुत वैद्यक ग्रन्थों के जानने वाले सद्वैद्य के हाथ से कर्ण वा नासिका वेध करावें कि जो नाड़ी आदि को बचा के वेध कर सके।

पूर्वोक्त मन्त्र से दक्षिण कान, और—

वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियᳬं सखायं परिषस्वजाना।
योषेव शिङ्क्ते वितताधि धन्वञ्ज्या इयᳬं समने पारयन्ती ॥२॥

इस मन्त्र को पढ़ के दूसरे वामकर्ण का वेध करे। तत्पश्चात् वही वैद्य उन छिद्रों में शलाका रक्खे कि जिससे छिद्र पूर न जावें और ऐसी ओषधि उस पर लगावे जिससे कान पकें नहीं और शीघ्र अच्छे हो जावें।

इति कर्णवेधसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

अथोपनयन¹संस्कारविधिं वक्ष्यामः

अत्र प्रमाणानि—

अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत् ॥ १ ॥ गर्भाष्टमे वा ॥ २ ॥ एकादशे क्षत्रियम् ॥ ३ ॥ द्वादशे वैश्यम् ॥ ४ ॥ आषोडशाद् ब्राह्मणस्यानतीतः कालः ॥ ५ ॥ आद्वाविंशात्क्षत्रियस्य, आचतुर्विंशाद्वैश्यस्य, अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति ॥ ६ ॥

यह आश्वलायन गृह्यसूत्र का प्रमाण है। इसी प्रकार पारस्करादि गृह्यसूत्रों का भी प्रमाण है।

अर्थः—जिस दिन जन्म हुआ हो अथवा जिस दिन गर्भ रहा हो, उस से ८ आठवें वर्ष में ब्राह्मण के, जन्म वा गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय के, और जन्म वा गर्भ से बारहवें वर्ष में वैश्य के बालक का यज्ञोपवीत करें, तथा ब्राह्मण के १६ सोलह, क्षत्रिय के २२ बाईस और वैश्य के बालक का २४ चौबीस से पूर्व पूर्व यज्ञोपवीत चाहिये। यदि पूर्वोक्त काल में इन का यज्ञोपवीत न हो, तो वे पतित माने जावें ॥ १-६ ॥

श्लोकः—ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ १ ॥

यह मनुस्मृति का वचन है कि जिस को शीघ्र विद्या, बल और व्यवहार करने की इच्छा हो और बालक भी पढ़ने में समर्थ हुए हों, तो ब्राह्मण के लड़के का जन्म वा गर्भ से पाँचवें, क्षत्रिय के लड़के का जन्म वा गर्भ से छठे और वैश्य के लड़के का जन्म वा गर्भ से आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करें। परन्तु यह बात तब सम्भव है कि जब बालक की माता और पिता का विवाह पूर्ण ब्रह्मचर्य के पश्चात् हुआ होवे। उन्हीं के ऐसे उत्तम बालक श्रेष्ठ बुद्धि और शीघ्र समर्थ बढ़ने वाले होते हैं। जब बालक का शरीर और बुद्धि ऐसी हो कि अब

---

१. उप नाम समीप नयन अर्थात् प्राप्त करना वा होना।

यह पढ़ने के योग्य हुआ, तभी यज्ञोपवीत करा देवें।

यज्ञोपवीत का समय—उत्तरायण सूर्य और—

वसन्ते ब्राह्मणमुपनयेत्। ग्रीष्मे राजन्यम्। शरदि वैश्यम्। सर्वकालमेके॥

यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है।

अर्थ—ब्राह्मण का वसन्त, क्षत्रिय का ग्रीष्म और वैश्य का शरद् ऋतु में यज्ञोपवीत करें। अथवा सब ऋतुओं में उपनयन हो सकता है, और इस का प्रातःकाल ही समय है।

पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य आमिक्षाव्रतो वैश्यः॥

यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है।

जिस दिन बालक का यज्ञोपवीत करना हो, उस से तीन दिन अथवा एक दिन पूर्व तीन वा एक व्रत बालक को कराना चाहिये। उन व्रतों में ब्राह्मण का लड़का एक वार वा अनेक वार दुग्धपान, क्षत्रिय का लड़का (**यवागू**) अर्थात् यव को मोटा दल के गुड़ के साथ पतली जैसी कि कढ़ी होती है, वैसी बनाकर पिलावें और (**आमिक्षा**) अर्थात् जिसको श्रीखण्ड वा सिखण्ड कहते हैं, जो दही चौगुना दूध एक गुना तथा यथायोग्य खांड, केशर डाल के कपड़े में छान-कर बनाया जाता है, उस को वैश्य का लड़का पी के व्रत करे। अर्थात् जब-जब लड़कों को भूख लगे तब-तब तीनों वर्णों के लड़के इन तीनों पदार्थों ही का सेवन करें, अन्य पदार्थ कुछ न खावें पीवें।

विधिः—अब जिस दिन उपनयन करना हो, उसके पूर्व दिन में सब सामग्री इकट्ठी कर याथातथ्य शोधन आदि कर लेवे। और उस दिन पृष्ठ ४-२८ वें तक सब कुण्ड के समीप सामग्री धर, प्रातःकाल बालक का क्षौर करा, शुद्ध जल से स्नान कराके उत्तम वस्त्र पहिना, यज्ञमण्डप में पिता वा आचार्य बालक को मिष्टान्नादि का भोजन कराके वेदी के पश्चिम भाग में सुन्दर आसन पर पूर्वाभिमुख बैठावे। और बालक का पिता और पृष्ठ २१ में लिखे ऋत्विज् लोग भी पूर्वोक्त प्रकार अपने अपने आसन पर बैठ यथावत् आचमनादि क्रिया करें।

पश्चात् कार्यकर्त्ता बालक के मुख से—

ब्रह्मचर्यमागाम्, ब्रह्मचार्यसानि ॥

ये वचन बुलवा के आचार्य*—

ओं येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतम् ।
तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे ॥

इस मन्त्र को बोल के बालक को सुन्दर वस्त्र और उपवस्त्र पहिनावे । पश्चात् बालक आचार्य के सम्मुख बैठे और यज्ञोपवीत हाथ में लेके—

ओं यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥ १ ॥
यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि ॥ २ ॥

इन मन्त्रों को बोल के आचार्य बायें स्कन्धे के ऊपर कण्ठ के पास से शिर बीच में निकाल दहिने हाथ के नीचे बगल में निकाल कटि तक धारण करावे ।

तत्पश्चात् बालक को अपने दहिने ओर साथ बैठा के ईश्वर की स्तुति, प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण का पाठ करके समिदाधान, अग्न्याधान कर **"ओम् अदितेऽनुमन्यस्व०"** इत्यादि पूर्वोक्त चार मन्त्रों से पूर्वोक्त रीति से कुण्ड के चारों ओर जल छिटका, पश्चात् आज्याहुति करने का आरम्भ करना ।

वेदी में प्रदीप्त हुई समिधा को लक्ष्य में धर चमसा में आज्यस्थाली से घी ले, आघारावाज्यभागाहुतिं ४ चार और व्याहृति आहुति ४ चार तथा पृष्ठ २७ में आज्याहुति ८ तीनों मिल के १६ सोलह घृत की आहुति दे के, पश्चात् बालक के हाथ से प्रधान होम जो विशेष शाकल्य बनाया हो, उसकी

---

* 'आचार्य्य' उसको कहते हैं कि जो साङ्गोपाङ्ग वेदों के शब्द, अर्थ, सम्बन्ध और क्रिया का जाननेहारा, छल, कपट रहित, अतिप्रेम से सब को विद्या का दाता, परोपकारी, तन, मन और धन से सब को सुख बढ़ाने में जो तत्पर महाशय, पक्षपात किसी का न करे और सत्योपदेष्टा, सब का हितैषी, धर्मात्मा जितेन्द्रिय होवे ।

आहुतियाँ निम्नलिखित मन्त्रों से दिलानी। ओं भूर्भुवः स्वः। (अग्न आयूंषि०) पृष्ठ २६ में ४ चार आज्याहुति देवे। तत्पश्चात्—

ओम् अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयम्। तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात्सत्यमुपैमि स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥ १॥

ओं वायो व्रतपते० ‡ स्वाहा॥ इदं वायवे—इदन्न मम॥ २॥
ओं सूर्य व्रतपते० स्वाहा॥ इदं सूर्याय—इदन्न मम॥ ३॥
ओं चन्द्र व्रतपते० स्वाहा॥ इदं चन्द्राय—इदन्न मम॥ ४॥

ओं व्रतानां व्रतपते० स्वाहा॥ इदमिन्द्राय व्रतपतये—इदन्न मम॥ ५॥

इन पाँच मन्त्रों से पाँच आज्याहुति दिलानी।

उस के पीछे पृष्ठ २५ में व्याहृति आहुति ४ चार और पृष्ठ २५ में स्विष्टकृत् आहुति १ एक और पृष्ठ २६ में प्राजापत्याहुति १ एक, ये सब मिल छः घृत की आहुति देनी। सब मिल के १५ पन्द्रह आहुति बालक के हाथ से दिलानी।

उस के पश्चात् आचार्य यज्ञकुण्ड के उत्तर की ओर पूर्वाभिमुख बैठ, और बालक आचार्य के सम्मुख पश्चिम में मुख करके बैठे। तत्पश्चात् आचार्य बालक की ओर देख के—

ओम् आगन्त्रा समगन्महि प्रसुमर्त्यं युयोतन।
अरिष्टाः संचरेमहि स्वस्ति चरतादयम्॥

इस मन्त्र का जप करे।

माणवकवाक्यम्—ओं ब्रह्मचर्यमागामुप मा नयस्व॥
आचार्योक्तिः—को नामासि × ॥

---

‡ इसके आगे 'व्रतं चरिष्यामि' इत्यादि सम्पूर्ण मन्त्र बोलना चाहिये।
× तेरा नाम क्या है, ऐसा पूछना।

बालकोक्तिः—एतन्नामास्मि+ ॥

तत्पश्चात्—

ओम् आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता नं ऊर्जे दंधातन ।
महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥
यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः ।
उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥
तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।
आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥

इन तीन मन्त्रों को पढ़ के, बटुक की दक्षिण हस्ताञ्जलि शुद्धोदक से भरनी ।

तत्पश्चात् आचार्य अपनी हस्ताञ्जलि भरके—

ओं तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम् ।
श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि ॥

इस मन्त्र को पढ़ के आचार्य अपनी अञ्जलि का जल बालक की अञ्जलिं में छोड़ के, बालक की हस्ताञ्जलि अंगुष्ठसहित पकड़ के—

ओं देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां हस्तं गृह्णाम्यसौ❀ ॥

इस मन्त्र को पढ़ के बालक की हस्ताञ्जलि का जल नीचे पात्र में छुड़ा देना ।

इसी प्रकार दूसरी वार अर्थात् प्रथम आचार्य अपनी अञ्जलि भर बालक की अञ्जलि में अपनी अञ्जलि का जल भर के अंगुष्ठसहित हाथ पकड़ के—

+ मेरा यह नाम है ।

❀ 'असौ' इस पद के स्थान में बालक का सम्बोधनान्त नामोच्चारण सर्वत्र करना चाहिये ।

ओं सविता ते हस्तमग्रभीत्, असौ ॥

इस मन्त्र से पात्र में छुड़वा दे ।

पुनः इसी प्रकार तीसरी वार आचार्य अपने हाथ में जल भर पुनः बालक की अञ्जलि में भर अंगुष्ठसहित हाथ पकड़—

ओम् अग्निराचार्यस्तव, असौ ॥

तीसरी वार बालक की अञ्जलि का जल छुड़वा के बाहर निकल सूर्य के सामने खड़े रह देख के आचार्य—

ओं देव सवितरेष ते ब्रह्मचारी तं गोपाय समामृत ॥

इस एक और पृष्ठ ६६ में लिखे (**तच्चक्षुर्देवहितम्०**) इस दूसरे मन्त्र को पढ़ के बालक को सूर्यावलोकन करा, बालकसहित आचार्य सभा-मण्डप में आ यज्ञकुण्ड की उत्तर बाजू की ओर बैठ के—

ओं युवा सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान् भवति जायमानः ॥

ओं सूर्यस्यावृतमन्वावर्त्तस्व, असौ + ॥

इस मन्त्र को पढ़े । और बालक आचार्य की प्रदक्षिणा करके आचार्य के सन्मुख बैठे ।

पश्चात् आचार्य बालक के दक्षिण स्कन्धे पर अपने दक्षिण हाथ से स्पर्श करे, और पश्चात् अपने हाथ को वस्त्र से आच्छादित करके

ओं प्राणानां ग्रन्थिरसि मा विस्रसोऽन्तक इदं ते परिददामि, अमुम् + ॥ १ ॥

इस मन्त्र को बोलने के पश्चात्—

ओम् अहुर इदं ते परिददामि, अमुम् ॥ २ ॥

इस मन्त्र से उदर पर । और—

ओं कृशन इदं ते परिददामि, अमुम् ॥ ३ ॥

इस मन्त्र से हृदय—

+ 'असौ' और 'अमुम्' इन दोनों पदों के स्थान में सर्वत्र बालक का नामोच्चारण करना चाहिये ।

ओं प्रजापतये त्वा परिददामि, असौ ॥ ४ ॥

इस मन्त्र को बोल के दक्षिण स्कन्ध और—

ओं देवाय त्वा सवित्रे परिददामि, असौ ॥ ५ ॥

इस मन्त्र को बोल के वाम हाथ से बाएँ स्कन्ध पर स्पर्श करके, बालक के हृदय पर हाथ धरके—

ओं तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो३ मनसा देवयन्तः ॥

इस मन्त्र को बोल के आचार्य सम्मुख रहकर, बालक के दक्षिण हृदय पर अपना हाथ रख के—

ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु ।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥

आचार्य इस प्रतिज्ञा मन्त्र को बोले। अर्थात् हे शिष्य बालक ! तेरे हृदय को मैं अपने आधीन करता हूं, तेरा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल सदा रहे, और तू मेरी वाणी को एकाग्रमन हो प्रीति से सुनकर उसके अर्थ का सेवन किया कर, और आज से तेरी प्रतिज्ञा के अनुकूल बृहस्पति, परमात्मा तुझ को मुझ से युक्त करे। यह प्रतिज्ञा करावे।

इसी प्रकार शिष्य भी आचार्य से प्रतिज्ञा करावे कि—हे आचार्य ! आपके हृदय को मैं अपनी उत्तम शिक्षा और विद्या की उन्नति में धारण करता हूँ। मेरे चित्त के अनुकूल आपका चित्त सदा रहे। आप मेरी वाणी को एकाग्र होके सुनिये, और परमात्मा मेरे लिये आपको सदा नियुक्त रक्खे।

इस प्रकार दोनों प्रतिज्ञा करके—

आचार्योक्तिः—को नामाऽसि ॥ तेरा क्या नाम है ?

बालकोक्तिः—अहम्भोः ॥ मेरा अमुक नाम है। ऐसा उत्तर देवे।

आचार्यः—कस्य ब्रह्मचार्य्यसि ॥ तू किसका ब्रह्मचारी है ?

बालकः—भवतः । आपका।

आचार्य बालक की रक्षा के लिये—

इन्द्रस्य ब्रह्मचार्य्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तव असौ॥ ॥

॥ 'असौ' इस पद के स्थान में सर्वत्र बालक का नामोच्चारण करना चाहिए।

इस मन्त्र को बोले। तत्पश्चात्

ओं कस्य ब्रह्मचार्य्यसि प्राणस्य ब्रह्मचार्यसि कस्त्वा कमुपनयते काय त्वा परिददामि ॥ १ ॥

ओं प्रजापतये त्वा परिददामि। देवाय त्वा सवित्रे परिददामि। अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः परिददामि। द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि। विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि। सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्ट्यै ॥ २ ॥

इन मन्त्रों को बोल बालक को शिक्षा करे कि तू प्राण आदि की विद्या के लिये यत्नवान् हो।

और यह उपनयन संस्कार पूरे हुए पश्चात् यदि उसी दिन वेदारम्भ करने का विचार पिता और आचाय का हो, तो उसी दिन करना, और जो दूसरे दिन का विचार हो तो पृष्ठ २८-२९ में लिखा महावामदेव्यगान करके, संस्कार में आई हुई स्त्रियों का बालक की माता और पुरुषों का बालक का पिता सत्कार करके विदा करे। और माता पिता आचार्य सम्बन्धी इष्ट मित्र सब मिल के—

ओं त्वं जीव शरदः शतं वर्द्धमानः। आयुष्मान् तेजस्वी वर्चस्वी भूयाः ॥

इस प्रकार आशीर्वाद देके अपने अपने घर को सिधारें ॥

इत्युपनयनसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

अथ वेदारम्भसंस्कारविधिर्विधीयते

'वेदारम्भ' उसको कहते हैं, जो गायत्री मन्त्र से लेके साङ्गोपाङ्ग* चारों वेदों के अध्ययन करने के लिये नियम धारण करना।

समयः—जो दिन उपनयन संस्कार का है, वही वेदारम्भ का है। यदि उस दिवस में न हो सके अथवा करने की इच्छा न हो, तो दूसरे दिन करे। यदि दूसरा दिन भी अनुकूल न हो, तो एक वर्ष के भीतर किसी दिन करे।

विधिः—जो वेदारम्भ का दिन ठहराया हो, उस दिन प्रातःकाल शुद्धोदक से स्नान कराके शुद्ध वस्त्र पहिना, पश्चात् कार्यकर्त्ता अर्थात् पिता, यदि पिता न हो तो आचार्य, बालक को लेके उत्तमासन पर वेदी के पश्चिम पूर्वाभिमुख बैठे।

तत्पश्चात् ४-१४ पृष्ठ तक में ईश्वरस्तुति+, प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण करके पृष्ठ २२-२३ में (**ओं भूर्भुवः स्व०**) इस मन्त्र से अग्न्याधान पृष्ठ २३-२४ में (**ओम् अयन्त इध्म०**) इत्यादि ४ मन्त्रों से समिदाधान, पृष्ठ २४ में (**ओम् अदितेऽनुमन्यस्व०**) इत्यादि तीन मन्त्रों से कुण्ड के तीनों ओर, ओर (**ओं देव सवितः०**) इस मन्त्र से कुण्ड के चारों ओर जल छिटका के,

---

* **अङ्ग**—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष्। **उपाङ्ग**—पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त। उपवेद—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद अर्थात् शिल्पशास्त्र। **ब्राह्मण**—ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ। **वेद**—ऋक्, यजुः, साम और अथर्व इन सब को क्रम से पढ़े।

+जो उपनयन किये पश्चात् उसी दिन वेदारम्भ करे, उसको पुनः वेदारम्भ के आदि में ईश्वरस्तुति, प्रार्थनोपासना और शान्तिकरण करना आवश्यक नहीं।

पृष्ठ २३ में (**ओम् उद्बुध्यस्वाग्ने०**) इस मन्त्र से अग्नि प्रदीप्त करके, प्रदीप्त समिधा पर पृष्ठ २५ में आघारावाज्यभागाहुति ४ चार व्याहृति आहुति ४ चार और पृष्ठ २७ में आज्याहुति आठ, मिलके १६ सोलह आज्याहुति देने के पश्चात् प्रधान* होमाहुति दिला के, पश्चात् पृष्ठ २५ में व्याहृति आहुति ४ चार और स्विष्टकृत् आहुति १ एक, तथा पृष्ठ २६ में प्राजापत्याहुति १ एक मिलकर छः आज्याहुति बालक के हाथ से दिलानी। तत्पश्चात्—

ओम् अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु। ओं यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा असि। ओम् एवं मां सुश्रवः सौश्रवसं कुरु। ओं यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा असि। ओम् एवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासम्॥

इस मन्त्र से वेदी के अग्नि को इकट्ठा करना।

तत्पश्चात् बालक कुण्ड की प्रदक्षिणा करके पृष्ठ २४ में लिखे प्रमाणे '**अदितेऽनुमन्यस्व**' इत्यादि ४ चार मन्त्रों से कुण्ड के सब ओर जल सिञ्चन करके बालक कुण्ड के दक्षिण की ओर उत्तराभिमुख खड़ा रहकर, घृत में भिजो के एक समिधा हाथ में ले—

ओम् अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे। यथा त्वमग्ने समिधा। समिध्यस एवमहमायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भूयासꣳ स्वाहा॥

समिधा वेदिस्थ अग्नि के मध्य में छोड़ देना। इसी प्रकार दूसरी और तीसरी समिधा छोड़े।

पुनः उपर्युक्त लिखे प्रमाणे "**ओम् अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं०**" इस मन्त्र से वेदिस्थ अग्नि को इकट्ठा करके पृष्ठ २४ में लिखे प्रमाणे "**ओम् अदिते-**

---

* 'प्रधान होम' उसको कहते हैं, जो संस्कार में मुख्य करके किया जाता है।

ऽनुमन्यस्व०" इत्यादि चार मन्त्रों से कुण्ड के सब ओर जल सेचन करके, बालक वेदी के पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठ के, वेदी के अग्नि पर दोनों हाथों को थोड़ा-सा तपा के हाथ में जल लगा—

ओं तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि ॥ १ ॥
ओम् आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि ॥ २ ॥
ओं वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि ॥ ३ ॥
ओम् अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण ॥ ४ ॥
ओं मेधां मे देवः सविता आदधातु ॥ ५ ॥
ओं मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु ॥ ६ ॥
ओं मेधां मे अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥ ७ ॥

इन सात मन्त्रों से सात वार किञ्चित् हथेली उष्ण कर जल स्पर्श करके, मुखस्पर्श करना । तत्पश्चात् बालक—

ओं वाक् च म आप्यायताम् ॥ १ ॥ इस मन्त्र से मुख ।
ओं प्राणश्च म आप्यायताम् ॥ २ ॥ इस मन्त्र से नासिका-द्वार ।
ओं चक्षुश्च म आप्यायताम् ॥ ३ ॥ इस मन्त्र से दोनों नेत्र ।
ओं श्रोत्रञ्च म आप्यायताम् ॥ ४ ॥ इस मन्त्र से दोनों कान ।
ओं यशो बलञ्च म आप्यायताम् ॥ ५ ॥ इस मन्त्र से दोनों बाहुओं को स्पर्श करे ।

ओं मयि मेधां मयि प्रजां मय्यग्निस्तेजो दधातु । मयि मेधां मयि प्रजां मयीन्द्र इन्द्रियं दधातु । मयि मेधां मयि प्रजां मयि सूर्यो भ्राजो दधातु । यत्ते अग्ने तेजस्तेनाहं तेजस्वी भूयासम् । यत्ते अग्ने वर्चस्तेनाहं वर्चस्वी भूयासम् । यत्ते अग्ने हरस्तेनाहं हरस्वी भूयासम् ।

इन मन्त्रों से, बालक परमेश्वर का उपस्थान करके कुण्ड की उत्तर बाजू की ओर जाके, जानू को भूमि में टेक के पूर्वाभिमुख बैठे और आचार्य बालक के सम्मुख पश्चिमाभिमुख बैठे ।

बालकोक्तिः—अधीहि भूः सावित्रीं भो अनुब्रूहि ॥

अर्थात् आचार्य से बालक कहे कि हे आचार्य ! प्रथम एक ओंकार पश्चात् तीन महाव्याहृति तत्पश्चात् सावित्री ये त्रिक अर्थात् तीनों मिल के परमात्मा के वाचक मन्त्र को मुझे उपदेश कीजिये ।

तत्पश्चात् आचार्य एक वस्त्र अपने और बालक के कन्धे पर रख के अपने हाथ से बालक के दोनों हाथ की अङ्गुलियों को पकड़ के नीचे लिखे प्रमाणे बालक को तीन वार करके गायत्री मन्त्रोपदेश करे ।—प्रथम बार

ओं भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यम् ।

इतना टुकड़ा एक-एक पद का शुद्ध उच्चारण बालक से कराके दूसरी बार—

ओं भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।

एक-एक पद से यथावत् धीरे-धीरे उच्चारण करवा के तीसरी बार—

ओं भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

धीरे-धीरे इस मन्त्र को बुलवा के, संक्षेप से इसका अर्थ भी नीचे लिखे प्रमाणे आचार्य सुनावे—

अर्थः—(ओ३म्) यह मुख्य परमेश्वर का नाम है, जिस नाम के साथ अन्य सब नाम लग जाते हैं, (भूः) जो प्राण का भी प्राण, (भुवः) सब दुखों से छुड़ानेहारा, (स्वः) स्वयं सुखस्वरूप और अपने उपासकों को सब सुख की प्राप्ति करानेहारा है, उस (सवितुः) सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले, सूर्यादि प्रकाशकों के भी प्रकाशक समग्र ऐश्वर्य के दाता (देवस्य) कामना करने योग्य, सर्वत्र विजय करानेहारे परमात्मा का, जो (वरेण्यम्) अतिश्रेष्ठ ग्रहण और ध्यान करने योग्य, (भर्गः) सब क्लेशों को भस्म करनेहारा, पवित्र, शुद्धस्वरूप है, (तत्) उसको हम लोग (धीमहि) धारण करें, (यः) यह जो परमात्मा (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को उत्तम गुण कर्म स्वभावों में (प्र, चोदयात्) प्रेरणा करे । इसी प्रयोजन के लिये इस जगदीश्वर की स्तुति प्रार्थनोपासना करना और इससे भिन्न और किसी को उपास्य इष्टदेव, उसके तुल्य वा उससे अधिक नहीं

माननाा चाहिये। इस प्रकार अर्थ सुनाये पश्चात्—

ओं मम व्रते हृदयं ते दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु ।
मम वाचमेकव्रतो जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥

इस मन्त्र से बालक और आचार्य पूर्ववत् दृढ़ प्रतिज्ञा करके—

ओम् इयं दुरुक्तं परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती म आगात् ।
प्राणापानाभ्यां बलमादधाना स्वसा देवी सुभगा मेखलेयम् ॥

इस मन्त्र से आचार्य सुन्दर, चिकनी, प्रथम बना के रक्खी हुई मेखला+ को बालक के कटि में बांध के—

ओं युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः ।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो३ मनसा देवयन्तः ॥

इस मन्त्र को बोल के दो शुद्ध कौपीन, दो अङ्गोछे और एक उत्तरीय और दो कटिवस्त्र ब्रह्मचारी को आचार्य देवे। और उन में से एक कौपीन, एक कटिवस्त्र और एक उपन्ना बालक को आचार्य धारण करावे।

तत्पश्चात् आचार्य दण्ड❀ हाथ में लेके सामने खड़ा रहे, और बालक भी आचार्य के सामने हाथ जोड़—

ओं यो मे दण्डः परापतद्वैहायसोऽधिभूम्याम् ।
तमहं पुनरादद आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय ॥

\+ ब्राह्मण को मुञ्ज वा दर्भ की, क्षत्रिय को धनुष संज्ञक तृण वा वल्कल की और वैश्य को ऊन वा शण की मेखला होनी चाहिये।

❀ ब्राह्मण के बालक को खड़ा रख के भूमि से ललाट के केशों तक पलाश वा बिल्व वृक्ष का, क्षत्रिय को वट वा खदिर का ललाट भ्रू तक, वैश्य को पीलू अथवा गूलर वृक्ष का नासिका के अग्रभाग तक दण्ड-प्रमाण और वे दण्ड चिकने सूधे हों, अग्नि में जले, टेढ़े कीड़ों के खाये हुए न हों। और एक-एक मृग चर्म उनके बैठने के लिये, एक-एक जलपात्र, एक-एक उपपात्र और एक-एक आचमनीय सब ब्रह्मचारियों को देना चाहिये।

इस मन्त्र को बोल के, आचार्य के हाथ से दण्ड ले लेवे।

तत्पश्चात् पिता ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्याश्रम का साधारण उपदेश करे।

ब्रह्मचार्यसि असौ + ॥ १ ॥ अपोऽशान ॥ २ ॥ कर्म कुरु ॥ ३ ॥ दिवा मा स्वाप्सीः ॥ ४ ॥ आचार्याधीनो वेदमधीष्व ॥ ५ ॥

द्वादश वर्षाणि प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं गृहाण वा ब्रह्मचर्यं चर ॥ ६ ॥

आचार्याधीनो भवान्यत्राधर्माचरणात् ॥ ७ ॥ क्रोधानृते वर्जय ॥ ८ ॥ मैथुनं वर्जय ॥ ९ ॥ उपरि शय्यां वर्जय ॥ १० ॥ कौशीलवगन्धाञ्जनानि वर्जय ॥ ११ ॥

अत्यन्तं स्नानं भोजनं निद्रां जागरणं निन्दां लोभमोहभयशोकान् वर्जय ॥ १२ ॥ प्रतिदिनं रात्रेः पश्चिमे यामे चोत्थायावश्यकं कृत्वा दन्तधावनस्नानसन्ध्योपासनेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना-योगाभ्यासान्नित्य-माचर ॥ १३ ॥ क्षुरकृत्यं वर्जय ॥ १४ ॥ मांसरूक्षाहारं मद्यादिपानं च वर्जय ॥ १५ ॥ गवाश्वहस्त्युष्ट्रादियानं वर्जय ॥ १६ ॥ अन्तर्ग्रामनि-वासोपानच्छत्रधारणं वर्जय ॥ १७ ॥ अकामतः स्वयमिन्द्रियस्पर्शेन वीर्य-स्खलनं विहाय वीर्यं शरीरे संरक्ष्योर्ध्वरेताः सततं भव ॥ १८ ॥ तैला-भ्यङ्गमर्दनात्यम्लातितिक्तकषायक्षाररेचनद्रव्याणि मा सेवस्व ॥ १९ ॥ नित्यं युक्ताहारविहारवान् विद्योपार्जने च यत्नवान् भव ॥ २० ॥ सुशीलो मितभाषी सभ्यो भव ॥ २१ ॥ मेखलादण्डधारणभैक्ष्यचर्य-समिदाधानोदकस्पर्शनाचार्यप्रियाचरणप्रातःसायमभिवादनविद्यासंचय-जितेन्द्रियत्वादीन्येते ते नित्यधर्माः ॥ २२ ॥

अर्थः—तू आज से ब्रह्मचारी है ॥ १ ॥ नित्यसन्ध्योपासन, भोजन के पूर्व शुद्ध जल का आचमन किया कर ॥ २ ॥ दुष्ट कर्मों को छोड़ धर्म किया कर ॥ ३ ॥ दिन में शयन कभी मत कर ॥ ४ ॥ आचार्य के आधीन रह के नित्य साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़ने में पुरुषार्थ किया कर ॥ ५ ॥ एक-एक साङ्गोपाङ्ग वेद के लिये बारह-बारह वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य अर्थात् ४८ वर्ष

+ 'असौ' इस पद के स्थान में ब्रह्मचारी का नाम सर्वत्र उच्चारण करे।

तक वा जब तक साङ्गोपाङ्ग चारों वेद पूरे होवें, तब तक अखण्डित ब्रह्मचर्य कर ॥ ६ ॥ आचार्य के आधीन धर्माचरण में रहा कर, परन्तु यदि आचार्य अधर्माचरण वा अधर्म करने का उपदेश करे, उसको तू कभी मत मान और उसका आचरण मत कर ॥ ७ ॥ क्रोध और मिथ्याभाषण करना छोड़ दे ॥ ८ ॥ आठ* प्रकार के मैथुन को छोड़ देना ॥ ९ ॥ भूमि में शयन करना, पलङ्ग आदि पर कभी न सोना ॥ १० ॥ कौशीलव अर्थात् गाना, बजाना तथा नृत्य आदि निन्दित कर्म, गन्ध और अञ्जन का सेवन मत कर ॥ ११ ॥ अति स्नान, अति भोजन, अधिक निद्रा, अधिक जागरण, निन्दा, लोभ, मोह, भय, शोक का ग्रहण कभी मत कर ॥ १२ ॥ रात्रि के चौथे प्रहर में जाग, आवश्यक शौचादि दन्तधावन, स्नान, सन्ध्योपासन, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना, योगाभ्यास का आचरण नित्य किया कर ॥ १३ ॥ क्षौर मत करा ॥ १४ ॥ मांस, रूखा, शुष्क अन्न मत खावे और मद्यादि मत पीवे ॥ १५ ॥ बैल, घोड़ा, हाथी, ऊँट आदि की सवारी मत कर ॥ १६ ॥ गांव में निवास, जूता और छत्र का धारण मत कर ॥ १७ ॥ लघुशंका के बिना उपस्थ इन्द्रिय के स्पर्श से वीर्यस्खलन कभी न करके वीर्य को शरीर में रख के निरन्तर ऊर्ध्वरेता अर्थात् नीचे वीर्य को मत गिरने दे, इस प्रकार यत्न से वर्त्ता कर ॥ १८ ॥ तैलादि से अङ्गमर्दन, उबटना; अति खट्टा, अमली आदि, अति तीखा लालमिर्ची आदि, कसैला हरड़ें आदि, क्षार अधिक लवण आदि और रेचक जमालगोटा आदि द्रव्यों का सेवन मत कर ॥ १९ ॥ नित्य युक्ति से आहार विहार करके विद्याग्रहण में यत्नशील हो ॥ २० ॥ सुशील, थोड़े बोलने वाला, सभा में बैठने योग्य गुण ग्रहण कर ॥ २१ ॥ मेखला और दण्ड का धारण, भिक्षाचरण, अग्निहोत्र, स्नान, सन्ध्योपासन, आचार्य का प्रियाचरण, प्रातः-सायं आचार्य को नमस्कार करना, ये तेरे नित्य करने के और जो निषेध किये वे नित्य न करने के हैं ॥ २२ ॥

---

* स्त्री का ध्यान, कथा, स्पर्श, क्रीड़ा, दर्शन, आलिङ्गन, एकान्तवास और समागम, यह आठ प्रकार का मैथुन कहाता है, जो इनको छोड़ देता है, वही ब्रह्मचारी होता है।

जब यह उपदेश पिता कर चुके, तब बालक पिता को नमस्कार कर हाथ जोड़ के कहे कि जैसा आपने उपदेश किया वैसा ही करूँगा ।

तत्पश्चात् ब्रह्मचारी यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके कुण्ड के पश्चिम भाग में खड़ा रह के माता, पिता, बहिन, भाई, मामा, मौसी, चाचा आदि से लेके जो भिक्षा देने में नकार न करें। उनसे भिक्षा ‡ मांगे, और जितनी भिक्षा मिले वह आचार्य के आगे धर देनी। तत्पश्चात् आचार्य उसमें से कुछ थोड़ा सा अन्न लेके वह सब भिक्षा बालक को दे देवे। और वह बालक उस भिक्षा को अपने भोजन के लिये रख छोड़े।

तत्पश्चात् बालक को शुभासन पर बैठा के पृष्ठ २८-२९ में लि० वामदेव्य-गान को करना। तत्पश्चात् बालक पूर्व रक्खी हुई भिक्षा का भोजन करे। पश्चात् सायंकाल तक विश्राम और गृहाश्रम संस्कार में लिखा सन्ध्योपासन आचार्य बालक के हाथ से करावे।

और पश्चात् ब्रह्मचारी सहित आचार्य कुण्ड के पश्चिम भाग में आसन पर पूर्वाभिमुख बैठे और स्थालीपाक अर्थात् पृष्ठ १७ में लि० भात बना, उस में घी डाल, पात्र में रख पृष्ठ २२-२३ में लि० समिदाधान कर पुनः समिधा प्रदीप्त कर आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और व्याहृति आहुति ४ चार दोनों मिल के ८ आठ आज्याहुति देनी।

तत्पश्चात् ब्रह्मचारी खड़ा हो के पृष्ठ ८६ में **"ओम् अग्ने सुश्रवः"** इस मन्त्र से तीन समिधा की आहुति देवे। तत्पश्चात् बालक बैठ के यज्ञकुण्ड के अग्नि से अपना हाथ तपा पृष्ठ ८७ में पूर्ववत् मुख का स्पर्श करके अङ्ग-स्पर्श करना।

तत्पश्चात् पृष्ठ १७ में लि० प्र० बनाये हुए भात को बालक आचार्य को होम और भोजन के लिये देवे। पुनः आचार्य उस भात में से आहुति के अनु-

---

‡ ब्राह्मण का बालक यदि पुरुष से भिक्षा मांगे तो "भवान् भिक्षां ददातु" और जो स्त्री से मांगे तो "भवती भिक्षां ददातु" और क्षत्रिय का बालक "भिक्षां भवान् ददातु" और स्त्री से "भिक्षां भवती ददातु" वैश्य का बालक "भिक्षां ददातु भवान्" और "भिक्षां ददातु भवती" ऐसा वाक्य बोले।

मान भात को स्थाली में ले के उसमें घी मिला—

ओं सद॑स॒स्पति॒मद्भु॑तं प्रि॒यमिन्द्र॑स्य॒ काम्य॑म् ।
स॒निं मे॒धाम॑यासिष॒ꣳ स्वाहा॑ ॥ इदं सदसस्पतये--इदन्न मम ॥१॥

तत्स॑वि॒तुर्वरे॑ण्यं॒ भर्गो॑ दे॒वस्य॑ धीमहि ।
धियो॒ यो नः॑ प्रचो॒दया॑त् ॥ इदं सवित्रे--इदन्न मम ॥ २ ॥

ओम् ऋषिभ्यः स्वाहा ॥ इदम् ऋषिभ्यः—इदन्न मम ॥ ३ ॥

इन तीन मन्त्रों से तीन और पृष्ठ २५ में लि० (**ओं यदस्य कर्मणो०**) इस मन्त्र से चौथी आहुति देवे । तत्पश्चात् पृष्ठ २५ में लि० व्याहृति आहुति ४ चार पृष्ठ २७ में (**ओं त्वं नो०**) इन ८ आठ मन्त्रों से आज्याहुति ८ आठ मिलके १२ बारह आज्याहुति देके, ब्रह्मचारी शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठ के पृष्ठ २८-२९ लि० वामदेव्यगान आचार्य के साथ करके—

अमुकगोत्रोत्पन्नोऽहं भो भवन्तमभिवादये ॥

ऐसा वाक्य बोल के आचार्य्य का वन्दन करे। और आचार्य्य—

आयुष्मान् विद्यावान् भव सौम्य ॥

ऐसा आशीर्वाद देके, पश्चात् होम से बचे हुए हविष्य अन्न और दूसरे भी सुन्दर मिष्टान्न का भोजन आचार्य के साथ अर्थात् पृथक्-पृथक् बैठ के करे। तत्पश्चात् हस्त-मुख-प्रक्षालन करके संस्कार में निमन्त्रण से जो आये हों उनको यथायोग्य भोजन करा, तत्पश्चात् स्त्रियों को स्त्री और पुरुषों को पुरुष प्रीतिपूर्वक विदा करें। और सब जने बालक को निम्नलिखित—

हे बालक ! त्वमीश्वरकृपया विद्वान् शरीरात्मबलयुक्तः कुशली वीर्यवान-रोगः सर्वा विद्या अधीत्याऽस्मान् दिदृक्षुः सन्नागम्याः ॥

ऐसा आशीर्वाद दे के अपने अपने घर को चले जायें।

तत्पश्चात् ब्रह्मचारी ३ तीन दिन तक भूमि में शयन, प्रातःसायं ८६ में लि० (**ओमग्ने सुश्रवः०**) इस मन्त्र से समिधा होम और पृष्ठ ८७ में लि० मुख आदि अङ्गस्पर्श आचार्य करावे। तथा तीन दिन तक (**सदसस्पति०**)

इत्यादि पृष्ठ ९३ में लि० ४ चार स्थालीपाक की आहुति पूर्वोक्त रीति से ब्रह्मचारी के हाथ से करवावे और ३ तीन दिन तक क्षार लवण रहित पदार्थ का भोजन ब्रह्मचारी किया करे।

तत्पश्चात् पाठशाला में जाके गुरु के समीप विद्याभ्यास करने के समय की प्रतिज्ञा करे तथा आचार्य भी करे।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥१॥
इयं समित्पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकाँस्तपसा पिपर्ति ॥ २ ॥
ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥३॥
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ ४ ॥
ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम् ॥ ५ ॥
ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥६॥

अथर्व० कां० ११। सू० ५॥

संक्षेप से भावार्थ—आचार्य ब्रह्मचारी को प्रतिज्ञापूर्वक समीप रख के ३ तीन रात्रि पर्य्यन्त गृहाश्रम के प्रकरण में लिखे सन्ध्योपासनादि सत्पुरुषों के आचार की शिक्षा कर उस के आत्मा के भीतर गर्भरूप विद्या स्थापन करने के लिये उस को धारण कर और उस को पूर्ण विद्वान् कर देता और जब वह पूर्ण ब्रह्मचर्य और विद्या को पूर्ण करके घर को आता है तब उस को देखने के लिये सब विद्वान् लोग सन्मुख जाकर बड़ा मान्य करते हैं ॥ १ ॥

जो यह ब्रह्मचारी वेदारम्भ के समय तीन समिधा अग्नि में होम कर ब्रह्म-

चर्य के व्रत का नियमपूर्वक सेवन करके विद्या पूर्ण करने को दृढ़ोत्साही होता है, वह जानो पृथिवी, सूर्य और अन्तरिक्ष के सदृश सब का पालन करता है, क्योंकि वह समिदाधान, मेखलादि चिह्नों का धारण और परिश्रम से विद्या पूर्ण करके इस ब्रह्मचर्यानुष्ठानरूप तप से सब लोगों को सद्‌गुण और आनन्द से तृप्त कर देता है ॥ २ ॥

जब विद्या से प्रकाशित और मृगचर्मादि धारण कर दीक्षित होके (**दीर्घ-श्मश्रुः**) ४० चालीस वर्ष तक डाढ़ी मूंछ आदि पञ्चकेशों का धारण करने वाला ब्रह्मचारी होता है, वह पूर्व समुद्ररूप ब्रह्मचर्यानुष्ठान को पूर्ण करके गुरु-कुल से उत्तर समुद्र अर्थात् गृहाश्रम को शीघ्र प्राप्त होता है। वह सब लोगों का संग्रह करके बारम्बार पुरुषार्थ और जगत् को सत्योपदेश से आनन्दित कर देता है ॥ ३ ॥

वसी राजा उत्तम होता है, जो पूर्ण ब्रह्मचर्यरूप तपश्चरण से पूर्ण विद्वान् सुशिक्षित सुशील जितेन्द्रिय होकर राज्य का विविध प्रकार से पालन करता है और वही विद्वान् ब्रह्मचारी की इच्छा करता और आचार्य हो सकता है जो यथावत् ब्रह्मचर्य से सम्पूर्ण विद्याओं को पढ़ता है ॥ ४ ॥

जैसे लड़के पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण विद्या पढ़ पूर्ण ज्वान हो के अपने सदृश कन्या से विवाह करें वैसे कन्या भी अखण्ड ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़, पूर्ण युवति हो अपने तुल्य पूर्ण युवावस्था वाले पति को प्राप्त होवे ॥ ५ ॥

जब ब्रह्मचारी ब्रह्म अर्थात् साङ्गोपाङ्ग चारों वेदों को शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के ज्ञानपूर्वक धारण करता है, तभी प्रकाशमान होता, उस में सम्पूर्ण दिव्य गुण निवास करते और सब विद्वान् उससे मित्रता करते हैं। वह ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य ही से प्राण, दीर्घजीवन, दुःख-क्लेशों का नाश, सम्पूर्ण विद्याओं में व्यापकता, उत्तम वाणी, पवित्र आत्मा, शुद्ध हृदय, परमात्मा और श्रेष्ठ प्रज्ञा को धारण करके सब मनुष्यों के हित के लिये सब विद्याओं का प्रकाश करता है ॥६॥

ब्रह्मचर्यकाल

इस में छान्दोग्योपनिषद् के तृतीय प्रपाठक के सोलहवें खण्ड का प्रमाण—

मातृमान् पितृमानाचार्य्यवान् पुरुषो वेद ॥ १ ॥

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विशꣳतिर्वर्षाणि तत् प्रातःसवनं चतुर्विशꣳत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदꣳसर्वं वासयन्ति ॥ २ ॥

तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिनꣳ सवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ ३ ॥

अथ यानि चतुश्चत्वारिꣳशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनꣳ सवनं चतुश्चत्वारिꣳशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनꣳ सवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदꣳ सर्वꣳ रोदयन्ति ॥ ४ ॥

तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनꣳसवनं तृतीयसवनमनुसन्तनुतेति माहम्प्राणानांꣳ रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ ५ ॥

अथ यान्यष्टाचत्वारिꣳशद्वर्षाणि तत् तृतीयसवनमष्टाचत्वारिꣳशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीद ꣳ सर्वमाददते ॥ ६ ॥

तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसन्तनुतेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति ॥ ७ ॥

अर्थः—जो बालक को ५ पांच वर्ष की आयु तक माता, पांच से ८ आठ तक पिता, ८ से ४८ अड़तालीस, ४४ चवालीस, ४० चालीस, ३६ छत्तीस, ३० तीस तक अथवा २५ पच्चीस वर्ष तक तथा कन्या को ८ आठ से २४ चौबीस, २२ बाईस, २०, १८ अठारह अथवा सोलह वर्ष तक आचार्य की शिक्षा प्राप्त हो तभी पुरुष वा स्त्री विद्यावान् होकर धर्मार्थ काम मोक्ष के व्यवहारों में अतिचतुर होते हैं ॥ १ ॥

यह मनुष्य-देह यज्ञ अर्थात् अच्छे प्रकार इसी को आयु बल आदि से

सम्पन्न करने के लिये छोटे से छोटा यह पक्ष है कि २४ चौबीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य पुरुष और १६ सोलह वर्ष तक स्त्री ब्रह्मचर्याश्रम यथावत् पूर्ण, जैसे २४ चौबीस अक्षर का गायत्री छन्द होता है वैसे करे। वह प्रातःसवन कहाता है, जिस से इस मनुष्यदेह के मध्य वसुरूप प्राण प्राप्त होते हैं, जो बलवान् होकर सब शुभ गुणों को शरीर, आत्मा और मन के बीच में वास कराते हैं ॥ २ ॥

जो कोई इस २५ पच्चीस वर्ष के आयु से पूर्व ब्रह्मचारी को विवाह वा विषयभोग करने का उपदेश करे, उस को वह ब्रह्मचारी यह उत्तर देवे कि देख, यदि मेरे प्राण, मन और इन्द्रिय २५ पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य से बलवान् न हुए तो मध्यम सवन जो कि आगे ४४ चवालीस वर्ष तक का ब्रह्मचर्य कहा है उस को पूर्ण करने के लिये मुझ में सामर्थ्य न हो सकेगा, किन्तु प्रथम कोटि का ब्रह्मचर्य मध्यम कोटि के ब्रह्मचर्य को सिद्ध करता है, इसलिये क्या मैं तुम्हारे सदृश मूर्ख हूँ कि जो इस शरीर, प्राण, अन्तःकरण और आत्मा के संयोगरूप सब शुभ गुण, कर्म और स्वभाव के साधन करने वाले इस संघात को शीघ्र नष्ट करके अपने मनुष्य-देह धारण के फल से विमुख रहूँ ? और सब आश्रमों के मूल, सब उत्तम कर्मों में उत्तम कर्म और सब के मुख्य कारण ब्रह्मचर्य को खण्डित करके महादुःखसागर में कभी डूबूं ? किन्तु जो प्रथम आयु में ब्रह्मचर्य करता है, वह ब्रह्मचर्य के सेवन से विद्या को प्राप्त होके निश्चित रोगरहित होता है, इसलिये तुम मूर्ख लोगों के कहने से ब्रह्मचर्य का लोप मैं कभी न करूँगा ॥ ३ ॥

और जो ४४ चवालीस वर्ष तक अर्थात् जैसा ४४ चवालीस अक्षर का त्रिष्टुप् छन्द होता है तद्वत् जो मध्यम ब्रह्मचर्य करता है, वह ब्रह्मचारी रुद्ररूप प्राणों को प्राप्त होता है कि जिस के आगे किसी दुष्ट की दुष्टता नहीं चलती और वह सब दुष्ट कर्म करने वालों को सदा रुलाता रहता है ॥ ४ ॥

यदि मध्यम ब्रह्मचर्य के सेवन करने वाले से कोई कहे कि तू इस ब्रह्मचर्य को छोड़ विवाह करके आनन्द को प्राप्त हो, उस को ब्रह्मचारी यह उत्तर देवे कि जो सुख अधिक ब्रह्मचर्याश्रम के सेवन से होना और विषय सम्बन्धी भी अधिक आनन्द होता है, वह ब्रह्मचर्य को न करने से स्वप्न में भी नहीं प्राप्त होता, क्योंकि सांसारिक व्यवहार विषय और परमार्थ सम्बन्धी पूर्ण सुख को ब्रह्मचारी ही

प्राप्त होता है अन्य कोई नहीं। इसलिये मैं इस सर्वोत्तम सुखप्राप्ति के साधन ब्रह्मचर्य का लोप न करके विद्वान्, बलवान्, आयुष्मान्, धर्मात्मा हो के सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त होऊँगा। तुम्हारे निर्बुद्धियों के कहने से शीघ्र विवाह करके स्वयं और अपने कुल को नष्ट भ्रष्ट कभी न करूँगा ॥ ५ ॥

अब ४८ अड़तालीस वर्ष पर्यन्त जैसा कि ४८ अड़तालीस अक्षर का जगती छन्द होता है वैसे इस उत्तम ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या, पूर्ण बल, पूर्ण प्रज्ञा, पूर्ण शुभ गुण, कर्म, स्वभावयुक्त सूर्यवत् प्रकाशमान होकर ब्रह्मचारी सब विद्याओं को ग्रहण करता है ॥ ६ ॥

यदि कोई इस सर्वोत्तम धर्म से गिराना चाहे उसको ब्रह्मचारी उत्तर देवे कि अरे! छोकरों के छोकरे मुझ से दूर रहो। तुम्हारे दुर्गन्धरूप भ्रष्ट वचनों से मैं दूर रहता हूँ। मैं इस उत्तम ब्रह्मचर्य का लोप कभी न करूँगा। इस को पूर्ण करके सर्व रोगों से रहित सर्वविद्यादि शुभ गुण, कर्म, स्वभाव सहित होऊँगा। इस मेरी शुभ प्रतिज्ञा को परमात्मा अपनी कृपा से पूर्ण करे जिस से मैं तुम निर्बुद्धियों को उपदेश और विद्या पढ़ा के विशेष तुम्हारे बालकों को आनन्दयुक्त कर सकूं ॥ ७ ॥

चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं संपूर्णता किञ्चित्परिहाणिश्चेति। तत्राषोडशाद् वृद्धिः। आपञ्चविंशतेर्यौवनम्। आचत्वारिंशतस्सम्पूर्णता। ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति ॥ १ ॥

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडशे।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ॥ २ ॥

यह धन्वन्तरि जी कृत सुश्रुतग्रन्थ का प्रमाण है।

अर्थ—इस मनुष्य-देह की चार अवस्था हैं—एक वृद्धि, दूसरी यौवन, तीसरी सम्पूर्णता, चौथी किञ्चित् परिहाणि करनेहारी अवस्था है। इन में १६ सोलहवें वर्ष आरम्भ २५ पच्चीसवें वर्ष में पूर्तिवाली वृद्धि की अवस्था है। जो कोई इस वृद्धि की अवस्था में वीर्यादि धातुओं का नाश करेगा वह कुल्हाड़े से काटे वृक्ष वा दण्डे से फूटे घड़े के समान अपने सर्वस्व का नाश करके पश्चात्ताप करेगा। पुनः उसके हाथ में सुधार कुछ भी न रहेगा। और दूसरी जो युवावस्था

उसका आरम्भ २५ पच्चीसवें वर्ष से और पूर्ति ४० चालीसवें वर्ष में होती है। जो कोई इस को यथावत् संरक्षित न कर रक्खेगा वह अपनी भाग्यशालीनता को नष्ट कर देवेगा। और तीसरी पूर्ण युवावस्था ४० चालीसवें वर्ष में होती है। जो कोई ब्रह्मचारी होकर पुनः ऋतुगामी, परस्त्रीत्यागी, एकस्त्रीव्रत, गर्भ रहे पश्चात् एक वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी न रहेगा वह भी बना बनाया धूड़ में मिल जायेगा। और चौथी ४० चालीसवें वर्ष से यावत् निर्वीर्य न हो तावत् किञ्चित् हानिरूप अवस्था है। यदि किञ्चित् हानि के बदले वीर्य की अधिक हानि करेगा वह भी राजयक्ष्मा और भगन्दरादि रोगों से पीड़ित हो जायगा। और जो इन चारों अवस्थाओं को यथोक्त सुरक्षित रक्खेगा, वह सर्वदा आनन्दित होकर सब संसार को सुखी कर सकेगा॥

अब इस में इतना विशेष समझना चाहिये कि स्त्री और पुरुष के शरीर में पूर्वोक्त चारों अवस्थाओं का एक सा समय नहीं है, किन्तु जितना सामर्थ्य २५ पच्चीसवें वर्ष में पुरुष के शरीर में होता है, उतना सामर्थ्य स्त्री के शरीर में १६ सोलहवें वर्ष में हो जाता है। यदि बहुत शीघ्र विवाह करना चाहें तो २५ वर्ष का पुरुष और १६ सोलह वर्ष की स्त्री दोनों तुल्य सामर्थ्य वाले होते हैं॥

इस कारण इस अवस्था में जो विवाह करना वह अधम विवाह है। और जो १७ सत्रहवें वर्ष की स्त्री और ३० तीस वर्ष का पुरुष, १८ अठारह वर्ष की 'स्त्री और ३६ छत्तीस वर्ष का पुरुष, १९ उन्नीस वर्ष की स्त्री ३८ अड़तीस वर्ष का पुरुष विवाह करे तो इस को मध्यम समय जानो। और जो २० बीस २१ इक्कीस २२ बाईस वा २४ चौबीस वर्ष की स्त्री ४० चालीस, ४२ बयालीस ४६ छयालीस और ४८ अड़तालीस वर्ष का पुरुष होकर विवाह करे वह सर्वोत्तम है। हे ब्रह्मचारिन्! इन बातों को तू ध्यान में रख जो कि तुझ को आगे के आश्रमों में काम आवेंगी।

जो मनुष्य अपने सन्तान कुल सम्बन्धी और देश की उन्नति करना चाहें वे इन पूर्वोक्त और आगे कही हुई बातों का यथावत् आचरण करें—

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता॥ १॥

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥ २ ॥
एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।
यस्मिन् जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥ ३ ॥
इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥ ४ ॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ५ ॥

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रभावदुष्टस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ ६ ॥
वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥ ७ ॥
यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥ ८ ॥
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥ ९ ॥
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥ १० ॥
न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥ ११ ॥
न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ १२ ॥
यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ १३ ॥
संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ १४ ॥

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ १५ ॥
योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ १६ ॥
यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ १७ ॥
श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥ १८ ॥
विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम्।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥ १९ ॥ मनु० ॥

अर्थ—कान, त्वचा, नेत्र, जीभ, नासिका, गुदा, उपस्थ (मूत्र का मार्ग), हाथ, पग, वाणी ये दश १० इन्द्रिय इस शरीर में हैं ॥ १ ॥

इन में कान आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय और गुदा आदि पांच कर्मेन्द्रिय कहाते हैं ॥ २ ॥

ग्यारहवां इन्द्रिय मन है, वह अपने स्मृति आदि गुणों से दोनों प्रकार के इन्द्रियों से सम्बन्ध करता है कि जिस मन के जीतने में ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों जीत लिये जाते हैं ॥ ३ ॥

जैसे सारथि घोड़े को कुपथ में नहीं जाने देता वैसे विद्वान् ब्रह्मचारी आकर्षण करने वाले विषयों में जाते हुए इन्द्रियों को रोकने में सदा प्रयत्न किया करे ॥ ४ ॥

ब्रह्मचारी इन्द्रियों के साथ मन लगाने से निस्सन्देह दोषी हो जाता है और उन पूर्वोक्त दश इन्द्रियों को वश में करके ही पश्चात् सिद्धि को प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

जिस का ब्राह्मणपन (सम्मान नहीं चाहना वा इन्द्रियों को वश में रखना आदि) बिगड़ा वा जिस का विशेष प्रभाव (वर्णाश्रम के गुण कर्म) बिगड़े हैं, उस पुरुष के वेद पढ़ना, त्याग (संन्यास) लेना, यज्ञ (अग्निहोत्रादि) करना, नियम

(ब्रह्मचर्याश्रम आदि) करना, तप (निन्दा, स्तुति और हानि, लाभ आदि द्वन्द्व का सहन) करना आदि कर्म कदापि सिद्ध नहीं हो सकते, इसलिये ब्रह्मचारी को चाहिये कि अपने नियम धर्मों को यथावत् पालन करके सिद्धि को प्राप्त होवे ॥ ६ ॥

ब्रह्मचारी पुरुष सब इन्द्रियों को वश में कर और आत्मा के साथ मन को संयुक्त करके योगाभ्यास से शरीर को किञ्चित् किञ्चित् पीड़ा देता हुआ अपने सब प्रयोजनों को सिद्ध करे ॥ ७ ॥

बुद्धिमान् ब्रह्मचारी को चाहिये कि यमों का सेवन नित्य करे केवल नियमों का नहीं, क्योंकि यमों❀ को न करता हुआ और केवल नियमों+ का सेवन करता हुआ भी अपने कर्तव्य से पतित हो जाता है, इसलिये यम सेवन पूर्वक नियम सेवन नित्य किया करे ॥ ८ ॥

अभिवादन करने का जिसका स्वभाव और विद्या वा अवस्था में वृद्ध पुरुषों का जो नित्य सेवन करता है, उस की अवस्था, विद्या, कीर्ति और बल इन चारों की नित्य उन्नति हुआ करती है। इसलिये ब्रह्मचारी को चाहिये कि आचार्य, माता, पिता, अतिथि महात्मा आदि अपने बड़ों को नित्य नमस्कार और सेवन किया करे ॥ ९ ॥

अज्ञ अर्थात् जो कुछ नहीं पढ़ा, वह निश्चय करके बालक होता और जो मन्त्रद अर्थात् दूसरे को विचार देने वाला, विद्या पढ़ा, विद्या विचार में निपुण है वह पितास्थानीय होता है, क्योंकि जिस कारण सत्पुरुषों ने अज्ञ जन को बालक कहा और मन्त्रद को पिता ही कहा है इस से प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम— सम्पन्न होकर ज्ञानवान् विद्यावान् अवश्य होना चाहिये ॥ १० ॥

धर्मवेत्ता ऋषिजनों ने न वर्षों, न पके केशों वा झूलते हुए अंगों, न धन

❀ अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। निर्वैरता, सत्य बोलना, चोरी-त्याग, वीर्यरक्षण और विषयभोग में घृणा ये ५ यम हैं।

+ शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।
शौच, सन्तोष, तप (हानि लाभ आदि द्वन्द्व का सहना) स्वाध्याय (वेद का पढ़ना), ईश्वरप्रणिधान (सर्वस्व ईश्वरार्पण) ये पांच नियम कहाते हैं।

श्रौर न बन्धुजनों से बड़प्पन माना, किन्तु यही धर्म निश्चय किया कि जो हम लोगों में वादविवाद में उत्तर देने वाला अर्थात् वक्ता हो वह बड़ा है। इस से ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर विद्यावान् होना चाहिये, जिस से कि संसार में बड़प्पन प्रतिष्ठा पावें और दूसरों को उत्तर देने में अति निपुण हों ॥ ११ ॥

उस कारण से वृद्ध नहीं होता कि जिस से इस का शिर झूल जाय, केश पक जावें। किन्तु जो ज्वान भी पढ़ा हुआ विद्वान् है उस को विद्वानों ने वृद्ध जाना और माना है। इस से ब्रह्मचर्याश्रमसम्पन्न होकर विद्या पढ़नी चाहिये ॥ १२ ॥

जैसे काठ का कठपूतला हाथी वा जैसे चमड़े का बनाया हुआ मृग हो, वैसे विना पढ़ा हुआ विप्र अर्थात् ब्राह्मण वा बुद्धिमान् जन होता है। उक्त वे हाथी, मृग और विप्र तीनों नाममात्र धारण करते हैं। इस कारण ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर विद्या पढ़नी चाहिये ॥ १३ ॥

ब्राह्मण विष के समान उत्तम मान से नित्य उदासीनता रक्खे और अमृत के समान अपमान की आकांक्षा सर्वदा करे अर्थात् ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के लिये भिक्षामात्र मांगते भी कभी मान की इच्छा न करे ॥ १४ ॥

द्विजोत्तम अर्थात् ब्राह्मणादिकों में उत्तम सज्जन पुरुष सर्वकाल तपश्चर्या करता हुआ वेद ही का अभ्यास करे। जिस कारण ब्राह्मण वा बुद्धिमान् जन को वेदाभ्यास करना इस संसार में परम तप कहा है, इस से ब्रह्मचर्याश्रम-सम्पन्न होकर अवश्य वेदविद्याध्ययन करे।

जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वेद को न पढ़कर अन्य शास्त्र में श्रम करता है, वह जीवता ही अपने वंश के सहित शूद्रपन को प्राप्त हो जाता है। इस से ब्रह्मचर्याश्रम-सम्पन्न होकर वेदविद्या अवश्य पढ़े ॥ १६ ॥

जैसे फावड़ा से खोदता हुआ मनुष्य जल को प्राप्त होता है, वैसे गुरु की सेवा करने वाला पुरुष गुरुजनों ने जो पाई हुई विद्या है उस को प्राप्त होता है। इस कारण ब्रह्मचर्याश्रम-सम्पन्न होकर गुरुजन की सेवा कर उन से सुने और वेद पढ़े ॥ १७ ॥

उत्तम विद्या की श्रद्धा करता हुआ पुरुष अपने से न्यून से भी विद्या पावे

तो ग्रहण करे। नीच जाति से भी उत्तम धर्म का ग्रहण करे और निन्द्य कुल से भी स्त्रियों में उत्तम स्त्रीजन का ग्रहण करे, यह नीति है। इस से गृहस्थाश्रम से पूर्व-पूर्व ब्रह्मचर्याश्रम-सम्पन्न होकर कहीं से न कहीं से उत्तम विद्या पढ़े, उत्तम धर्म सीखे और ब्रह्मचर्य के अनन्तर गृहाश्रम में उत्तम स्त्री से विवाह करे क्योंकि ॥ १८ ॥

विष से भी अमृत का ग्रहण करना बालक से भी उत्तम वचन को लेना और नाना प्रकार के शिल्प काम सब से अच्छे प्रकार ग्रहण करने चाहियें। इस कारण ब्रह्मचर्याश्रम-सम्पन्न होकर देश देश पर्यटन कर उत्तम गुण सीखे ॥ १९ ॥

यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम् ॥ १ ॥

तैत्तिरीय० प्रपा० ७। अनु० ११ ॥

ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्त तपो दमस्तपश्शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो ब्रह्मभूर्भुवः सुवर्ब्रह्मै तदुपास्वैतत्तपः ॥ २ ॥

तैत्तिरीय० प्रपा० १०। अनु० ८ ॥

अर्थः—हे शिष्य ! जो आनन्दित पापरहित अर्थात् अन्याय अधर्माचरण रहित न्यायधर्माचरण सहित कर्म हैं, उन्हीं का सेवन तू किया करना, इन से विरुद्ध अधर्माचरण कभी मत करना। हे शिष्य ! जो तेरे माता, पिता, आचार्य आदि हम लोगों के अच्छे धर्मयुक्त उत्तम कर्म हैं उन्हीं का आचरण तू कर और जो हमारे दुष्ट कर्म हों उन का आचरण कभी मत कर। हे ब्रह्मचारिन् ! जो हमारे मध्य में धर्मात्मा, श्रेष्ठ, ब्रह्मवित् विद्वान् हैं, उन्हीं के समीप बैठना, संग करना और उन्हीं का विश्वास किया कर ॥ १ ॥

हे शिष्य ! तू जो यथार्थ का ग्रहण, सत्य मानना, सत्य बोलना, वेदादि सत्य शास्त्रों का सुनना, अपने मन को अधर्माचरण में न जाने देना, श्रोत्रादि इन्द्रियों को दुष्टाचार से रोक श्रेष्ठाचार में लगाना, क्रोधादि के त्याग से शान्त रहना, विद्या आदि शुभ गुणों का दान करना, अग्निहोत्रादि और विद्वानों का संग कर जितने भूमि, अन्तरिक्ष और सूर्यादि लोकों में पदार्थ हैं, उन का यथाशक्ति ज्ञान कर और योगाभ्यास, प्राणायाम, एक ब्रह्म परमात्मा की उपासना

कर, ये सब कर्म करना ही तप कहाता है ॥ २ ॥

ऋतञ्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यञ्च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्या०। दमश्च स्वाध्या०। शमश्च स्वाध्या०। अग्नयश्च स्वाध्या०। अग्निहोत्रं च स्वाध्या०। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥ ३ ॥

तैत्तिरी० प्रपा० ७। अनु० ६ ॥

अर्थः—हे ब्रह्मचारिन्! तू सत्य धारण कर, पढ़ और पढ़ाया कर। और सत्योपदेश करना कभी मत छोड़, सदा सत्य बोल पढ़ और पढ़ाया कर। हर्ष शोकादि छोड़, प्राणायाम योगाभ्यास कर तथा पढ़ और पढ़ाया भी कर। अपने इन्द्रियों को बुरे कामों से हटा अच्छे कामों में चला, विद्या का ग्रहण कर और कराया कर। अपने अन्तःकरण और आत्मा को अन्यायाचरण से हटा, न्यायाचरण में प्रवृत्त कर और करा तथा पढ़ और सदा पढ़ाया कर। अग्निविद्या के सेवनपूर्वक विद्या को पढ़ और पढ़ाया कर। अग्निहोत्र करता हुआ पढ़ और पढ़ाया कर। सत्यवादी होना तप, सत्यवचा राथीतर आचार्य न्यायाचरण में कष्ट सहना तप, तपनित्य पौरुशिष्टि आचार्य और धर्म में चल के पढ़ना पढ़ाना और सत्योपदेश करना ही तप है यह नाको मौद्गल्य आचार्य का मत है। और सब आचार्यों के मत में यही पूर्वोक्त तप है ऐसा तू जान ॥ ३ ॥ इत्यादि उपदेश तीन दिन के भीतर आचार्य वा बालक का पिता करे।

तत्पश्चात् घर को छोड़ गुरुकुल में जावें। यदि पुत्र हो तो पुरुषों की पाठशाला और कन्या हो तो स्त्रियों की पाठशाला में भेजें। यदि घर में वर्णोच्चारण की शिक्षा यथावत् न हुई हो तो आचार्य बालकों को और कन्याओं को स्त्री, पाणिनिमुनिकृत वर्णोच्चारण शिक्षा १ एक महीने के भीतर पढ़ा देवें। पुनः पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी का पाठ पदच्छेद अर्थसहित ८ आठ महीने में अथवा १ एक वर्ष में पढ़ाकर धातुपाठ और दश लकारों के रूप सधवाना तथा दश प्रक्रिया भी सधवानी। पुनः पाणिनिमुनिकृत लिङ्गानुशासन और

उणादि, गणपाठ तथा अष्टाध्यायीस्थ ण्वुल् और तृच् प्रत्ययाद्यन्त सुबन्त रूप ६ छः महीने के भीतर सधवा देवें। पुनः दूसरी वार अष्टाध्यायी, पदार्थोक्ति, समास, शङ्कासमाधान, उत्सर्ग, अपवाद❀ अन्वयपूर्वक पढ़ावें और संस्कृतभाषण का भी अभ्यास कराते जायँ। ८ महीने के भीतर इतना पढ़ना पढ़ाना चाहिये।

तत्पश्चात् पतञ्जलिमुनिकृत महाभाष्य जिस में वर्णोच्चारणशिक्षा, अष्टाध्यायी, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिगण, लिङ्गानुशासन इन ६ छः ग्रन्थों की व्याख्या यथावत् लिखी है, डेढ़ वर्ष में अर्थात् १८ अठारह महीने में इस को पढ़ना पढ़ाना। इस प्रकार शिक्षा और व्याकरण शास्त्र को ३ तीन वर्ष ५ पांच महीने वा ९ नौ महीने अथवा ४ चार वर्ष के भीतर पूरा कर सब संस्कृतविद्या के मर्मस्थलों को समझने के योग्य होवे।

तत्पश्चात् यास्कमुनिकृत निघण्टु, निरुक्त तथा कात्यायनादि मुनिकृत कोश १॥ डेढ़ वर्ष के भीतर पढ़ के, अव्ययार्थ, आप्तमुनिकृत वाच्यवाचकसम्बन्धरूप यौगिक ‡ योगरूढि और रूढि तीन प्रकार के शब्दों के अर्थ यथावत् जानें। तत्पश्चात् पिङ्गलाचार्यकृत पिङ्गलसूत्र छन्दोग्रन्थ भाष्यसहित ३ तीन महीने में पढ़ और तीन महीने में श्लोकादिरचनविद्या को सीखे। पुनः यास्कमुनिकृत काव्यालङ्कारसूत्र, वात्स्यायनमुनिकृत भाष्यसहित, आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्यार्थ, अन्वयसहित पढ़ के इसी के साथ मनुस्मृति, विदुरनीति और किसी प्रकरण में के १० दश सर्ग वाल्मीकीय रामायण के ये सब १ एक वर्ष के भीतर पढ़ें और पढ़ावें।

तथा १ एक वर्ष में सूर्यसिद्धान्तादि में से कोई १ एक सिद्धान्त से गणितविद्या जिस में बीजगणित, रेखागणित और पट्टीगणित जिस को अङ्कगणित भी कहते हैं, पढ़ें और पढ़ावें। निघण्टु से ले के ज्योतिष पर्यन्त वेदाङ्गों को चार

❀ जिस सूत्र का अधिक विषय हो वह उत्सर्ग और जो किसी सूत्र के बड़े विषय में से थोड़े विषय में प्रवृत्त हो वह अपवाद कहाता है।

‡ यौगिक—जो क्रिया के साथ सम्बन्ध रक्खे जैसे पाचक याजकादि। योगरूढि—जैसे पङ्कजादि। रूढि—जैसे धन, वन इत्यादि।

वर्ष के भीतर पढ़ें। तत्पश्चात् जैमिनिमुनिकृत सूत्र पूर्वमीमांसा को व्यासमुनिकृत व्याख्यासहित, कणादमुनिकृत वैशेषिकसूत्ररूप शास्त्र को गोतममुनिकृत प्रशस्तपादभाष्य सहित; वात्स्यायनमुनिकृत भाष्य सहित गोतममुनिकृत सूत्ररूप न्यायशास्त्र; व्यासमुनिकृत भाष्यसहित पतञ्जलिमुनिकृत योगसूत्र योगशास्त्र, भागुरिमुनिकृत भाष्ययुक्त कपिलाचार्यकृत सूत्रस्वरूप सांख्यशास्त्र, जैमिनि वा बौद्धायन आदि मुनिकृत व्याख्यासहित व्यासमुनिकृत शारीरकसूत्र तथा ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक १० दश उपनिषद् व्यासादिमुनिकृत व्याख्यासहित वेदान्तशास्त्र। इन ६ छः शास्त्रों को २ दो वर्ष के भीतर पढ़ लेवे।

तत्पश्चात् बह्वृच्, ऐतरेय, ऋग्वेद का ब्राह्मण, आश्वलायनकृत श्रौत तथा गृह्यसूत्र* और कल्पसूत्र पद क्रम और व्याकरणादि के सहाय से छन्दः, स्वर, पदार्थ, अन्वय, भावार्थ सहित ऋग्वेद का पठन ३ तीन वर्ष के भीतर करे, इसी प्रकार यजुर्वेद को शतपथ ब्राह्मण और पदादि के सहित २ दो वर्ष तथा सामब्राह्मण और पदादि तथा गानसहित सामवेद को २ दो वर्ष तथा गोपथ ब्राह्मण और पदादि के सहित अथर्ववेद २ दो वर्ष के भीतर पढ़ें और पढ़ावें। सब मिल के ९ नौ वर्षों के भीतर ४ चारों वेदों को पढ़ना और पढ़ाना चाहिये। पुनः ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, जिस को वैद्यकशास्त्र कहते हैं, जिस में धन्वन्तरि जी कृत सुश्रुत और निघण्टु तथा पतञ्जलि मुनिकृत चरक आदि आर्ष ग्रन्थ हैं इन को ३ तीन वर्ष के भीतर पढ़ें। जैसे सुश्रुत में शस्त्र लिखे हैं, बनाकर शरीर के सब अवयवों को चीर के देखें तथा जो उस में शारीरकादि विद्या लिखी हैं, साक्षात् करें।

तत्पश्चात्, यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद, जिस को शस्त्रास्त्र विद्या कहते हैं, जिसमें अङ्गिरा आदि ऋषिकृत ग्रन्थ हैं, जो इस समय बहुधा नहीं मिलते, ३ तीन वर्ष में पढ़ें और पढ़ावें। पुनः सामवेद का उपवेद गांधर्ववेद, जिस में नारदसंहितादि ग्रन्थ हैं उन को पढ़ के स्वर, राग रागिणी, समय, वादित्र, ग्राम ताल, मूर्च्छना आदि का अभ्यास यथावत् ३ तीन वर्ष के भीतर करें।

---

* जो ब्राह्मण वा सूत्र वेदविरुद्ध, हिंसापरक हो, उस का प्रमाण न करना।

तत्पश्चात् अथर्ववेद का उपवेद अर्थवेद जिस को शिल्पशास्त्र कहते हैं, जिस में विश्वकर्मा त्वष्टा और मयकृत संहिता ग्रन्थ हैं, उन को ६ छः वर्ष के भीतर पढ़ के विमान, तार भूगर्भादि विद्याओं को साक्षात् करें। ये शिक्षा से ले के आयुर्वेद तक १४ चौदह विद्याओं को ३१ इकत्तीस वर्षों में पढ़ के महाविद्वान् होकर अपने और सब जगत् के कल्याण और उन्नति करने में सदा प्रयत्न किया करें।

इति वेदारम्भसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

अथ समावर्त्तनसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

'समावर्त्तनसंस्कार' उस को कहते हैं कि जो ब्रह्मचर्यव्रत साङ्गोपाङ्ग वेद-विद्या, उत्तम शिक्षा और पदार्थविज्ञान को पूर्णरीति से प्राप्त होके विवाह विधानपूर्वक गृहाश्रम को ग्रहण करने के लिये विद्यालय को छोड़ के घर की ओर आना ॥ इसमें प्रमाण—

वेदसमाप्तिं वाचयीत । कल्याणैः सह सम्प्रयोगः । स्नातकायोपस्थिताय । राज्ञे च । आचार्यश्वशुरपितृव्यमातुलानां च दधनि मध्वानीय । सर्पिर्वा मध्वलाभे । विष्टरः पाद्यमर्घ्यमाचमनीयं मधुपर्कः ॥

यह आश्वालायनगृह्यसूत्र तथा पारस्करगृह्यसूत्र ।

वेदꣳसमाप्य स्नायाद् । ब्रह्मचर्यं वाष्टचत्वारिꣳशकम् । त्रय एव स्नातका भवन्ति । विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति ॥

जब वेदों की समाप्ति हो, तब समावर्त्तनसंस्कार करे । सदा पुण्यात्मा पुरुषों के सब व्यवहारों में साझा रक्खे । राजा आचार्य श्वसुर चाचा और मामा आदि का अपूर्वागमन जब हो और स्नातक अर्थात् जब विद्या और ब्रह्मचर्य पूरण करके ब्रह्मचारी घर को आवे तब प्रथम (पाद्यम्) पग धोने का जल, (अर्घ्यम्) मुखप्रक्षालन के लिये जल और आचमन के लिये जल देके शुभासन पर बैठा, दही में मधु अथवा सहत न मिले तो घी मिला के एक अच्छे पात्र में घर इन को मधुपर्क देना होता है और विद्यास्नातक, व्रतस्नातक तथा विद्याव्रतस्नातक ये तीन ❀ प्रकार के स्नातक होते हैं । इस कारण वेद की समाप्ति और ४८ अड़तालीस वर्ष का ब्रह्मचर्य समाप्त करके ब्रह्मचारी विद्याव्रतस्नान करे ॥

❀ जो केवल विद्या को समाप्त तथा ब्रह्मचर्य व्रत को न समाप्त करके स्नान करता है वह विद्यास्नातक, जो ब्रह्मचर्य व्रत को समाप्त तथा विद्या को न समाप्त करके स्नान करता है, वह व्रतस्नातक और जो विद्या तथा ब्रह्मचर्य व्रत दोनों को समाप्त करके स्नान करता है वह विद्याव्रतस्नातक कहाता है ।

तानि कल्पंद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत्तप्यमानः समुद्रे ।
स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥ ४ ॥

अथर्व० कां० ११ । प्रपा० २४ । सू० १ । वर्ग १६ । मं० २६ ॥

अर्थः—जो ब्रह्मचारी समुद्र के समान गम्भीर, बड़े उत्तम व्रत ब्रह्मचर्य में निवास कर महातप को करता हुआ, वेदपठन, वीर्यनिग्रह, आचार्य के प्रियाचरणादि कर्मों को पूरा कर पश्चात् पृष्ठ १११ में लिखे अनुसार स्नानविधि करके पूर्ण विद्याओं को धरता सुन्दर वर्णयुक्त होके पृथिवी में अनेक शुभ, गुण, कर्म और स्वभाव से प्रकाशमान होता है वही धन्यवाद के योग्य है ।

इसका समय—पृष्ठ ९८-९९ तक में लिखे प्रमाणे जानना परन्तु जब विद्या, हस्तक्रिया, ब्रह्मचर्य व्रत भी पूरा होवे तभी गृहाश्रम की इच्छा स्त्री और पुरुष करें । विवाह के स्थान दो हैं एक आचार्य का घर, दूसरा अपना घर । दोनों ठिकानों में से किसी एक ठिकाने, आगे विवाह में लिखे प्रमाणे सब विधि करे । इस संस्कार का विधि पूरा करके पश्चात् विवाह करे ।

विधि—जो शुभ दिन समावर्त्तन का नियत करे उस दिन आचार्य के घर में पृष्ठ १५ में लिखे यज्ञकुण्ड आदि बना के सब साकल्य और सामग्री संस्कार दिन से पूर्व दिन में जोड़ रक्खे और स्थालीपाक* बना के तथा घृतादि और पात्रादि यज्ञशाला में वेदी के समीप रक्खे । पुनः पृष्ठ २१-२२ में लिखे० यथावत् ४ चारों दिशाओं में आसन बिछा बैठ पृष्ठ ४ से पृष्ठ १४ तक में ईश्वरोपासना स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण करें । और जितने वहाँ पुरुष आये हों वे भी एकाग्रचित्त होके ईश्वर के ध्यान में मग्न होवें । तत्पश्चात् पृष्ठ २२-२४ में अग्न्याधान समिदाधान करके पृष्ठ २४ में वेदी के चारों ओर उदकसेचन करके आसन पर पूर्वाभिमुख आचार्य बैठ के पृष्ठ २५ में आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और पृष्ठ २५ में व्याहृति आहुति ४ चार और पृष्ठ २७ में अष्टाज्याहुति ८ आठ और पृष्ठ २५-२६ में स्विष्टकृत् आहुति १ एक और प्राजापत्याहुति १ एक ये सब मिलके १८ अठारह आज्याहुति देनी । तत्पश्चात् ब्रह्मचारी पृष्ठ ८६ में (ओम् अग्ने सुश्रवः०) इस मन्त्र से कुण्ड का अग्नि कुण्ड के मध्य में इकट्ठा करे ।

* जो कि पूर्व पृष्ठ १७- में लिखे प्रमाणे भात आदि बनाकर रखना ।

तत्पश्चात् पृष्ठ ८६ (**ओं अग्नये समिध०**) इस मन्त्र से कुण्ड में ३ तीन समिधा होम कर पृष्ठ ८७ में (**ओं तनूपा०**) इत्यादि ७ सात मन्त्रों से दक्षिण हस्ताञ्जली आगी पर थोड़ी सी तपा, उस जल से मुखस्पर्श और तत्पश्चात् पृष्ठ ८७ में (**ओं वाक् च म०**) इत्यादि मन्त्रों से उक्त प्रमाणे अङ्गस्पर्श करे, पुनः सुगन्धादि ओषधयुक्त जल से भरे हुए ८ आठ घड़े वेदी के उत्तरभाग में जो पूर्व से रक्खे हुए हों, उन घड़ों में से—

ओं ये अप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा गोह्य उपगोह्यो मयूषो मनोहास्खलो विरुजस्तनूदुषुरिन्द्रियहा तान् विजहामि यो रोचनस्तमिह गृह्णामि ॥

इस मन्त्र को पढ़, एक घड़े को ग्रहण करके उस घड़े में से जल लेके—

ओं तेन मामभिषिञ्चामि श्रियै यशसे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय ॥

इस मन्त्र को बोल के स्नान करना ।

तत्पश्चात् उपरि कथित (**ओं ये अप्स्वन्तर०**) इस मन्त्र को बोल के दूसरे घड़े को ले उस में से लोटे में जल ले के—

ओं येन श्रियमकृणुतां येनावमृशताꣳ सुराम् ।
येनाक्ष्यावभ्यसिञ्चतां यद्वां तदश्विना यशः ॥

इस मन्त्र को बोल के स्नान करना। तत्पश्चात् पूर्ववत् ऊपर के (**ओं ये अप्स्वन्तर०**) इसी मन्त्र का पाठ बोल के वेदी के उत्तर में रक्खे घड़ों में से ३ तीन घड़ों को लेके पृष्ठ ८१ में लिखे हुए (**ओम् आपो हि ष्ठा०**) इन ३ तीन मन्त्रों को बोल के उन घड़ों के जल से स्नान करना। तत्पश्चात् ८ आठ घड़ों में से रहे हुए ३ तीन घड़ों को ले के (**ओम् आपो हिष्ठा०**) इन्हीं तीन मन्त्रों को मन में बोल के स्नान करे। पुनः—

ओम् उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमꣳ श्रथाय ।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसोऽअदितये स्याम ॥

इस मन्त्र को बोल के ब्रह्मचारी अपनी मेखला और दण्ड को छोड़े। तत्पश्चात् वह स्नातक ब्रह्मचारी सूर्य के सन्मुख खड़ा रह कर—

ओम् उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् प्रातर्यावभिरस्थाद्दशसनिरसि दशसनिं मा कुर्वाविदन् मा गमय। उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थाद्दिवा यावभिरस्थाच्छतसनिरसि शतसनिं मा कुर्वाविदन् मा गमय। उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् सायं यावभिरस्थात् सहस्रसनिरसि सहस्रसनिं मा कुर्वाविदन् मा गमय ॥

इस मन्त्र से परमात्मा का उपस्थान स्तुति करके, तत्पश्चात् दही वा तिल प्राशन करके जटा, लोम और नख वपन अर्थात् छेदन करा के—

ओम् अन्नाद्याय व्यूहध्वꣳ सोमो राजाऽयमागमत्।
स मे मुखं प्रमार्क्ष्यते यशसा च भगेन च ॥

इस मन्त्र को बोल के ब्रह्मचारी उदुम्बर की लकड़ी से दन्तधावन करे—

तत्पश्चात् सुगन्धि द्रव्य शरीर पर मल के शुद्ध जल से स्नान कर शरीर को पोंछ अधोवस्त्र अर्थात् धोती वा पीताम्बर धारण करके सुगन्धयुक्त चन्दनादि का अनुलेपन करे। तत्पश्चात् चक्षु मुख नासिका के छिद्रों का—

ओं प्राणापानौ मे तर्पय चक्षुर्मे तर्पय श्रोत्रं मे तर्पय ॥

इस मन्त्र से स्पर्श करके हाथ में जल ले, अपसव्य और दक्षिणमुख होके—

ओं पितरः शुन्धध्वम् ॥

इस मन्त्र से जल भूमि पर छोड़ के सव्य होके—

ओं सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासꣳ सुवर्चा मुखेन।
सुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासम्।

इस मन्त्र का जप करके—

ओं परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि।
शतं च जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये ॥

इस मन्त्र से सुन्दर, अतिश्रेष्ठ वस्त्र धारण करके—

ओं यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती ।
यशो भगश्च मा विदद्यशो मा प्रतिपद्यताम् ।।

इस मन्त्र से उत्तम उपवस्त्र धारण करके—

ओं या आहरज्जमदग्निः श्रद्धायै कामायेन्द्रियाय ।
ता अहं प्रतिगृह्णामि यशसा च भगेन च ।।

इस मन्त्र से सुगन्धित पुष्पों की माला लेके—

ओं यद्यशोऽप्सरसामिन्द्रश्चकार विपुलं पृथु ।
तेन सङ्ग्रथिताः सुमनस आबध्नामि यशो मयि ।।

इस मन्त्र से धारण करनी ।

पुनः शिरोवेष्टन अर्थात् पगड़ी, दुपट्टा और टोपी आदि अथवा मुकुट हाथ में लेके पृष्ठ ८२ में लि० '**ओं युवा सुवासाः०**' इस मन्त्र से धारण करे ।

उसके पश्चात् अलङ्कार लेके—

ओम् अलङ्करणमसि भूयोऽलङ्करणं भूयात् ।।

इस मन्त्र से धारण करे । और—

ओं वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहि ।।

इस मन्त्र से आंख में अञ्जन करना । तत्पश्चात्—

ओं रोचिष्णुरसि ।।

इस मन्त्र से दर्पण में मुख अवलोकन करे । तत्पश्चात्—

ओं बृहस्पतेश्छदिरसि पाप्मनो मामन्तर्धेहि तेजसो यशसो मामन्तर्धेहि ।।

इस मन्त्र से छत्र धारण करे । पुनः—

ओं प्रतिष्ठे स्थो विश्वतो मा पातम् ।।

इस मन्त्र से उपानह, पादवेष्टन पगरखा और जिस को जोड़ा भी कहते हैं, धारण करे । तत्पश्चात्—

ओं विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्परिपाहि सर्वतः ।।

इस मन्त्र से बांस आदि की एक सुन्दर लकड़ी हाथ में धारण करनी ।

तत्पश्चात् ब्रह्मचारी के माता पिता आदि जब वह आचार्य कुल से अपना पुत्र घर को आवे, उस को बड़े मान्य प्रतिष्ठा, उत्सव, उत्साह से अपने घर पर ले आवें। घर पर ला के उन के पिता माता सम्बन्धी बन्धु आदि ब्रह्मचारी का सत्कार पृष्ठ १०६ में लिखे प्र० करें।

पुनः उस संस्कार में आये हुए आचार्य आदि को उत्तम अन्नपानादि से सत्कारपूर्वक भोजन करा के और वह ब्रह्मचारी और उसके माता पितादि आचार्य को उत्तम आसन पर बैठा पूर्वोक्त प्रकार मधुपर्क कर सुन्दर पुष्पमाला, वस्त्र गोदान धन आदि की दक्षिणा यथाशक्ति देके सब के सामने आचार्य के जो कि उत्तम गुण हों उन की प्रशंसा कर और विद्यादान की कृतज्ञता सब को सुनावे—

सुनो भद्रजनो ! इन महाशय आचार्य ने मेरे पर बड़ा उपकार किया है जिस ने मुझ को पशुता से छुड़ा उत्तम विद्वान् बनाया है उस का प्रत्युपकार मैं कुछ भी नहीं कर सकता। इस के बदले में अपने आचार्य को अनेक धन्यवाद दे नमस्कार कर प्रार्थना करता हूँ कि जैसे आप ने मुझ को उत्तम शिक्षा और विद्यादान दे के कृतकृत्य किया, उसी प्रकार अन्य विद्यार्थियों को भी कृतकृत्य करेंगे। और जैसे आप ने मुझ को उत्तम विद्या देके आनन्दित किया है, वैसे मैं भी अन्य विद्यार्थियों को कृतकृत्य और आनन्दित करता रहूँगा, और आपके किये उपकार को कभी न भूलूँगा।

सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर आप मुझ और सब पढ़ने पढ़ानेहारे तथा सब संसार पर अपनी कृपादृष्टि से सब को सभ्य, विद्वान, शरीर और आत्मा के बल से युक्त परोपकारादि शुभ कर्मों की सिद्धि करने कराने में चिरायु, स्वस्थ, पुरुषार्थी, उत्साही करे कि जिस से इस परमात्मा की सृष्टि में उस के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल अपने गुण कर्म स्वभावों को करके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि कर करा के सदा आनन्द में रहें।

इति समावर्त्तनसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

अथ विवाहसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

'विवाह' उस को कहते हैं कि जो पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत, विद्या, बल को प्राप्त तथा सब प्रकार से शुभ गुण, कर्म, स्वभावों में तुल्य परस्पर प्रीतियुक्त हो के निम्नलिखित प्रमाणे सन्तानोत्पत्ति और अपने अपने वर्णाश्रम के अनुकूल उत्तम कर्म करने के लिये स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध होता है। इसमें प्रमाण—

उदगयन आपूर्य्यमाणपक्षे पुण्ये नक्षत्रे ‡ चौलकर्मोपनयनगोदानविवाहाः ॥ १ ॥ सार्वकालमेके विवाहम् ॥ २ ॥

यह आश्वलायन गृह्यसूत्र और—

आवसथ्याधानं दारकाले ॥ ३ ॥

इत्यादि पारस्कर और

पुण्ये नक्षत्रे दारान् कुर्वीत ॥ ४ ॥

लक्षणप्रशस्तान् कुशलेन ॥ ५ ॥

इत्यादि गोभिलीय गृह्यसूत्र और इसी प्रकार शौनक गृह्यसूत्र में भी है।

अर्थः—उत्तरायण शुक्लपक्ष अच्छे दिन अर्थात् जिस दिन प्रसन्नता हो उस दिन विवाह करना चाहिये ॥ १ ॥ और कितने ही आचार्यों का ऐसा मत है कि सब काल में विवाह करना चाहिये ॥ २ ॥ जिस अग्नि का स्थापन विवाह में होता है उस का आवसथ्य नाम है ॥ ३ ॥ प्रसन्नता के दिन स्त्री का पाणिग्रहण, जो कि स्त्री सर्वथा शुभ गुणादि से उत्तम हो, करना चाहिये ॥ ४—५ ॥

इस का समय—पृष्ठ ६५-६६ तक में जानना चाहिये। वधू और वर का आयु, कुल वास्तव्यस्थान, शरीर और स्वभाव की परीक्षा अवश्य करें, अर्थात् दोनों सज्ञान और विवाह की इच्छा करने वाले हों। स्त्री की आयु से वर की आयु न्यून से न्यून डेढ़ी और अधिक से अधिक दूनी होवे। परस्पर कुल की परीक्षा भी करनी चाहिये। इस में प्रमाण—

---

‡ यह नक्षत्रादि का विचार कल्पनायुक्त है, इस से प्रमाण नहीं।

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥ १ ॥
गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥ २ ॥
असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥ ३ ॥
महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः ।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥ ४ ॥
हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥ ५ ॥
नोद्वहेत् कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम् ।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम् ॥ ६ ॥
नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥ ७ ॥
अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम् ॥ ८ ॥
ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ ९ ॥
आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम् ।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्त्तितः ॥ १० ॥
यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलङ्कृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥ ११ ॥
एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥ १२ ॥
सह नौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च ।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥ १३ ॥

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।
कन्याप्रदानं विधिवदासुरो धर्म उच्यते ॥ १४ ॥
इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ॥ १५ ॥
हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥ १६ ॥
सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ १७ ॥
ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः ।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसंमताः ॥ १८ ॥
रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः ।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥ १९ ॥
इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः ।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥ २० ॥
अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा ।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान् विवर्जयेत् ॥ २१ ॥

अर्थः—ब्रह्मचर्य से ४ चार, ३ तीन, २ दो अथवा १ एक वेद को यथावत् पढ़, अखण्डित ब्रह्मचर्य का पालन करके गृहाश्रम को धारण करे ॥ १ ॥

यथावत् उत्तम रीति से ब्रह्मचर्य और विद्या को ग्रहण कर गुरु की आज्ञा से स्नान करके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने वर्ण की उत्तम लक्षणयुक्त स्त्री से विवाह करे ॥ २ ॥

जो स्त्री माता की छः पीढ़ी और पिता के गोत्र की न हो, वही द्विजों के लिये विवाह करने में उत्तम है ॥ ३ ॥

विवाह में नीचे लिखे हुए दश कुल, चाहें वे गाय आदि पशु, धन और धान्य से कितने ही बड़े हों, उन कुलों की कन्या के साथ विवाह न करे ॥ ४ ॥

वे दश कुल ये हैं : १ एक—जिस कुल में उत्तम क्रिया न हो । २ दूसरा—

जिस कुल में कोई भी उत्तम पुरुष न हो। ३ तीसरा—जिस कुल में कोई विद्वान् न हो। ४ चौथा—जिस कुल में शरीर के ऊपर बड़े बड़े लोम हों। ५ पांचवां—जिस कुल में बवासीर हो। ६ छठा—जिस कुल में क्षयी (राजयक्ष्मा) रोग हो। ७ सातवां—जिस कुल में अग्निमन्दता से आमाशय रोग हो। ८ आठवां—जिस कुल में मृगी रोग हो। ९ नववां—जिस कुल में श्वेतकुष्ठ। और १० दशवां—जिस कुल में गलित कुष्ठ आदि रोग हों। उन कुलों की कन्या अथवा उन कुलों के पुरुषों से विवाह कभी न करे॥ ५॥

पीले वर्ण वाली, अधिक अङ्ग वाली जैसी छंगुली आदि, रोगवती, जिसके शरीर पर कुछ भी लोम न हों और जिसके शरीर पर बड़े बड़े लोम हों, व्यर्थ अधिक बोलनेहारी और जिसके पीले, बिल्ली के सदृश नेत्र हों॥ ६॥

तथा जिस कन्या का (ऋक्ष) नक्षत्र पर नाम अर्थात् रेवती, रोहिणी इत्यादि, (नदी) जिसका गङ्गा, यमुना इत्यादि, (पर्वत) जिसका विन्ध्याचला इत्यादि, (पक्षी) पक्षी पर अर्थात् कोकिला, हंसा इत्यादि, (अहि) अर्थात् उरगा, भोगिनी इत्यादि, (प्रेष्य) दासी इत्यादि, और जिस कन्या का (भीषण) कालिका, चण्डिका इत्यादि नाम हों, उससे विवाह न करे॥ ७॥

किन्तु जिस के सुन्दर अङ्ग, उत्तम नाम हंस और हस्तिनी के सदृश चाल वाली, जिसके सूक्ष्म लोम, सूक्ष्म केश और सूक्ष्म दांत हों, जिस के सब अङ्ग कोमल हों उस स्त्री से विवाह करे॥ ८॥

ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच ये विवाह आठ प्रकार के होते हैं॥ ९॥

१ एक ब्राह्म—कन्या के योग्य, सुशील, विद्वान् पुरुष का सत्कार कर के कन्या को वस्त्रादि से अलंकृत करके उत्तम पुरुष को बुला अर्थात् जिस को कन्या ने प्रसन्न भी किया हो, उस को कन्या देना वह ब्राह्म विवाह कहाता है॥ १०॥

२ दूसरा—विस्तृत यज्ञ में बड़े बड़े विद्वानों का वरण कर उस में कर्म करने वाले विद्वान् को वस्त्र आभूषण आदि से कन्या को सुशोभित कर के देना वह दैव विवाह है॥ ११॥

३ तीसरा—एक गाय बैल का जोड़ा अथवा २ दो जोड़े * वर से लेके धर्मपूर्वक कन्यादान करना वह आर्ष विवाह ॥ १२ ॥

और ४ चौथा—कन्या और वर को यज्ञशाला में विधि करके सब के सामने तुम दोनों मिल के गृहाश्रम के कर्मों को यथावत् करो, ऐसा कहकर दोनों की प्रसन्नतापूर्वक पाणिग्रहण होना वह प्राजापत्य विवाह कहाता है। ये ४ चार विवाह उत्तम हैं ॥ १३ ॥

और ५ पांचवाँ—वर की जातिवालों और कन्या को यथाशक्ति धन देके होम आदि विधि कर कन्या देना, आसुर विवाह कहाता है ॥ १४ ॥

६ छठा—वर और कन्या की इच्छा से दोनों का संयोग होना और अपने मन में मान लेना कि हम दोनों स्त्री-पुरुष से हैं, यह काम से हुआ गान्धर्व विवाह कहाता है ॥ १५ ॥

और ७ सातवाँ—हनन, छेदन अर्थात् कन्या के रोकने वालों का विदारण कर क्रोशती, रोती, कांपती और भयभीत हुई कन्या को बलात्कार हरण करके विवाह करना वह राक्षस विवाह ॥ १६ ॥

८ आठवाँ—और जो सोती, पागल हुई वा नशा पीकर उन्मत्त हुई कन्या को एकान्त पाकर दूषित कर देना, यह सब विवाहों में नीच से नीच, महानीच, दुष्ट अति दुष्ट, पैशाच विवाह है ॥ १७ ॥

ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य इन ४ चार विवाहों में पाणिग्रहण किये हुए स्त्री-पुरुषों से जो सन्तान उत्पन्न होते हैं वे वेदादि विद्या से तेजस्वी, आप्त पुरुषों के सम्मत, अत्युत्तम होते हैं ॥ १८ ॥

वे पुत्र वा कन्या सुन्दर, रूप, बल, पराक्रम, शुद्ध बुद्धयादि उत्तम गुणयुक्त बहुधनयुक्त, पुण्यकीर्त्तिमान् और पूर्ण भोग के भोक्ता, अतिशय, धर्मात्मा होकर १०० सौ वर्ष तक जीते हैं ॥ १९ ॥

इन चार विवाहों से जो बाकी रहे ४ चार आसुर, गान्धर्व, राक्षस और

---

* यह बात मिथ्या है, क्योंकि आगे मनुस्मृति में निषेध किया है और युक्तिविरुद्ध भी है, इसलिए कुछ भी न ले देकर दोनों की प्रसन्नता से पाणिग्रहण होना आर्ष विवाह है।

पैशाच, इन चार दुष्ट विवाहों से उत्पन्न हुए सन्तान निन्दित कर्मकर्त्ता, मिथ्यावादी, वेदधर्म के द्वेषी, बड़े नीच स्वभाव वाले होते हैं ॥ २० ॥

इसलिये मनुष्यों को योग्य है कि जिन निन्दित विवाहों से नीच प्रजा होती हैं उन का त्याग, और जिन उत्तम विवाहों से उत्तम प्रजा होती हैं उन को किया करें ॥ २१ ॥

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च ।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्विचक्षणः ॥ १ ॥
काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्त्तुमत्यपि ।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥ २ ॥
त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती ।
ऊर्ध्वन्तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥ ३ ॥

अर्थः—यदि माता पिता कन्या का विवाह करना चाहें, तो अति उत्कृष्ट शुभ गुण कर्म स्वभाव वाला, कन्या के सदृश रूपलावण्यादि गुणयुक्त वर ही को चाहें वह कन्या वर की माता की छः पीढ़ी के भीतर भी हो तथापि उसी को कन्या देना, अन्य को कभी न देना कि जिस से दोनों अतिप्रसन्न होकर गृहाश्रम की उन्नति और उत्तम सन्तानों की उत्पत्ति करें ॥ १ ॥

चाहे मरणपर्यन्त कन्या पिता के घर में बिना विवाह के बैठी भी रहे, परन्तु गुणहीन, असदृश, दुष्टपुरुष के साथ कन्या का विवाह कभी न करे और वर कन्या भी अपने आप स्वसदृश के साथ ही विवाह करें ॥ २ ॥

जब कन्या विवाह करने की इच्छा करे, तब रजस्वला होने के दिन से ३ तीन वर्ष को छोड़ के चौथे वर्ष में विवाह करे ॥ ३ ॥

(प्रश्न) "अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी" इत्यादि श्लोकों की क्या गति होगी ?

(उत्तर) इन श्लोकों और इन के मानने वालों की दुर्गति । अर्थात् जो इन श्लोकों की रीति से बाल्यावस्था में अपने सन्तानों का विवाह कर करा उन को नष्ट भ्रष्ट रोगी, अल्पायु करते हैं, वे अपने कुल का जानो सत्यानाश कर रहे हैं । इसलिये यदि शीघ्र विवाह करें तो वेदारम्भ में लिखे हुए १६ सोलह वर्ष से

न्यून कन्या और २५ पच्चीस वर्ष से न्यून पुरुष का विवाह कभी न करें करावें। इस के आगे जितना अधिक ब्रह्मचर्य रक्खेंगे उतना ही उन को आनन्द अधिक होगा।

(प्रश्न) विवाह निकटवासियों से अथवा दूरवासियों से करना चाहिए।

(उत्तर) दुहिता दुर्हिता दूरे हिता भवतीति ॥

यह निरुक्त का प्रमाण है कि जितना दूर देश में विवाह होगा उतना ही उन को अधिक लाभ होगा।

(प्रश्न) अपने गोत्र वा भाई बहिनों का परस्पर विवाह क्यों नहीं होता?

(उत्तर) एक दोष यह है कि इनके विवाह होने में प्रीति कभी नहीं होती, क्योंकि जितनी प्रीति परोक्ष पदार्थ में होती है उतनी प्रत्यक्ष में नहीं और बाल्यावस्था के गुण दोष भी विदित रहते हैं तथा भयादि भी अधिक नहीं रहते। दूसरा—जब तक दूरस्थ एक दूसरे कुल के साथ सम्बन्ध नहीं होता तब तक शरीर आदि की पुष्टि भी पूर्ण नहीं होती। तीसरा—दूर सम्बन्ध होने से परस्पर प्रीति, उन्नति, ऐश्वर्य बढ़ता है, निकट से नहीं।

युवावस्था ही में विवाह का प्रमाण—

तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परि यन्त्यापः।
स शुक्रेभिः शिक्वभी रेवदस्मे दीदायानिध्मो घृतनिर्णिगप्सु ॥१॥
अस्मै तिस्रो अव्यथ्याय नारीर्देवाय देवीर्दिधिषन्त्यन्नम्।
कृता इवोप हि प्रसर्स्रे अप्सु स पीयूषं धयति पूर्वसूनाम् ॥ २ ॥
अश्वस्यात्र जनिमास्य च स्वर्द्रुहो रिषः सम्पृचः पाहि सूरीन्।
आमासु पूर्षु परो अप्रमृष्यं नारातयो वि नशन्नानृतानि ॥३॥

ऋ० मं० २। सू० ३५। मं० ४–६॥

वृधूरियं पतिमिच्छन्त्येति य ईं वहाते महिषीमिषिराम् ।
आस्य श्रवस्याद्रथ आ च घोषात्पुरू सहस्रा परि वर्त्तयाते ॥४॥

ऋ० मं० ५ । म० ३७ । मं० ३ ॥

उप व एषे वन्द्येभिः शूषैः प्र यह्वी दिवश्चितयद्भिरर्कैः ।
उषासानक्ता विदुषीव विश्वमा हा वहतो मर्त्याय यज्ञम् ॥ ५ ॥

ऋ० मं० ५ । सू० ४१ । मं० ७ ॥

अर्थः—जो (मर्मृज्यमानाः) उत्तम ब्रह्मचर्य व्रत और सद्विद्याओं से अत्यन्त (युवतयः) २० बीसवें वर्ष से २४ चौबीसवें वर्ष वाली हैं वे कन्या लोग, जैसे (आपः) जल वा नदी समुद्र को प्राप्त होती हैं वैसे (अस्मेराः) हम को प्राप्त होने वाली, अपने अपने प्रसन्न अपने से डेढ़े वा दूने आयु वाले (तम्) उस ब्रह्मचर्य और विद्या से परिपूर्ण, शुभलक्षणयुक्त (युवानम्) जवान पति को (परियन्ति) अच्छे प्रकार प्राप्त होती हैं, (सः) वह ब्रह्मचारी (शुक्रेभिः) शुद्ध गुण और (शिक्वभिः) वीर्यादि से युक्त हो के (अस्मे) हमारे मध्य में (रेवत्) अत्यन्त श्रीयुक्त कर्म को और (दीदाय) अपने तुल्य युवति स्त्री को प्राप्त होवे। जैसे (अप्सु) अन्तरिक्ष वा समुद्र में (घृतनिर्णिक्) जल को शोधन करनेहारा (अनिध्मः) आप प्रकाशित विद्युत् अग्नि है, इसी प्रकार स्त्री और पुरुष के हृदय में प्रेम बाहर अप्रकाशमान, भीतर सुप्रकाशित रह कर उत्तम सन्तान और अत्यन्त, आनन्द को गृहाश्रम में दोनों स्त्री पुरुष प्राप्त होवें ॥ १ ॥

हे स्त्री पुरुषो ! जैसे (तिस्रः) उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट स्वभावयुक्त (देवीः, नारीः) विद्वान् नरों की विदुषी स्त्रियां (अस्मै) इस (अव्यथ्याय) पीड़ा से रहित (देवाय) काम के लिये (अन्नम्) अन्नादि उत्तम पदार्थों को (दिधिषन्ति) धारण करती हैं, (कृता इव) की हुई शिक्षायुक्त के समान (अप्सु) प्राणवत् प्रीति आदि व्यवहारों में प्रवृत्त होने के लिये, स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री (उप प्रसर्स्रे) सम्बन्ध को प्राप्त होती है, (स हि) वही पुरुष और स्त्री आनन्द को प्राप्त होती है। जैसे जलों में (पीयूषम्) अमृतरूप रस को (पूर्वसूनाम्) प्रथम प्रसूत हुई स्त्रियों का बालक (धयति) दुग्ध पी के बढ़ता है, वैसे इन ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी स्त्री के सन्तान यथावत् बढ़ते हैं ॥ २ ॥

जैसे राजादि सब लोग (पूर्षु) अपने नगरों और (ग्रामासु) अपने घर में उत्पन्न हुए पुत्र और कन्यारूप प्रजाओं में उत्तम शिक्षाओं को (परः) उत्तम विद्वान् (अप्रमृष्यम्) शत्रुओं को सहने के अयोग्य ब्रह्मचर्य से प्राप्त हुए शरीरात्मबल-युक्त देह को (अरातयः) शत्रु लोग (न) नहीं (विनशन्) विनाश कर सकते, और (अनृतानि) मिथ्याभाषणादि दुष्ट दुर्व्यसनों को प्राप्त (न) नहीं होते वैसे उत्तम स्त्री पुरुषों को (द्रुहः) द्रोह आदि दुर्गुण और (रिषः) हिंसा आदि पाप (न सम्पृचः) सम्बन्ध नहीं करते, किन्तु जो युवावस्था में विवाह कर प्रसन्नता-पूर्वक विधि से सन्तानोत्पत्ति करते हैं इन के (अस्य) इस (अश्वस्य) महान् गृहाश्रम के मध्य में उत्तम बालकों का (जनिम) जन्म होता है। इसलिये हे स्त्रि वा पुरुष तू! (सूरीन्) विद्वानों की (पाहि) रक्षा कर। (च) और ऐसे गृहस्थों को (अत्र) इस गृहाश्रम में सदैव (स्वः) सुख बढ़ता रहता है ॥ ३ ॥

हे मनुष्यो! (यः) जो पूर्वोक्त लक्षणयुक्त पूर्ण जवान (ईम्) सब प्रकार की परीक्षा करके (महिषीम्) उत्तम कुल में उत्पन्न हुई, विद्या, शुभगुण, रूप सुशीलतादि युक्त (इषिराम्) वर की इच्छा करनेहारी, हृदय को प्रिय स्त्री को (एति) प्राप्त होता है, और जो (पतिम्) विवाह से अपने स्वामी की (इच्छन्ती) इच्छा करती हुई (इयम्) यह (वधूः) स्त्री अपने सदृश, हृदय को प्रिय पति को (एति) प्राप्त होती है, वह पुरुष वा स्त्री (अस्य) इस गृहाश्रम के मध्य। (आश्रवस्यात्) अत्यन्त विद्या धन धान्ययुक्त सब ओर से होवे और वे दोनों (रथः) रथ के समान (आघोषात्) परस्पर प्रिय वचन बोलें, (च) और सब गृहाश्रम के भार को (वहाते) उठा सकते हैं। तथा वे दोनों (पुरु) बहुत (सहस्रा) असंख्य उत्तम कार्यों को (परिवर्तयाते) सब ओर से सिद्ध कर सकते हैं ॥ ४ ॥

हे मनुष्यो! यदि तुम पूर्ण ब्रह्मचर्य से सुशिक्षित विद्यायुक्त अपने सन्तानों को कराके स्वयंवर विवाह कराओ, तो वे (वन्द्येभिः) कामना के योग्य, (चितयद्भिः) सब सत्य विद्याओं को जाननेहारे, (अर्कैः) सत्कार के योग्य, (शूषैः) शरीरात्मबलों से युक्त हो के (वः) तुम्हारे लिए (एषे) सब सुख प्राप्त कराने को समर्थ होवें, और वे (उषासानक्ता) जैसे दिन और रात तथा जैसे (विदुषीव) विदुषी स्त्री और विद्वान् पुरुष (विश्वम्) गृहाश्रम के सम्पूर्ण व्यवहार को (आवहतः) सब ओर से प्राप्त होते हैं, (ह) वैसे ही इस (यज्ञम्) संगतरूप

गृहाश्रम के व्यवहार को वे स्त्री पुरुष पूर्ण कर सकते हैं। और (मर्त्याय) मनुष्यों के लिये यही पूर्वोक्त विवाह पूर्ण सुखदायक है। और (यह्वी) बड़े ही शुभ गुण कर्म स्वभाव वाले स्त्री पुरुष दोनों (दिवः) कामनाओं को (उप प्र वहतः) अच्छे प्रकार प्राप्त हो सकते हैं, अन्य नहीं ॥ ५ ॥

जैसे ब्रह्मचर्य में कन्या का ब्रह्मचर्य वेदोक्त है, वैसे ही सब पुरुषों को ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़ पूर्ण जवान हो, परस्पर परीक्षा करके जिस से जिस की विवाह करने में पूर्ण प्रीति हो, उसी से उस का विवाह होना अत्युत्तम है। जो कोई युवावस्था में विवाह न करा के बाल्यावस्था में अनिच्छित अयोग्य वर कन्या का विवाह करावेंगे वे वेदोक्त ईश्वराज्ञा के विरोधी होकर महा-दुःखसागर में क्योंकर न डूबेंगे? और जो पूर्वोक्त विधि से विवाह करते कराते हैं, वे ईश्वराज्ञा के अनुकूल होने से पूर्ण सुख को प्राप्त होते हैं।

(प्रश्न) विवाह अपने अपने वर्ण में होना चाहिये वा अन्य वर्ण में भी?

(उत्तर) अपने अपने वर्ण में। परन्तु वर्णव्यवस्था गुण कर्मों के अनुसार होनी चाहिये, जन्ममात्र से नहीं। जो पूर्ण विद्वान् धर्मात्मा, परोपकारी, जिते-न्द्रिय, मिथ्याभाषणादि दोषरहित, विद्या और धर्म प्रचार में तत्पर रहे इत्यादि उत्तम गुण जिस में हों वह ब्राह्मण ब्राह्मणी। विद्या बल शौर्य न्यायकारित्वादि गुण जिस में हों वह क्षत्रिय क्षत्रिया। और जो विद्वान् हो के कृषि, पशुपालन, व्यापार, देशभाषाओं में चतुरता आदि गुण जिस में हों वह वैश्य वैश्या। और जो विद्याहीन, मूर्ख हो वह शूद्र शूद्रा कहावे। इसी क्रम से विवाह होना चाहिये, अर्थात् ब्राह्मण का ब्राह्मणी, क्षत्रिय का क्षत्रिया, वैश्य का वैश्या और शूद्र का शूद्रा के साथ ही विवाह होने में आनन्द होता है, अन्यथा नहीं।

इस वर्णव्यवस्था में प्रमाण—

धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ १ ॥
अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥२॥
आपस्तम्बे

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ मनुस्मृतौ

अर्थ:—धर्माचरण से नीच वर्ण उत्तम उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है और उस वर्ण में जो जो कर्त्तव्य अधिकार रूप कर्म हैं वे सब गुण कर्म उस पुरुष और स्त्री को प्राप्त होवें ॥ १ ॥

वैसे ही अधर्माचरण से उत्तम उत्तम वर्ण नीचे नीचे के वर्ण को प्राप्त होवें और वे ही उस उस वर्ण के अधिकार और कर्मों के कर्त्ता होवें ॥ २ ॥

उत्तम गुण कर्म स्वभाव से जो शूद्र है वह वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण; और वैश्य क्षत्रिय और ब्राह्मण; तथा क्षत्रिय ब्राह्मण वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है। वैसे ही नीच कर्म और गुणों से जो ब्राह्मण है वह क्षत्रिय वैश्य, शूद्र; और क्षत्रिय वैश्य शूद्र; तथा वैश्य, शूद्र वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

इसी प्रकार **वर्णव्यवस्था** होने से पक्षपात न होकर सब वर्ण उत्तम बने रहते और उत्तम बनने में प्रयत्न करते; और उत्तम वर्ण, भय से कि मैं नीच वर्ण न हो जाऊँ इसलिये बुरे कर्म छोड़ उत्तम कर्मों ही को किया करते हैं, इस से संसार की बड़ी उन्नति है। आर्यावर्त्त देश में जब तक ऐसी वर्णव्यवस्था पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य विद्याग्रहण और उत्तमता से स्वयंवर विवाह होता था तभी देश की उन्नति थी, अब भी ऐसा ही होना चाहिये, जिस से आर्यावर्त्त देश अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त होकर आनन्दित होवे।

अब वधू वर एक दूसरे के गुण, कर्म और स्वभाव की परीक्षा इस प्रकार करें—दोनों का तुल्य शील, समान बुद्धि, समान आचार, समान रूपादि गुण, अहिंसकता, सत्य मधुर भाषण, कृतज्ञता, दयालुता; निर्लोभता, देश का सुधार, विद्याग्रहण, सत्योपदेश करने में निर्भयता, उत्साह; अहङ्कार, मत्सर, ईर्ष्या, काम, क्रोध, कपट, द्यूत, चोरी, मद्य, मांसाहारादि दोषों का त्याग, गृहकार्यों में अति चतुरता हो।

जब-जब प्रातः सायं वा परदेश से आकर मिलें तब-तब 'नमस्ते' इस वाक्य से परस्पर नमस्कार कर स्त्री पति के चरणस्पर्श, पादप्रक्षालन, आसनदान करे तथा दोनों परस्पर प्रेम बढ़ानेहारे वचनादि व्यवहारों से वर्त्तकर आनन्द भोगें। वर के शरीर से स्त्री का शरीर पतला और पुरुष के स्कन्ध तुल्य स्त्री का शिर होना चाहिये।

तत्पश्चात् भीतर की परीक्षा स्त्री पुरुष वचनादि व्यवहारों से करें—

ओम् ऋतमग्ने प्रथमं जज्ञे ऋते सत्यं प्रतिष्ठितम् । यदियं कुमार्य्यभिजाता तदियमिह प्रतिपद्यताम् । यत्सत्यं तद् दृश्यताम् ॥

अर्थः—जब विवाह करने का समय निश्चय हो चुके तब कन्या चतुर पुरुषों से वर की और वर चतुर स्त्रियों से कन्या की परोक्ष में परीक्षा करावे, पश्चात् उत्तम विद्वान् स्त्री पुरुषों की सभा करके दोनों परस्पर संवाद करें कि हे स्त्री वा हे पुरुष ! इस जगत् के पूर्व ऋत, यथार्थस्वरूप महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ था और उस महत्तत्त्व में सत्य, त्रिगुणात्मक नाशरहित प्रकृति प्रतिष्ठित है । जैसे पुरुष और प्रकृति के योग से सब विश्व उत्पन्न हुआ है, वैसे मैं कुमारी और मैं कुमार पुरुष इस समय में दोनों विवाह करने की सत्य प्रतिज्ञा करती वा करता हूँ, उसको यह कन्या और मैं वर प्राप्त होवें और अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करने के लिये दृढोत्साही रहें ।

विधि—जब कन्या रजस्वला होकर पृष्ठ ३४ में लिखे प्रमाणे शुद्ध हो जाय, तब जिस दिन गर्भाधान की रात्रि निश्चित की हो, उस रात्रि में विवाह करने के लिये प्रथम ही सब सामग्री जोड़ रखनी चाहिये । और १५–२१ पृष्ठ में लि० यज्ञशाला, वेदी, ऋत्विक्, यज्ञपात्र शाकल्य आदि सब सामग्री शुद्ध करके रखनी उचित है ।

पश्चात् एक * घण्टे मात्र रात्रि जाने पर—

ओं काम वेद ते नाम मदो नामासि समानयामुꣳ सुरा ते अभवत् । परमत्र जन्माग्ने तपसो निर्मितोऽसि स्वाहा ॥ १ ॥

ओम् इमं त उपस्थं मधुना सꣳसृजामि प्रजापतेर्मुखमेतद् द्वितीयम् । तेन पुꣳसोभिभवासि सर्वानवशान्वशिन्यसि राज्ञि स्वाहा ॥ २ ॥

ओम् अग्निं क्रव्यादमकृण्वन् गुहानाः स्त्रीणामुपस्थमृषयः पुराणाः । तेनाज्यमकृण्वꣳ स्त्रैशृङ्गं त्वाष्ट्रं त्वयि तद्दधातु स्वाहा ॥ ३ ॥

---

* यदि आधी रात तक विधि पूरा न हो सके तो मध्याह्नोत्तर आरम्भ कर देवे कि जिससे मध्यरात्रि तक विवाहविधि पूरा हो जावे ।

इन मन्त्रों से सुगन्धित शुद्ध जल से पूर्ण कलशों को लेके वधू और वर स्नान कर पश्चात् वधू उत्तम वस्त्रालङ्कार धारण करके उत्तम आसन पर पूर्वाभिमुख बैठे। तत्पश्चात् पृष्ठ ४ से १४ तक लिखे प्रमाणे ईश्वरस्तुति, प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण करें। तत्पश्चात् पृष्ठ २२-२४ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान समिदाधान, पृष्ठ १७ में लि० स्थालीपाक आदि यथोक्त कर वेदी के समीप रक्खे। वैसे ही वर भी एकान्त अपने घर में जाके उत्तम वस्त्रालङ्कार करके यज्ञशाला में आ उत्तमासन पर पूर्वाभिमुख बैठ के पृष्ठ ४-१४ में लि० प्र० ईश्वरस्तुति* प्रार्थनोपासना कर वधू के घर को जाने का ढङ्ग करे। तत्पश्चात् कन्या के और वर पक्ष के पुरुष बड़े सम्मान से वर को घर को ले जावें। जिस समय वर वधू के घर प्रवेश करे उसी समय वधू और कार्यकर्त्ता मधुपर्क आदि से वर का निम्नलिखित प्रकार आदर सत्कार करें। उस की रीति यह है कि वर वधू के घर में प्रवेश करके पूर्वाभिमुख खड़ा रहे और वधू तथा कार्यकर्त्ता वर के समीप उत्तराभिमुख खड़े रह के वधू और कार्यकर्त्ता—

ओं साधु भवानास्तामर्चयिष्यामो भवन्तम् ॥

इस वाक्य को बोले। उस पर वर—

ओम् अर्चय ॥

ऐसा प्रत्युत्तर देवे। पुनः जो वधू और कार्यकर्त्ता ने वर के लिये उत्तम आसन तैयार कर रक्खा हो उस को वधू हाथ में ले वर के आगे खड़ी रहे॥

ओं विष्टरो विष्टरो विष्टरः प्रतिगृह्यताम् ॥

यह उत्तम आसन है। आप ग्रहण कीजिये। वर—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥

इस वाक्य को बोल के वधू के हाथ से आसन ले, बिछा उस पर सभामण्डप में पूर्वाभिमुख बैठ के वर—

ओं वर्ष्मोऽस्मि समानानामुद्यतामिव सूर्यः। इमन्तमभितिष्ठामि यो मा कश्चाभिदासति ॥

---

* विवाह में आये हुए स्त्री पुरुष भी एकाग्रचित्त ध्यानावस्थित होके इन तीन कर्मों के अनुसार ईश्वर का चिन्तन किया करें।

इस मन्त्र को बोले। तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता एक सुन्दर पात्र में पूर्ण जल भर के कन्या के हाथ में देवे और कन्या—

ओं पाद्यं पाद्यं पाद्यं प्रतिगृह्यताम् ॥

इस वाक्य को बोल के वर के आगे धरे। पुनः वर—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥

इस वाक्य को बोल के कन्या के हाथ से उदक ले पग❀ प्रक्षालन करे, और उस समय—

ओं विराजो दोहोऽसि विराजो दोहमशीय मयि पाद्यायै विराजो दोहः ॥

इस मन्त्र को बोले। तत्पश्चात् फिर भी कार्यकर्त्ता दूसरा शुद्ध लोटा पवित्र जल से भर कन्या के हाथ में देवे। पुनः कन्या—

ओम् अर्घोऽर्घोऽर्घः प्रतिगृह्यताम् ॥

इस वाक्य को बोल के वर के हाथ में देवे। और वर—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥

इस वाक्य को बोल के कन्या के हाथ से जलपात्र ले के उससे मुखप्रक्षालन करे और उसी समय वर मुख धोके—

ओम् आप स्थ युष्माभिः सर्वान्कामानवाप्नवानि ॥ १ ॥

ओं समुद्रं वः प्रहिणोमि स्वां योनिमभिगच्छत। अरिष्टास्माकं वीरा मा परासेचि मत्पयः ॥ २ ॥

इन मन्त्रों को बोले। तत्पश्चात् वेदी के पश्चिम बिछाये हुए उसी शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठे। तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता एक सुन्दर उपपात्र जल से पूर्ण भर उसमें आचमनी रख कन्या के हाथ में देवे, और उस समय कन्या—

❀ यदि घर का प्रवेशक द्वार पूर्वाभिमुख हो तो वर उत्तराभिमुख और वधू तथा कार्यकर्त्ता पूर्वाभिमुख खड़े रह के यदि ब्राह्मण वर्ण हो तो प्रथम दक्षिण पग पश्चात् बायां और अन्य क्षत्रियादि वर्ण हों तो प्रथम बायां पग धोवे पश्चात् दहिना।

ओम् आचमनीयमाचमनीयम्प्रतिगृह्यताम् ॥

इस वाक्य को बोल के वर के सामने करे। और वर—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥

इस वाक्य को बोल के कन्या के हाथ में से जलपात्र को ले के, सामने धर उस में से दहिने हाथ में जल जितना अंगुलियों के मूल तक पहुँचे उतना ले के वर—

ओम् आ मागन् यशसा सꣳसृज वर्चसा। तं मा कुरु प्रियं प्रजानामधिपतिं पशूनामरिष्टिं तनूनाम् ॥

इस मन्त्र से एक आचमन इसी प्रकार दूसरी और तीसरी वार इसी मन्त्र को पढ़ के दूसरा और तीसरा आचमन करे। तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता मधुपर्क❋ का पात्र कन्या के हाथ में देवे। और कन्या—

ओं मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः प्रतिगृह्यताम् ॥

ऐसी विनती वर से करे। और वर—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥

इस वाक्य को बोल के कन्या के हाथ से ले, और उस समय—

ओं मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रतीक्षे ॥

इस मन्त्रस्थ वाक्य को बोल के मधुपर्क को अपनी दृष्टि से देखे। और—

ओं देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रति गृह्णामि ॥

इस मन्त्र को बोल के मधुपर्क के पात्र को वाम हाथ में लेवे। और—

❋ मधुपर्क उसको कहते हैं जो दही में घी वा सहत मिलाया जाता है। उसका परिमाण १२ बारह तोले दही में ४ चार तोले सहत अथवा ४ चार तोले घी मिलाना चाहिये, और यह मधुपर्क कांसे के पात्र में होना उचित है।

ओं भूर्भुवः स्वः । मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः । माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥ १ ॥ ओं भूर्भुवः स्वः । मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥ २ ॥ ओं भूर्भुवः स्वः । मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥ ३ ॥

इन तीन मन्त्रों से मधुपर्क की ओर अवलोकन करे—

ओं नमः श्यावास्यायान्नशने यत्त आविद्धं तत्ते निष्कृन्तामि ॥

इस मन्त्र को पढ़ दाहिने हाथ की अनामिका और अंगुष्ठ से मधुपर्क को तीन वार बिलोवे । और उस मधुपर्क में से वर—

ओं वसवस्त्वा गायत्रेण छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से पूर्व दिशा ।

ओं रुद्रास्त्वा त्रैष्टुभेन छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से दक्षिण दिशा ।

ओम् आदित्यास्त्वा जागतेन छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से पश्चिम दिशा । और—

ओं विश्वे त्वा देवा आनुष्टुभेन छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से उत्तर दिशा में थोड़ा थोड़ा छोड़े अर्थात् छींटे देवे ।

ओं भूतेभ्यस्त्वा परिगृह्णामि ॥

इस मन्त्रस्थ वाक्य को बोल के पात्र के मध्य भाग में से लेके ऊपर की ओर तीन वार फेंकना । तत्पश्चात् उस मधुपर्क के तीन भाग करके तीन कांसे के पात्रों में धर भूमि में अपने सम्मुख तीनों पात्र रक्खे, रख के—

ओं यन्मधुनो मधव्यं परमꣳरूपमन्नाद्यम् । तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेण रूपेणान्नाद्येन परमो मधव्योऽन्नादोऽसानि ॥

इस मन्त्र को एक-एक वार बोल के एक-एक भाग में से वर थोड़ा-थोड़ा प्राशन करे वा सब प्राशन करे, जो उन पात्रों में शेष उच्छिष्ट मधुपर्क रहा हो वह किसी अपने सेवक को देवे वा जल में डाल देवे । तत्पश्चात्—

ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥

ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥

इन दो मन्त्रों से दो आचमन अर्थात् एक से एक और दूसरे से दूसरा वर करे। तत्पश्चात् वर पृष्ठ २२ में लि० प्र० चक्षुरादि इन्द्रियों का जल से स्पर्श करे। पश्चात् कन्या—

ओं गौर्गौर्गौः प्रतिगृह्यताम् ॥

इस वाक्य से वर की विनती कर के अपनी शक्ति के योग्य वर को गोदानादि द्रव्य जो कि वर के योग्य हो अर्पण करे। और वर—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥

इस वाक्य से उस को ग्रहण करे। इस प्रकार मधुपर्क विधि यथावत् कर के वधू और कार्यकर्त्ता वर को सभामण्डपस्थान❀ से घर में ले जा के शुभ आसन पर पूर्वाभिमुख बैठा के वर के सामने पश्चिमाभिमुख वधू को बैठावे, और कार्यकर्त्ता उत्तराभिमुख बैठ के—

ओम् अमुक+ गोत्रोत्पन्नामिमाममुकनाम्नी× मलङ्कृतां कन्यां प्रतिगृह्णातु भवान् ॥

इस प्रकार बोल के, वर का हाथ चत्ता अर्थात् हथेली ऊपर रख के उस के हाथ में वधू का दक्षिण हाथ चत्ता ही रखना और वर—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥

ऐसा बोल के—

ओं जरां गच्छ परिधत्स्व वासो भवा कृष्टीनामभिशस्तिपावा। शतं च जीव शरदः सुवर्चा रयिं च पुत्राननुसंव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ॥

❀ यदि सभामण्डपस्थान न किया हो तो जिस घर में मधुपर्क हुआ हो उस से दूसरे घर में वर को ले जावे।

+ अमुक इस पद के स्थान में जिस गोत्र और कुल में वधू उत्पन्न हुई हो उस का उच्चारण अर्थात् उस का नाम लेना।

× "अमुकनाम्नीम्" इस स्थान पर वधू का नाम द्वितीया विभक्ति के एकवचन से बोलना।

इस मन्त्र को बोल के वधू को उत्तम वस्त्र देवे। तत्पश्चात्—

ओं या अकृन्तन्नवयन् या अतन्वत याश्च देवीस्तन्तूनभितो ततन्थ। तास्त्वा देवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ॥

इस मन्त्र को बोल के वधू को वर उपवस्त्र देवे। वह उपवस्त्र को यज्ञोपवीतवत् धारण करे।

ओं परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि।
शतं च जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये ॥

इस मन्त्र को पढ़ के वर आप अधोवस्त्र धारण करे। और—

ओं यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती।
यशो भगश्च मा विदद्यशो मा प्रतिपद्यताम् ॥

इस मन्त्र को पढ़ के द्विपट्टा धारण करे।

इस प्रकार वधू वस्त्र परिधान कर के जब तक सम्हले तब तक कार्यकर्त्ता अथवा दूसरा कोई यज्ञमण्डप में जा कुण्ड के समीपस्थ हो पृष्ठ २२ में लि० इन्धन और कर्पूर वा घृत से कुण्ड के अग्नि को प्रदीप्त करे। और आहुति के लिये सुगन्ध डाला हुआ घी बटलोई में करं के कुण्ड के अग्नि पर गरम कर काँसे के पात्र में रक्खे और स्रुवादि होम के पात्र तथा शुद्ध जलपात्र इत्यादि सामग्री यज्ञकुण्ड के समीप जोड़ कर रक्खे।

और वरपक्ष का एक पुरुष शुद्ध वस्त्र धारण कर शुद्ध जल से पूर्ण एक कलश को ले के यज्ञकुण्ड की परिक्रमा कर कुण्ड के दक्षिणभाग में उत्तरा-भिमुख हो, कलशस्थापन अर्थात् भूमि पर अच्छे प्रकार अपने आगे धर के जब तक विवाह का कृत्य पूर्ण न हो जाय तब तक उत्तराभिमुख बैठा रहे।

और उसी प्रकार वर के पक्ष का दूसरा पुरुष हाथ में दण्ड ले के कुण्ड के दक्षिणभाग में कार्यसमाप्तिपर्यन्त उत्तराभिमुख बैठा रहे।

और इसी प्रकार सहोदर वधू का भाई अथवा सहोदर न हो तो चचेरा भाई, मामा का पुत्र अथवा मौसी का लड़का हो वह चावल या जुवार की धाणी और शमी वृक्ष के सूखे पत्ते इन दोनों को मिलाकर शमीपत्रयुक्त धाणी

की ४ चार अञ्जली एक शुद्ध सूप में रख के, धाणी सहित सूप ले के यज्ञकुण्ड के पश्चिमभाग में पूर्वाभिमुख बैठा रहे।

तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता एक सपाट शिला जो कि एक सुन्दर चिकनी हो उस को तथा वधू और वर को कुण्ड के समीप बैठाने के लिये दो कुशासन वा यज्ञिय तृणासन अथवा यज्ञिय वृक्ष की छाल के जो कि प्रथम से सिद्ध कर रक्खे हों, उन आसनों को रखवावे।

तत्पश्चात् वस्त्र धारण करे हुई कन्या को कार्यकर्त्ता वर के सम्मुख लावे। और उस समय वर और कन्या—

ओं समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ‡ ॥ १ ॥

इस मन्त्र को बोलें।

तत्पश्चात् वर दक्षिण हाथ से वधू का दक्षिण हाथ पकड़ के—

ओं यदैषि मनसा दूरं दिशोऽनुपवमानो वा।
हिरण्यपर्णो वैकर्णः स त्वा मन्मनसां करोतु+ असौ ॥ २ ॥

---

‡ वर और कन्या बोलें कि हे (विश्वे देवाः) इस यज्ञशाला में बैठे हुए विद्वान् लोगो! आप हम दोनों को (समञ्जन्तु) निश्चय करके जानें कि अपनी प्रसन्नतापूर्वक गृहाश्रम में एकत्र रहने के लिये एक दूसरे का स्वीकार करते हैं, कि (नौ) हमारे दोनों के (हृदयानि) हृदय (आपः) जल के समान (सम्) शान्त और मिले हुए रहेंगे। जैसे (मातरिश्वा) प्राणवायु हम को प्रिय है वैसे (सम्) हम दोनों एक दूसरे से सदा प्रसन्न रहेंगे। जैसे (धाता) धारण करने-हारा परमात्मा सब में (सम्) मिला हुआ सब जगत् को धारण करता है, वैसे हम दोनों एक दूसरे को धारण करेंगे। जैसे (समुदेष्ट्री) उपदेश करनेहारा श्रोताओं से प्रीति करता है वैसे (नौ) हमारे दोनों का आत्मा एक दूसरे के साथ दृढ़ प्रेम को (दधातु) धारण करे।

+(असौ) इस पद के स्थान में कन्या का नाम उच्चारण करना। हे वरानने वा हे वरानन (यत्) जो तू (मनसा) अपनी इच्छा से मुझ को जैसे

इस मन्त्र को बोल के उस को ले के घर के बाहर मण्डपस्थान में कुण्ड के समीप हाथ पकड़े हुए दोनों आवें। और वधू तथा वर—

ओं भूर्भुवः स्वः। अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः। वीरसूर्देवृकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥ ॥ ३ ॥

ओं भूर्भुवः स्वः। सा नः पूषा शिवतमामैरय सा न ऊरू उशती विहर। यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपं यस्यामु कामा बहवो निविष्ट्यै ॥ ४ ॥

इन चार मन्त्रों को वर बोल के, दोनों वर वधू यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा

(पवमानः) पवित्र वायु (वा) जैसे (हिरण्यपर्णो वैकर्णः) तेजोमय जल आदि को किरणों से ग्रहण करने वाला सूर्य (दूरम्) दूरस्थ पदार्थों और (दिशोऽनु) दिशाओं को प्राप्त होता है, वैसे तू प्रेमपूर्वक अपनी इच्छा से मुझ को प्राप्त होती वा होता है, उस (त्वा) तुझ को (सः) वह परमेश्वर (मन्मनसाम्) मेरे मन के अनुकूल (करोतु) करे, और हे (वीर जो आप मन से मुझ को (ऐषि) प्राप्त होते हो उस आप को जगदीश्वर मेरे मन के अनुकूल सदा रक्खे ॥

※ हे वरानने (अपतिघ्नि) पति से विरोध न करनेहारी तू जिसके (ओम्) अर्थात् रक्षा करने वाला (भूः) प्राणदाता (भुवः) सब दुःखों को दूर करनेहारा (स्वः) सुखस्वरूप और सब सुखों के दाता आदि नाम हैं, उस परमात्मा की कृपा और अपने उत्तम पुरुषार्थ से हे (अघोरचक्षुः) प्रियदृष्टि (एधि) हो, (शिवा) मंगल करनेहारी (पशुभ्यः) सब पशुओं का सुखदाता, (सुमनाः) पवित्रान्तःकरणयुक्त, प्रसन्नचित्त, (सुवर्चाः) सुन्दर शुभ गुण कर्म्म स्वभाव और विद्या से सुप्रकाशित, (वीरसूः) उत्तम वीर पुरुषों को उत्पन्न करनेहारी (देवृकामा) देवर की कामना करती हुई अर्थात् नियोग की भी इच्छा करनेहारी; (स्योना) सुखयुक्त हो के (नः) हमारे (द्विपदे) मनुष्यादि के लिये (शम्) सुख करनेहारी (भव) सदा हो, और (चतुष्पदे) गाय आदि पशुओं की भी (शम्) सुख देनेहारी हो, वैसे ही मैं तेरा पति भी वर्त्ता करूं ॥

कर के कुण्ड के पश्चिम भाग में प्रथम स्थापन किये हुए आसन पर पूर्वाभिमुख वर के दक्षिण भाग में वधू और वधू के वाम भाग में वर बैठ के, वधू—

ओं प्र मे पतियानः पन्थाः कल्पताᳬं शिवा अरिष्टा पतिलोकं गमेयम् ॥

इस मन्त्र को बोले।

तत्पश्चात् पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे यज्ञकुण्ड के समीप दक्षिण भाग में उत्तराभिमुख पुरोहित की स्थापना करनी। तत्पश्चात् पृष्ठ २२ में लिखे—

ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥

इत्यादि तीन मन्त्रों में प्रत्येक मन्त्र से एक-एक आचमन, वैसे तीन आचमन वर, वधू और पुरोहित और कार्यकर्त्ता कर के हस्त और मुख प्रक्षालन एक शुद्धपात्र में कर के दूर रखवा दें। हाथ और मुख पोंछ के पृष्ठ २२-२३ में लि० यज्ञकुण्ड में (ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव०) इस मन्त्र से अग्न्याधान, पृष्ठ २३-२४ में लि० (ओम् अयन्त इध्म०) इत्यादि मन्त्रों से समिदाधान, और पृष्ठ २४ में लिखे०—

ओम् अदितेऽनुमन्यस्व ॥

इत्यादि तीन मन्त्रों से कुण्ड की तीन ओर, और (ओं देव सवितः प्रसुव०) इस मन्त्र से कुण्ड की चारों ओर दक्षिण हाथ की अञ्जली से शुद्ध जल सेचन कर के, कुण्ड में डाली हुई समिधा प्रदीप्त हुए पश्चात्, पृष्ठ २५ में लि० वधू, वर, पुरोहित और कार्यकर्त्ता आघारावाज्यभागाहुति ४ चार घी की देवें।

तत्पश्चात् पृष्ठ २५ में लि० व्याहृति आहुति ४ चार घी की और पृष्ठ २७-२८ में लि० अष्टाज्याहुति ८ आठ ये सब मिल के १६ (सोलह) आज्याहुति दे के, प्रधान होम का प्रारम्भ करें। प्रधान होम के समय वधू अपने दक्षिण हाथ को वर के दक्षिण स्कन्धे पर स्पर्श करके, पृष्ठ २६ में लि० (ओं भूर्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि०) इत्यादि चार मन्त्रों से अर्थात् एक-एक मिल के ४ चार आज्याहुति क्रम से करें, और—

ओं भूर्भुवः स्वः। त्वमर्यमा भवसि यत्कनीनां नाम स्वधा-

वन्युषं बिभर्षि । अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर्यद्दम्पती समनसा कृणोषि स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥

इस मन्त्र को बोल के ५ पांचवीं आज्याहुति देनी । तत्पश्चात्—

ओम् ऋताषाड् ऋतधामाग्निर्गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदमृतासाहे ऋतधाम्ने अग्नये गन्धर्वाय इदन्न मम ॥ १ ॥

ओम् ऋताषाड् ऋतधामाग्निगन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदमोषधिभ्योऽप्सरोभ्यो मुद्भ्यः इदन्न मम ॥ २ ॥

ओं संहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं संहिताय विश्वसाम्ने सूर्याय गन्धर्वाय, इदन्न मम ॥ ३ ॥

ओं संहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदं मरीचिभ्योऽप्सरोभ्य आयुभ्यः, इदन्न मम ॥ ४ ॥

ओं सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं सुषुम्णाय, सूर्यरश्मये, चन्द्रमसे, गन्धर्वाय, इदन्न मम ॥ ५ ॥

ओं सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदं नक्षत्रेभ्योऽप्सरोभ्यो भेकुरिभ्यः, इदन्न मम ॥ ६ ॥

ओम् इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदमिषिराय विश्वव्यचसे वाताय गन्धर्वाय, इदन्न मम ॥ ७ ॥

ओम् इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापो अप्सरस ऊर्ज्जो नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदमद्भ्योऽप्सरोभ्य ऊर्ग्भ्यः, इदन्न मम ॥ ८ ॥

ओं भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं भुज्यवे सुपर्णाय यज्ञाय गन्धर्वाय, इदन्न मम ॥ ९ ॥

ओं भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरसस्तावा नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदं दक्षिणाभ्यो अप्सरोभ्यः स्तावाभ्यः, इदन्न मम ॥ १० ॥

ओं प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं प्रजापतये विश्वकर्मणे मनसे गन्धर्वाय, इदन्न मम ॥ ११ ॥

ओं प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदमृक्सामेभ्योऽप्सरोभ्य एष्टिभ्यः, इदन्न मम ॥ १२ ॥

इन १२ बारह मन्त्रों से १२ बारह आज्याहुति देनी । तत्पश्चात् जयाहोम करना—

ओं चित्तं च स्वाहा ॥ इदं चित्ताय, इदन्न मम ॥ १ ॥
ओं चित्तिश्च स्वाहा ॥ इदं चित्त्यै, इदन्न मम ॥ २ ॥

ओम् आकूतं च स्वाहा ॥ इदमाकूताय, इदन्न मम ॥ ३ ॥
ओम् आकूतिश्च स्वाहा ॥ इदमाकूत्यै, इदन्न मम ॥ ४ ॥
ओं विज्ञातं च स्वाहा ॥ इदं विज्ञाताय, इदन्न मम ॥ ५ ॥
ओं विज्ञातिश्च स्वाहा ॥ इदं विज्ञात्यै, इदन्न मम ॥ ६ ॥
ओं मनश्च स्वाहा ॥ इदं मनसे, इदन्न मम ॥ ७ ॥
ओं शक्वरीश्च स्वाहा ॥ इदं शक्वरीभ्यः, इदन्न मम ॥ ८ ॥
ओं दर्शश्च स्वाहा ॥ इदं दर्शाय, इदन्न मम ॥ ९ ॥
ओं पौर्णमासं च स्वाहा ॥ इदं पौर्णमासाय, इदन्न मम ॥१०॥
ओं बृहच्च स्वाहा ॥ इदं बृहते, इदन्न मम ॥११॥
ओं रथन्तरञ्च स्वाहा ॥ इदं रथन्तराय, इदन्न मम ॥१२॥

ओं प्रजापतिर्जयानिन्द्राय वृष्णे प्रायच्छदुग्रः पृतना जयेषु । तस्मै विशः समनमन्त सर्वाः स उग्रः स इहव्यो बभूव स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये जयानिन्द्राय—इदन्न मम ॥ १३ ॥

इन प्रत्येक मन्त्रों से एक-एक करके जयाहोम की १३ तेरह आज्याहुति देनी ।

तत्पश्चात् अभ्यातन होम करना । इसके मन्त्र ये हैं—

ओम् अग्निर्भूतानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬं स्वाहा ॥ इदमग्नये भूतानामधिपतये, इदन्न मम ॥ १ ॥

ओम् इन्द्रो ज्येष्ठानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬं स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय ज्येष्ठानामधिपतये, इदन्न मम ॥ २ ॥

ओं यमः पृथिव्या अधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬं स्वाहा ॥ इदं यमाय पृथिव्या अधिपतये, इदन्न मम ॥ ३ ॥

ओं वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रे

ऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬं स्वाहा ॥ इदं वायवे, अन्तरिक्षस्याधिपतये, इदन्न मम ॥ ४ ॥

ओं सूर्यो दिवोऽधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬं स्वाहा ॥ इदं सूर्याय दिवोऽधिपतये, इदन्न मम ॥ ५ ॥

ओं चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬं स्वाहा ॥ इदं चन्द्रमसे नक्षत्राणामधिपतये, इदन्न मम ॥ ६ ॥

ओं बृहस्पतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬं स्वाहा ॥ इदं बृहस्पतये ब्रह्मणोऽधिपतये, इदन्न मम ॥ ७ ॥

ओं मित्रः सत्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬं स्वाहा ॥ इदं मित्राय सत्यानामधिपतये, इदन्न मम ॥ ८ ॥

ओं वरुणोऽपामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬं स्वाहा ॥ इदं वरुणायापामधिपतये, इदन्न मम ॥ ९ ॥

ओं समुद्रः स्रोत्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬं स्वाहा । इदं समुद्राय स्रोत्यानामधिपतये, इदन्न मम ॥ १० ॥

ओं अन्नᳬं साम्राज्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬं स्वाहा ॥ इदमन्नाय साम्राज्यानामधिपतये, इदन्न मम ॥ ११ ॥

ओं सोम ओषधीनामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रे-

ऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा ॥ इदं सोमाय ओषधीनामधिपतये, इदन्न मम ॥ १२ ॥

ओं सविता प्रसवानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा ॥ इदं सवित्रे प्रसवानामधिपतये, इदन्न मम ॥ १३ ॥

ओं रुद्रः पशूनामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा ॥ इदं रुद्राय पशूनामधिपतये, इदन्न मम ॥ १४ ॥

ओं त्वष्टा रूपाणामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा ॥ इदं त्वष्ट्रे रूपाणामधिपतये, इदन्न मम ॥ १५ ॥

ओं विष्णुः पर्वतानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा ॥ इदं विष्णवे पर्वतानामधिपतये, इदन्न मम ॥ १६ ॥

ओं मरुतो गणानामधिपतयस्ते मावन्त्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा ॥ इदं मरुद्भ्यो गणानामधिपतिभ्यः, इदन्न मम ॥ १७ ॥

ओं पितरः पितामहाः परेऽवरे ततास्ततामहा इह मावन्त्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा ॥ इदं पितृभ्यः पितामहेभ्यः परेभ्योऽवरेभ्यस्ततेभ्यस्ततामहेभ्यश्च इदन्न मम ॥ १८ ॥

इस प्रकार अभ्यातन होम की १८ अठारह आज्याहुति दिये पीछे पुनः—

ओम् अग्निरैतु प्रथमो देवतानाꣳ सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात् । तदयꣳराजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयꣳ स्त्री पौत्रमघं न रोदात् स्वाहा ॥ इदमग्नये, इदन्न मम ॥ १ ॥

ओम् इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः प्रजामस्यै नयतु दीर्घमायुः । अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता पौत्रमानन्दमभिविबुध्यतामियꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये, इदन्न मम ॥ २ ॥

ओं स्वस्ति नोऽग्ने दिवा पृथिव्या विश्वानि धेह्ययथा यजत्र । यदस्यां महि दिवि जातं प्रशस्तं तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये, इदन्न मम ॥ ३ ॥

ओं सुगन्नु पन्थां प्रदिशं न एहि ज्योतिष्मध्ये ह्यजरं न आयुः । अपैतु मृत्युरमृतं म आगाद्वैवस्वतो नो अभयं कृणोतु स्वाहा ॥ इदं वैवस्वताय, इदन्न मम ॥ ४ ॥

ओं परं मृत्यो अनुपरेहि पन्थां यत्र नो अन्य इतरो देवयानात् । चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजाꣳरीरिषो मोत वीरान्त्स्वाहा ॥ इदं मृत्यवे, इदन्न मम ॥ ५ ॥

ओं द्यौस्ते पृष्ठꣳ रक्षतु वायुरूरू अश्विनौ च । स्तनन्धयस्ते पुत्रान्त्सविताभिरक्षत्वावाससः, परिधाद् बृहस्पतिर्विश्वेदेवा अभिरक्षन्तु पश्चात् स्वाहा ॥ इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यः इदन्न मम ॥ ६ ॥

ओं मा ते गृहेषु निशि घोष उत्थादन्यत्र त्वद्रुदत्यः संविशन्तु । मा त्वꣳ रुदत्युर आवधिष्ठा जीवपत्नी पतिलोके विराज पश्यन्ती प्रजाꣳसुमनस्यमानाꣳस्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥ ७ ॥

ओम् अप्रजस्यं पौत्रमर्त्यं पाप्मानमुत वा अघम् । शीर्ष्णःस्रजमिवोन्मुच्य द्विषद्भ्यः प्रतिमुञ्चामि पाशꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥ ८ ॥

इन प्रत्येक मन्त्रों से एक एक आहुति करके ८ आठ आज्याहुति दीजिये । तत्पश्चात् पृष्ठ २५ में लि० प्र०—

ओं भूरग्नये स्वाहा ॥

इत्यादि चार मन्त्रों से ४ चार आज्याहुति दीजिये ।

ऐसे होम करके वर आसन से उठ पूर्वाभिमुख बैठी हुई वधू के सम्मुख पश्चिमाभिमुख खड़ा रह कर अपने वामहस्त से वधू का दहिना हाथ चत्ता धर के ऊपर को उचाना, और अपने दक्षिण हाथ से वधू के उठाये हुए दक्षिण हस्ताञ्जली अङ्गुष्ठा सहित चत्ती ग्रहण करके, वर—

ओं गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः[1]॥१॥

ओं भगस्ते हस्तमग्रभीत् सविता हस्तमग्रभीत् ।
पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव[×] ॥ २ ॥

---

१. हे वरानने ! जैसे मैं (सौभगत्वाय) ऐश्वर्य सुसन्तानादि सौभाग्य की बढ़ती के लिये (ते) तेरे (हस्तम्) हाथ को (गृभ्णामि) ग्रहण करता हूँ, तू (मया) मुझ (पत्या) पति के साथ (जरदष्टिः) जरावस्था को प्राप्त सुखपूर्वक (आसः) हो, तथा हे वीर ! मैं सौभाग्य की वृद्धि के लिये आप के हस्त को ग्रहण करती हूं । आप मुझ पत्नी के साथ वृद्धावस्था पर्यन्त प्रसन्न और अनुकूल रहिये । आप को मैं और मुझ को आप आज से पतिपत्नी भाव कर के प्राप्त हुए हैं । (भगः) सकल ऐश्वर्ययुक्त (अर्यमा) न्यायकारी (सविता) सब जगत् की उत्पत्ति का कर्त्ता (पुरन्धिः) बहुत प्रकार के जगत् का धर्त्ता परमात्मा और (देवाः) ये सब सभामण्डप में बैठे हुए विद्वान् लोग (गार्हपत्याय) गृहाश्रम कर्म के अनुष्ठान के लिये (त्वा) तुझ को (मह्यम्) मुझे (अदुः) देते हैं । आज से मैं आप के हस्ते और आप मेरे हाथ विक चुके हैं, कभी एक दूसरे का अप्रियाचरण न करेंगे ॥ १ ॥

× हे प्रिये ! (भगः) ऐश्वर्ययुक्त मैं (ते) तेरे (हस्तम्) हाथ को (अग्रभीत्) ग्रहण करता हूं तथा (सविता) धर्मयुक्त मार्ग में प्रेरक मैं तेरे (हस्तम्) हाथ को (अग्रभीत्) ग्रहण कर चुका हूं (त्वम्) तू (धर्मणा) धर्म से मेरी (पत्नी) भार्या (असि) है और (अहम्) मैं धर्म से (तव) तेरा (गृहपतिः) गृहपति हूँ । अपने दोनों मिल के घर के कामों की सिद्धि करें, और जो दोनों का अप्रियाचरण व्यभिचार है, उस को कभी न करें, जिस से घर के सब काम सिद्ध, उत्तम सन्तान, ऐश्वर्य और सुख की बढ़ती सदा होती रहे ॥ २ ॥

ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः ।
मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम्+ ॥ ३ ॥
त्वष्टा वासो व्यदधाच्छुभे कं बृहस्पतेः प्रशिषा कवीनाम् ।
तेनेमां नारीं सविता भगश्च सूर्यामिव परि धत्तां प्रजया* ॥ ४ ॥

+ हे अनघे ! (बृहस्पतिः) सब जगत् का पालन करनेहारे, परमात्मा ने जिस (त्वा) तुझ को (मह्यम्) मुझे (अदात्) दिया है (इयम्) यही तू जगत् भर में मेरी (पोष्या) पोषण करने योग्य पत्नी (अस्तु) हो, हे (प्रजावति) तू (मया पत्या) मुझ पति के साथ (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतु अर्थात् शतवर्ष पर्यन्त (शं जीव) सुखपूर्वक जीवन धारण कर। वैसे ही वधू भी वर से प्रतिज्ञा करावे। हे भद्र वीर ! परमेश्वर की कृपा से आप मुझे प्राप्त हुए हो, मेरे लिये आप के विना इस जगत् में दूसरा पति अर्थात् स्वामी पालन करनेहारा सेव्य इष्ट देव कोई नहीं है, न मैं आप से अन्य दूसरे किसी को मानूंगी, जैसे आप मेरे सिवाय दूसरी किसी स्त्री से प्रीति न करोगे वैसे मैं भी किसी दूसरे पुरुष के साथ प्रीतिभाव से न वर्त्ता करूंगी। आप मेरे साथ सौ वर्ष पर्यन्त आनन्द से प्राण धारण कीजिये ॥ ३ ॥

* हे शुभानने ! जैसे (बृहस्पतेः) इस परमात्मा की सृष्टि में और उस की तथा (कवीनाम्) आप्त विद्वानों की (प्रशिषा) शिक्षा से दम्पती होते हैं, (त्वष्टा) जसे बिजुली सब को व्याप्त हो रही है, वैसे तू मेरी प्रसन्नता के लिये (वासः) सुन्दर वस्त्र (शुभे) और आभूषण तथा (कम्) मुझ से सुख को प्राप्त हो, इस मेरी और तेरी इच्छा को परमात्मा (व्यदधात्) सिद्ध करे। जैसे (सविता) सकल जगत् की उत्पत्ति करनेहारा परमात्मा (च) और (भगः) पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त (प्रजया) उत्तम प्रजा से (इमाम्) इस तुझ (नारीम्) मुझ नर की स्त्री को (परिधत्ताम्) आच्छादित, शोभायुक्त करे वैसे मैं (तेन) इस सब से (सूर्याम् इव) सूर्य की किरण के समान तुझ को वस्त्र और भूषणादि से सुशोभित सदा रक्खूंगा। तथा हे प्रिय ! आप को मैं इसी प्रकार सूर्य के समान सुशोभित आनन्द अनुकूल प्रियाचरण कर के (प्रजया) ऐश्वर्य वस्त्राभूषण आदि से सदा आनन्दित रक्खूंगी ॥ ४ ॥

इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा।
बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु+ ॥५॥
अहं वि ष्यामि मयि रूपमस्या वेददित्पश्यन्मनसा कुलायम्।
न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रथ्नानो वरुणस्य पाशान्॥ ॥६॥

इन पाणिग्रहण के ६ छः मन्त्रों को बोल के, पश्चात् वर, वधू की हस्ता-

+ हे मेरे सम्बन्धी लोगो ! जैसे (इन्द्राग्नी) बिजुली और प्रसिद्ध अग्नि (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूमि (मातरिश्वा) अन्तरिक्षस्थ वायु (मित्रावरुणा) प्राण और उदान तथा (भगः) ऐश्वर्य (अश्विना) सद्वैद्य और सत्योपदेशक (उभा) दोनों (बृहस्पतिः) श्रेष्ठ न्यायकारी बड़ी प्रजा का पालन करनेहारा राजा (मरुतः) सभ्य मनुष्य (ब्रह्म) सब से बड़ा परमात्मा और (सोमः) चन्द्रमा तथा सोमलतादि ओषधिगण सब प्रजा की वृद्धि और पालन करते हैं वैसे (इमां नारीम्) इस मेरी स्त्री को (प्रजया) प्रजा से बढ़ाया करते हैं, वैसे तुम भी (वर्धयन्तु) बढ़ाया करो। जैसे मैं इस स्त्री को प्रजा आदि से सदा बढ़ाया करूंगा वैसे स्त्री भी प्रतिज्ञा करे कि मैं भी इस मेरे पति को सदा आनन्द, ऐश्वर्य और प्रजा से बढ़ाया करूंगी। जैसे ये दोनों मिल के प्रजा को बढ़ाया करते हैं वैसे तू और मैं मिल के गृहाश्रम के अभ्युदय को बढ़ाया करें ॥ ५ ॥

❀ हे कल्याण क्रोडे ! जैसे (मनसा) मन से (कुलायम्) कुल की वृद्धि को (पश्यन्) देखता हुआ (अहम्) मैं (अस्याः) इस तेरे (रूपम्) रूप को (विष्यामि) प्रीति से प्राप्त और इस में प्रेम द्वारा व्याप्त होता हूं, वैसे यह तू मेरी वधू (मयि) मुझ में प्रेम से व्याप्त होके अनुकूल व्यवहार को (वेदत्) प्राप्त होवे। जैसे मैं (मनसा) मन से भी इस तुझ वधू के साथ (स्तेयम्) चोरी को (उदमुच्ये) छोड़ देता हूं और किसी उत्तम पदार्थ का चोरी से (नाद्मि) भोग नहीं करता हूं, (स्वयम्) आप (श्रथ्नानः) पुरुषार्थ से शिथिल होकर भी (वरुणस्य) उत्कृष्ट व्यवहार में विघ्नरूप दुर्व्यसनी पुरुष के (पाशान्) बन्धनों को दूर करता रहूं वैसे (इत्) ही यह वधू भी किया करे। इसी प्रकार वधू भी स्वीकार करे कि मैं भी इसी प्रकार आप से वर्ता करूंगी ॥ ६ ॥

ञ्जली पकड़ के उठावे, और उस को साथ लेके, जो कुण्ड की दक्षिण दिशा में प्रथम स्थापन किया था उस को वही पुरुष, जो कलश के पास बैठा था वर वधू के साथ-साथ उसी कलश को ले चले। यज्ञकुण्ड की दोनों प्रदक्षिणा कर के—

ओम् अमोऽहमस्मि सा त्वꣳ सा त्वमस्यमोऽहम्। सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेव विवहावहै सह रेतो दधावहै। प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहून्। ते सन्तु जरदष्टयः सं प्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतम् ‡ ॥ ७ ॥

इन प्रतिज्ञा-मन्त्रों से दोनों प्रतिज्ञा करके, पश्चात् वर, वधू के पीछे रह के वधू के दक्षिण ओर समीप में जा उत्तराभिमुख खड़ा रह के वधू की दक्षिणा-

‡ हे वधू जैसे (अहम्) मैं (अमः) ज्ञानवान् ज्ञानपूर्वक तेरा ग्रहण करने वाला (अस्मि) होता हूँ, वैसे (सा) सो (त्वम्) तू भी ज्ञानपूर्वक मेरा ग्रहण करनेहारी (असि) है जैसे (अहम्) मैं अपने पूर्ण प्रेम से तुझ को (अमः) ग्रहण करता हूं, वैसे (सा) सो मैंने ग्रहण की हुई (त्वम्) तू मुझ को भी ग्रहण करती है। (अहम्) मैं (साम) सामवेद के तुल्य प्रशंसित (अस्मि) हूँ, हे वधू! तू (ऋक्) ऋग्वेद के तुल्य प्रशंसित है, (त्वम्) तू (पृथिवी) पृथिवी के समान गर्भादि गृहाश्रम के व्यवहारों को धारण करनेहारी है और मैं (द्यौः) वर्षा करनेहारे सूर्य के समान हूं, वह तू और मैं (तावेव) दोनों ही (विवहावहै) प्रसन्नतापूर्वक विवाह करें, (सह) साथ मिल के (रेतः) वीर्य को (दधावहै) धारण करें, (प्रजाम्) उत्तम प्रजा को (प्रजनयावहै) उत्पन्न करें, (बहून्) बहुत (पुत्रान्) पुत्रों को (विन्दावहै) प्राप्त होवें (ते) वे पुत्र (जरदष्टयः) जरावस्था के अन्त तक जीवनयुक्त (सन्तु) रहें, (संप्रियौ) अच्छे प्रकार एक दूसरे से प्रसन्न (रोचिष्णू) एक दूसरे में रुचियुक्त (सुमनस्यमानौ) अच्छे प्रकार विचार करते हुए (शतम्) सौ (शरदः) शरदृतु अर्थात् शत वर्ष पर्यन्त एक दूसरे को प्रेम की दृष्टि से (पश्येम) देखते रहें (शतं शरदः) सौ वर्ष पर्यन्त आनन्द से (जीवेम) जीते रहें और (शतं शरदः) सौ वर्ष पर्यन्त प्रिय वचनों को (शृणुयाम) सुनते रहें॥

अली अपनी दक्षिणाञ्जली से पकड़ के दोनों खड़े रहें, और वह पुरुष पुनः कुण्ड के दक्षिण में कलश लेके वैसे बैठे ।

तत्पश्चात् वधू की माता अथवा भाई जो प्रथम चावल और ज्वार की धाणी सूप में रक्खी थीं, उस को बायें हाथ में लेके दहिने हाथ से वधू का दक्षिण पग उठवा के पत्थर की शिला पर चढ़वावे । और उस समय वर—

ओम् आरोहेममश्मानमश्मेव त्वᳬं स्थिरा भव ।
अभितिष्ठ पृतन्यतोऽवबाधस्व पृतनायतः ॥

इस मन्त्र को बोले

तत्पश्चात् वधू वर कुण्ड के समीप आके पूर्वाभिमुख दोनों खड़े रहें, और यहां वधू दक्षिण ओर रह के अपनी हस्ताञ्जली को वर की हस्ताञ्जली पर रक्खे ।

तत्पश्चात् वधू की मा वा भाई जो बायें हाथ में धाणी का सूपड़ा पकड़ के खड़ा रहा हो वह धाणी का सूपड़ा भूमि पर धर अथवा किसी के हाथ में देके जो वधू वर की एकत्र की हुई अर्थात् नीचे वर की और ऊपर वधू की हस्ताञ्जली है उस में प्रथम थोड़ा घृत सिञ्चन कर के, पश्चात् प्रथम सूप में से दहिने हांथ की अञ्जली से दो वार ले के वर वधू की एकत्र की हुई अञ्जली में धाणी डाले, पश्चात् उस अञ्जलीस्थ धाणी पर थोड़ा सा घी सिञ्चन करे । पश्चात् वधू वर की हस्ताञ्जली सहित अपनी हस्ताञ्जली को आगे से नमा के—

ओम् अर्यमणं देवं कन्या अग्निमयक्षत । स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतु मा पतेः स्वाहा ॥ इदमर्यम्णे अग्नये—इदन्न मम ॥ १ ॥

ओम् इयं नार्युपब्रूते लाजानावपन्तिका । आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥ २ ॥

ओम् इमाँल्लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धिकरणं तव । मम तुभ्यं च संवननं तदग्निरनुमन्यतामियᳬं स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥ ३ ॥

इन तीन मन्त्रों में एक-एक मन्त्र से एक-एक वार थोड़ी-थोड़ी धाणी की आहुति तीन वार प्रज्वलित इन्धन पर दे के वर—

ओं सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवति। यान्त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः। यस्यां भूतꣳसमभवद्यस्यां विश्वमिदं जगत्। तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः॥

इन मन्त्र को बोल के अपने जमणे हाथ की हस्ताञ्जली से वधू की हस्ताञ्जली पकड़ के, वर—

ओं तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह।
पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह॥

ओं कन्यला पितृभ्यः पतिलोकं यतीयमप दीक्षामयष्ट।
कन्या उत त्वया वयं धारा उदन्या इवातिगाहेमहि द्विषः॥ २॥

इन मन्त्रों को पढ़ यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा कर के यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्व की ओर मुख कर के थोड़ी देर दोनों खड़े रहें।

तत्पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार कलश सहित यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा कर, पुनः दो वार इसी प्रकार अर्थात् सब मिल के ४ चार परिक्रमा करके, अन्त में यज्ञकुण्ड के पश्चिम में थोड़ा ठड़े रह के उक्त रीति से तीन वार क्रिया पूरी हुए पश्चात् यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख वधू वर खड़े रहें। पश्चात् वधू की मा अथवा भाई उस सूप को तिरछा करके उस में बाकी रही हुई धाणी को वधू की हस्ताञ्जली में डाल देवे पश्चात् वधू—

ओं भगाय स्वाहा॥ इदं भगाय इदन्न मम॥

इस मन्त्र को बोल के प्रज्वलित अग्नि पर वेदी में उस धाणी की एक आहुति देवे।

पश्चात् वर, वधू को दक्षिण भाग में रख के कुण्ड के पश्चिम पूर्वाभिमुख बैठ के—

ओं प्रजापतये स्वाहा॥ इदं प्रजापतये—इदन्न मम॥

इस मन्त्र को बोल के स्रुवा से एक घृत की आहुति देवे।

तत्पश्चात् एकान्त में जा के वधू कें बंधे हुए केशों को वर—

ओं प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद्येन त्वा बध्नात्सविता सुशेवः। ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टान्त्वा सह पत्या दधामि ॥ १ ॥

ओं प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम्।
यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति ॥ २ ॥

इन दोनों मन्त्रों को बोल के प्रथम वधू के केशों को छोड़ना।

तत्पश्चात् सभामण्डप में आके सप्तपदी विधि का आरम्भ करे, इस समय वर के उपवस्त्र के साथ वधू के उत्तरीय वस्त्र की गांठ देनी, इसे जोड़ा कहते हैं। वधू वर दोनों जने आसन पर से उठ के, वर अपने दक्षिण हाथ से वधू की दक्षिण हस्ताञ्जली पकड़ के यज्ञकुण्ड के उत्तर भाग में जावें। तत्पश्चात् वर अपना दक्षिण हाथ वधू के दक्षिण स्कन्धे पर रख के दोनों समीप-समीप उत्तराभिमुख खड़े रहें। तत्पश्चात् वर—

मा सव्येन दक्षिणमतिक्राम ॥

ऐसा बोल के वधू को उस का दक्षिण पग, उठवा के चलने के लिये आज्ञा देनी। और—

ओम् इष एकपदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वानयतु पुत्रान् विन्दावहै बहूँस्ते सन्तु जरदष्टयः ॥ १ ॥

इस मन्त्र को बोल के वर अपने साथ वधू को लेकर ईशान दिशा में एक पग ‡ चले और चलावे।

---

‡ इस पग धरने की विधि ऐसी है कि वधू प्रथम अपना जमणा पग उठा के ईशानकोण की ओर बढ़ा के धरे, तत्पश्चात् दूसरे बायें पग को उठा के जमणे पग की पटली तक धरे, अर्थात् जमणे पग के थोड़ा सा पीछे बायां पग रक्खे। इसी को एक पगला गिणना। इसी प्रकार अगले छः मन्त्रों से भी क्रिया करनी, अर्थात् एक-एक मन्त्र से एक-एक पग ईशान दिशा की ओर धरना।

ओम् ऊर्ज्जे द्विपदी भव०* ॥ इस मन्त्र से दूसरा।
ओं रायस्पोषाय त्रिपदी भव० ॥ ३ ॥ इस मन्त्र से तीसरा।
ओं मयोभवाय चतुष्पदी भव० ॥ ४ ॥ इस मन्त्र से चौथा।
ओं प्रजाभ्यः पञ्चपदी भव० ॥ ५ ॥ इस मन्त्र से पांचवां।
ओम् ऋतुभ्यः षट्पदी भव० ॥ ६ ॥ इस मन्त्र से छठा और
ओं सखे सप्तपदी भव० ॥ ७ ॥ इस मन्त्र से सातवां पगला चलना।

इस रीति से इन सात मन्त्रों से सात पग ईशान दिशा में चला के, वधू वर दोनों गांठ बंधे हुए शुभासन पर बैठें।

तत्पश्चात् प्रथम से जो जल के कलश को ले के यज्ञकुण्ड की दक्षिण की ओर में बैठाया था, वह पुरुष उस पूर्वस्थापित जल कुम्भ को ले के वधू के समीप आवे और उस में से थोड़ा सा जल ले के वधू वर के मस्तक पर छिटकावे। और वर—

ओम् आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्ज्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे ॥ यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥ तस्मा अरङ्गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥

ओम् आपः शिवाः शिवतमाः शान्ताः शान्ततमास्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥ ४ ॥

इन चार मन्त्रों को बोले।

तत्पश्चात् वधू वर वहां से उठ के—

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥

* जो 'भव' के आगे प्रथम मन्त्र में पाठ है, सो छः मन्त्रों के इस 'भव' पद के आगे पूरा बोल के पग धरने की क्रिया करनी।

इस मन्त्र को पढ़ के सूर्य का अवलोकन करें।

तत्पश्चात् वर वधू के दक्षिण स्कन्धे पर से अपना दक्षिण हाथ ले के उस से वधू का हृदय स्पर्श कर के—

ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥ ॥

इस मन्त्र को बोले, और उसी प्रकार वधू भी अपने दक्षिण हाथ से वर के हृदय का स्पर्श करके इसी ऊपर लिखे हुए मन्त्र को बोले ×।

तत्पश्चात् वर, वधू के मस्तक पर हाथ धरके—

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्तं वि परेतन॥

इस मन्त्र को बोल के कार्यार्थ आये हुए लोगों की ओर अवलोकन करना। और इस समय सब लोग—

⁂ हे वधू! (ते) तेरे (हृदयम्) अन्तःकरण और आत्मा को (मम) मेरे (व्रते) कर्म के अनुकूल (दधामि) धारण करता हूँ, (मम) मेरे (चित्तम् अनु) चित्त के अनुकूल (ते) तेरा (चित्तम्) चित्त सदा (अस्तु) रहे, (मम) मेरी (वाचम्) वाणी को तू (एकमनाः) एकाग्रचित्त से (जुषस्व) सेवन किया कर। (प्रजापतिः) प्रजा का पालन करने वाला परमात्मा (त्वा) तुझ को (मह्यम्) मेरे लिये (नियुनक्तु) नियुक्त करे।

× वैसे ही हे प्रिय वीर स्वामिन्! आप का हृदय आत्मा और अन्तःकरण मेरे प्रियाचरण कर्म में धारण करती हूं। मेरे चित्त के अनुकूल आप का चित्त सदा रहे। आप एकाग्र हो के मेरी वाणी का जो कुछ मैं आप से कहूँ उस का सेवन सदा किया कीजिये क्योंकि आज से प्रजापति परमात्मा ने आप को मेरे आधीन किया है। जैसे मुझ को आप के आधीन किया है। अर्थात् इस प्रतिज्ञा के अनुकूल दोनों वर्ता करें, जिस से सर्वदा आनन्दित और कीर्तिमान् पतिव्रता और स्त्रीव्रत होके सब प्रकार के व्यभिचार अप्रिय भाषणादि को छोड़ के परस्पर प्रीतियुक्त रहें।

ओं सौभाग्यमस्तु । ओं शुभं भवतु ।।

इस वाक्य से आशीर्वाद देवें ।

तत्पश्चात् वधू वर यज्ञकुण्ड के समीप पूर्ववत् बैठ के पुनः पृष्ठ २५ में लिखे प्रमाणे दोनों (ओं यदस्य कर्मणो०) इस स्विष्टकृत् मन्त्र से होमाहुति अर्थात् एक आज्याहुति और पृष्ठ २५ में लिखे—

ओं भूरग्नये स्वाहा ।।

इत्यादि चार मन्त्रों से एक-एक से एक-एक आहुति करके ४ चार आज्याहुति देवें । और इस प्रमाणे विवाह का विधि पूरा हुए पश्चात् दोनों जने आराम अर्थात् विश्राम करें ।

इस रीति से थोड़ा सा विश्राम करके विवाह का उत्तर विधि करें । यह उत्तरविधि सब वधू के घर की ईशान दिशा में विशेष करके एक घर प्रथम से बना रक्खा हो वहां जाके करनी

तत्पश्चात् सूर्य अस्त हुए पीछे आकाश में नक्षत्र दीखें उस समय वधू वर यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख आसन पर बैठें । और पृष्ठ २२-२३ में लि० अग्न्याधान (**ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौ०**) इस मन्त्र से करें । यदि प्रथम ही सभामण्डप ईशान दिशा में हुआ और प्रथम अग्न्याधान किया हो तो अग्न्याधान न करें । (ओम् अयन्त इध्म०) इत्यादि ४ मन्त्रों से समिदाधान करके जब अग्नि प्रदीप्त होवे तब पृष्ठ २५ में लिखे प्रमाणे—

ओम् अग्नये स्वाहा ।।

इत्यादि ४ चार मन्त्रों से आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और पृष्ठ २५ में लिखे प्रमाणे—

ओं भूरग्नये स्वाहा ।।

इत्यादि ४ चार मन्त्रों से ४ चार व्याहृति आहुति, ये सब मिल के ८ आठ आज्याहुति देवें ।

तत्पश्चात् प्रधान होम करें । निम्नलिखित मन्त्रों से—

ओं लेखासन्धिषु पक्ष्मस्वारोकेषु च यानि ते तानि पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहं स्वाहा ।। इदं कन्यायै इदं न मम ।। १ ।।

ओं केशेषु यच्च पापकमीक्षिते रुदिते च यत् । तानि० ।। २ ।।

ओं शीलेषु यच्च पापकं भाषिते हसिते च यत्। तानि० ॥ ३ ॥
ओम् आरोकेषु दन्तेषु हस्तयोः पादयोश्च यत्। तानि० ॥ ४ ॥
ओम् ऊर्वोरुपस्थे जङ्घयोः सन्धानेषु च यानि ते। तानि० ॥ ५ ॥
ओं यानि कानि च घोराणि सर्वाङ्गेषु तवाभवन्। पूर्णाहुतिभिराज्यस्य सर्वाणि तान्यशीशमं स्वाहा ॥ इदं कन्यायै—इदन्न मम ॥६॥

ये छः मन्त्र हैं, इन में से एक-एक मन्त्र बोल एक-एक से छः आज्याहुति देनी, तत्पश्चात् पृष्ठ २५ में लिखे—

ओं भूरग्नये स्वाहा ॥

इत्यादि ४ चार व्याहृति मन्त्रों से ४ चार आज्याहुति देके, वधू वर वहाँ से उठ के सभामण्डप के बाहर उत्तर दिशा में जावें। तत्पश्चात् वर—

ध्रुवं पश्य ॥

ऐसा बोल के, वधू को ध्रुव का तारा दिखलावे❀। और वधू वर से बोले कि मैं—

पश्यामि ॥ ध्रुव के तारे को देखती हूँ।

तत्पश्चात् वधू—

ओं ध्रुवमसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयासम् (अमुष्य असौ) ❀ ॥

❀ हे वधू वा वर जैसे यह ध्रुव दृढ़ स्थिर है, इसी प्रकार आप और मैं एक दूसरे के प्रियाचरणों में दृढ़ स्थिर रहें।

❀ (अमुष्य) इस पद के स्थान में षष्ठीविभक्त्यन्त पति का नाम बोलना, जैसे—शिवशर्मा पति का नाम हो तो "शिवशर्मणः" ऐसा और (असौ) इस पद के स्थान में वधू अपने नाम को प्रथमाविभक्त्यन्त बोल के इस मन्त्र को पूरा बोले जैसे "भूयासं सौभाग्यदाहम् शिवशर्मणस्ते" इस प्रकार दोनों पद जोड़ के बोले—

हे स्वामिन्! सोभाग्यदा (अहम्) मैं (अमुष्य), आप शिवशर्मा की अर्द्धाङ्गी (पतिकुले) आप के कुल में (ध्रुवा) निश्चल जैसे कि आप (ध्रुवम्) दृढ़ निश्चय वाले मेरे स्थिर पति (असि) हैं, वैसे मैं भी आपकी स्थिर दृढ़ पत्नी (भूयासम्) होऊँ।

इस मन्त्र को बोल के। तत्पश्चात्—

अरुन्धतीं पश्य ॥

ऐसा वाक्य बोल के वर, वधू को अरुन्धती का तारा दिखलावे। और वधू—

पश्यामि ॥ ऐसा कह के—

ओम् अरुन्धत्यसि रुद्धाहमस्मि (अमुष्य ‡ असौ)॥

इस मन्त्र को बोल के, वर वधू की ओर देख के वधू के मस्तक पर हाथ धरके—

ओं ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत्।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम् × ॥ १ ॥

ओं ध्रुवमसि ध्रुवन्त्वा पश्यामि ध्रुवैधि पोष्ये मयि। मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिर्मया पत्या प्रजावती सं जीव शरदः शतम् + ॥ १ ॥

---

‡ अमुष्य इस पद के स्थान में पति का नाम षष्ठयन्त और (असौ) इस के स्थान में वधू का प्रथमान्त नाम जोड़ कर बोले—

× हे वरानने ! जैसे (द्यौः) सूर्य की कान्ति वा विद्युत् (ध्रुवा) सूर्यलोक वा पृथिव्यादि में निश्चल, जैसे (पृथिवी) भूमि अपने स्वरूप में (ध्रुवा) स्थिर, जैसे (इदम्) यह (विश्वम्) सब (जगत्) संसार प्रवाहस्वरूप में (ध्रुवम्) स्थिर है, जैसे (इमे) ये प्रत्यक्ष (पर्वताः) पहाड़ (ध्रुवासः) अपनी स्थिति में स्थिर हैं, वैसे (इयम्) यह तू मेरी (स्त्री) (पतिकुले) मेरे कुल में (ध्रुवा) सदा स्थिर रह ॥ १ ॥

+ हे स्वामिन् जैसे आप मेरे समीप (ध्रुवम्) दृढ़ संकल्प कर के स्थिर (असि) हैं, या जैसे मैं (त्वा) आप को (ध्रुवम्) स्थिर दृढ़ (पश्यामि) देखती हूं वैसे ही सदा के लिये मेरे साथ आप दृढ़ रहियेगा, क्योंकि मेरे मन के अनुकूल (त्वा) आप को (बृहस्पतिः) परमात्मा (आदात्) समर्पित कर चुका है, वैसे मुझ पत्नी के साथ उत्तम प्रजायुक्त हो के (शत शरदः) सौ वर्ष पर्यन्त (सम् जीव) जीविये। तथा हे वरानने पत्नी (पोष्ये) धारण और पालन करने योग्य

इन दोनों मन्त्रों को बोले।

पश्चात् वधू और वर दोनों यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख हो के कुण्ड के समीप बैठें, और पृष्ठ २२ में लिखे—

ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥

इत्यादि तीन मन्त्रों से एक एक से एक एक आचमन करके तीन-तीन आचमन दोनों करें। पश्चात् पृष्ठ २२-२३ में लिखी हुई समिधाओं से यज्ञकुण्ड में अग्नि को प्रदीप्त करके पृष्ठ १७ में लिखे० घृत और स्थालीपाक अर्थात् भात को उसी समय बनावें। पृष्ठ २३-२४ में लिखे प्रमाणे (ओम् अयन्त इध्म०) इत्यादि चार मन्त्रों से समिधा होम दोनों जने करके, पश्चात् पृष्ठ २५ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और पृष्ठ २५ में लिखे प्रमाणे व्याहृति आहुति ४ चार दोनों मिल के ८ (आठ) आज्याहुति वर वधू देवें।

तत्पश्चात् जो ऊपर सिद्ध किया हुआ ओदन अर्थात् भात, उस को एक पात्र में निकाल के उस के ऊपर स्रुवा से घृत सेचन करके घृत और भात को अच्छे प्रकार मिलाकर दक्षिण हाथ में थोड़ा-थोड़ा भात दोनों जने लेके--

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥ १ ॥

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये—इदन्न मम ॥ २ ॥

ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यः इदन्न मम ॥ ३ ॥

ओम् अनुमतये स्वाहा ॥ इदमनुमतये—इदन्न मम ॥ ४ ॥

इन में से प्रत्येक मन्त्र से एक-एक करके ४ चार स्थालीपाक अर्थात् भात की आहुति देनी। तत्पश्चात् पृष्ठ २५ में लिखे (ओं यदस्य कर्मणो०) इस मन्त्र से एक स्विष्टकृत् आहुति देनी। तत्पश्चात् पृष्ठ २५ में लिखे प्रमाणे व्याहृति

(मयि) मुझ पति के निकट (ध्रुवा) स्थिर (एधि) रह, (मह्यम्) मुझ की अपनी मनसा के अनुकूल तुझे परमात्मा ने दिया है, तू (मया) मुझ (पत्या) पति के साथ (प्रजावती) बहुत उत्तम प्रजायुक्त होकर सौ वर्ष पर्यन्त आनन्द पूर्वक जीवन धारण कर। वधू वर ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा करें कि जिस से कभी उलटे विरोध में न चलें॥ २ ॥

आहुति ४ चार और पृष्ठ २७-२८ में लिखे अष्टाज्याहुति ८ आठ दोनों मिल के १२ (बारह) आज्याहुति देनी।

तत्पश्चात् शेष रहा हुआ भात एक पात्र में निकाल के उस पर घृत सेचन कर, और उस पर दक्षिण हाथ रख के—

ओम् अन्नपाशेन मणिना प्राणसूत्रेण पृश्निना।
बध्नामि सत्यग्रन्थिना मनश्च हृदयं च ते* ॥ १ ॥
ओं यदेतद्धृदयं तव तदस्तु हृदयं मम।
यदिदꣳहृदयं मम तदस्तु हृदयं तव + ॥ २ ॥
ओम् अन्नं प्राणस्य षड्विꣳशस्तेन बध्नामि त्वा असौ × ॥३॥

इन तीनों मन्त्रों को मन से जप के, वर उस भात में से प्रथम थोड़ा सा भक्षण करके, जो उच्छिष्ट शेष भात रहे, वह अपनी वधू के लिये खाने को देवे। और जब वधू उस को खा चुके तब वधू वर यज्ञमण्डप में सन्नद्ध हुए शुभासन पर नियम प्रमाणे पूर्वाभिमुख बैठें, और पृष्ठ २८-२९ में लिखे प्रमाणे सामवेदोक्त महावामदेव्यगान करें।

तत्पश्चात् पृष्ठ ४-१४ में लिखे प्रमाणे ईश्वर की स्तुति प्रार्थनोपासना,

---

* हे वधू वा वर! जैसे अन्न के साथ प्राण, प्राण के साथ अन्न तथा अन्न और प्राण का अन्तरिक्ष के साथ सम्बन्ध है वैसे (ते) तेरे (हृदयम्) हृदय (च) और (मनः) मन (च) और चित्त आदि को (सत्यग्रन्थिना) सत्यता की गांठ से (बध्नामि) बांधती वा बांधता हूं ॥ १ ॥

+ हे वर हे स्वामिन् वा हे पत्नी! (यदेतत्) जो यह (तव) तेरा (हृदयम्) आत्मा वा अन्तःकरण है (तत्) वह (मम) मेरा (हृदयम्) आत्मा अन्तःकरण के तुल्य प्रिय (अस्तु) हो, और (मम) मेरा (यदिदम्) जो यह (हृदयम्) आत्मा प्राण और मन है (तत्) सो (तव) तेरे (हृदयम्) आत्मादि के तुल्य प्रिय (अस्तु) सदा रहे ॥ २ ॥

× (असौ) हे यशोदे! जो (प्राणस्य) प्राण का पोषण करनेहारा (षड्-विंशः) २६ (छब्बीसवां) तत्त्व (अन्नम्) अन्न है (तेन) उस से (त्वा) तुझ को (बध्नामि) दृढ़ प्रीति से बांधता वा बांधती हूं ॥ ३ ॥

स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण कर्म करके क्षारलवण-रहित मिष्ट दुग्ध घृतादि सहित भोजन करें।

तत्पश्चात् पृष्ठ ५५ में लिखे प्रमाणे पुरोहितादि सद्धर्मी और कार्यार्थ इकट्ठे हुए लोगों को सम्मानार्थ उत्तम भोजन कराना। तत्पश्चात् यथायोग्य पुरुषों का पुरुष और स्त्रियों का स्त्री आदर सत्कार करके विदा कर देवें।

तत्पश्चात् दश घटिका रात्रि जाय तब वधू और वर पृथक्-पृथक् स्थान में भूमि में बिछौना करके तीन रात्रि पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत सहित रह कर शयन करें, और ऐसा भोजन करें कि स्वप्न में भी वीर्यपात न होवे। तत्पश्चात् चौथे दिवस विधि पूर्वक गर्भाधान संस्कार करें। यदि चौथे दिवस कोई अड़चन आवे, तो अधिक दिन ब्रह्मचर्य व्रत में दृढ़ कर जिस दिन दोनों की इच्छा हो, और पृष्ठ ३३-३४ में लिखे प्रमाणे गर्भाधान की रात्रि भी हो, उस रात्रि में यथाविधि गर्भाधान करें।

तत्पश्चात् दूसरे वा तीसरे दिन प्रातःकाल वरपक्ष वाले लोग वधू और वर को रथ में बैठा के बड़े सम्मान से अपने घर में लावें।

और जो वधू अपने माता पिता के घर को छोड़ते समय आँख में अश्रु भर लावे तो—

जीवं रुदन्ति वि मयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः।
वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे॥

इस मन्त्र को वर बोले।

और रथ में बैठते समय वर अपने साथ दक्षिण बाजू वधू को बैठावे, उस समय में वर—

पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन।
गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि॥ १॥
सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम्।
आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व॥ २॥

इन दो मन्त्रों को बोल के रथ को चलावे।

यदि वधू को वहां से अपने घर लाने के समय नौका पर बैठना पड़े तो इस निम्नलिखित मन्त्र को पूर्व बोल के नौका पर बैठे—

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः।

और नाव से उतरते समय—

अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान्॥

इस उत्तरार्द्ध मन्त्र को बोल के नाव से उतरें।

पुनः इसी प्रकार मार्ग में चार मार्गों का संयोग, नदी, व्याघ्र, चोर आदि से भय वा भयंकर स्थान ऊँचे नीचे खाड़ा वाली पृथिवी बड़े-बड़े वृक्षों का झुण्ड वा श्मशान भूमि आवे तो—

मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ती दम्पती।
सुगेभिर्दुर्गमतीतामपद्रान्त्वरातयः॥

इस मन्त्र को बोले।

तत्पश्चात् वधू वर जिस रथ में बैठ के जाते हों, उस रथ का कोई अंग टूट जाय अथवा किसी प्रकार का अकस्मात् उपद्रव होवे, तो मार्ग में कोई अच्छा स्थान देख के निवास करना, और साथ रक्खे हुए विवाहाग्नि को प्रगट करके उस में पृष्ठ २५ में लिखे प्रमाणे ४ चार व्याहृति आज्याहुति देनी। पश्चात् पृष्ठ २८-२९ में लिखे प्रमाणे वामदेव्यगान करना।

पश्चात् जब वधू वर का रथ वर के घर के आगे आ पहुँचे, तब कुलीन पुत्रवती सौभाग्यवती वा कोई ब्राह्मणी वा अपने कुल की स्त्री आगे सामने आकर वधू का हाथ पकड़ के वर के साथ रथ से नीचे उतारे, और वर के साथ सभामण्डप में ले जावे। सभामण्डप द्वारे आते ही वर वहां कार्यार्थ आये हुए लोगों की ओर अवलोकन करके—

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्तं वि परेतन॥ २॥

इस मन्त्र को बोले, और आये हुए लोग—

ओं सौभाग्यमस्तु । ओं शुभं भवतु ।।

इस प्रकार आशीर्वाद देवें । तत्पश्चात् वर—

इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि ।
एना पत्या तन्वं सं सृजस्वाधा जिव्री विदथमा वदाथः ।।

इस मन्त्र को बोल के वधू को सभामण्डप में ले जावे । तत्पश्चात् वधू वर पूर्व स्थापित यज्ञकुण्ड के समीप जावें । उस समय वर—

ओम् इह गावः प्रजायध्वमिहाश्वा इह पूरुषाः ।
इहो सहस्रदक्षिणोऽपि पूषा नि षीदतु ।।

इस मन्त्र को बोल के, यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पीठासन अथवा तृणासन पर वधू को अपने दक्षिण भाग में पूर्वाभिमुख बैठावे । तत्पश्चात् पृष्ठ २२ में लि०—

ओम् अमृतोपस्तरणमसि ।।

इत्यादि तीन मन्त्रों से एक-एक से एक-एक करके तीन-तीन आचमन करें । तत्पश्चात् पृष्ठ २२-२३ में लिखे प्रमाणे कुण्ड में यथाविधि समिधा चयन अग्न्याधान करें । जब उसी कुण्ड में अग्नि प्रज्वलित हो तब उस पर घृत सिद्ध करके पृष्ठ २३-२४ में लिखे प्रमाणे समिदाधान करके प्रदीप्त हुए अग्नि में पृष्ठ २५-२८ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और व्याहृति आहुति ४ चार अष्टाज्याहुति ८ आठ सब मिल के १६ सोलह आज्याहुति वधू वर करके, प्रधानहोम का प्रारम्भ निम्नलिखित मन्त्रों से करें—

ओम् इह धृतिः स्वाहा ।। इदमिह धृत्यै—इदन्न मम ।।१।।
ओम् इह स्वधृतिः स्वाहा ।। इदमिह स्वधृत्यै—इदन्न मम ।।२।।
ओम् इह रन्तिः स्वाहा ।। इदमिह रन्त्यै—इदन्न मम ।।३।।
ओम् इह रमस्व स्वाहा ।। इदमिह रमाय—इदन्न मम ।।४।।
ओं मयि धृतिः स्वाहा ।। इदं मयि धृत्यै—इदन्न मम ।।५।।

ओं मयि स्वधृतिः स्वाहा ॥ इदं मयि स्वधृत्यै—इदन्न मम ॥६॥
ओं मयि रमः स्वाहा ॥ इदं मयि रमाय—इदन्न मम ॥७॥
ओं मयि रमस्व स्वाहा ॥ इदं मयि रमाय—इदन्न मम ॥८॥

इन प्रत्येक मन्त्रों से, एक-एक करके ८ आठ आज्याहुति देके—

ओम् आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा। अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा[1] ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै—इदन्न मम ॥ १ ॥

ओम् अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः। वीरसूर्देवृकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा[2] ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै—इदन्न मम ॥ २ ॥

ओम् इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि स्वाहा[3] ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै इदन्न मम ॥ ३ ॥

१. हे वधू (अर्यमा) न्यायकारी, दयालु (प्रजापतिः) परमात्मा कृपा करके (आजरसाय) जरावस्था पर्यन्त जीने के लिये (नः) हमारी (प्रजाम्) उत्तम प्रजा को शुभ गुण कर्म और स्वभाव से (आजनयतु) प्रसिद्ध करे, (समनक्तु) उस से उत्तम सुख को प्राप्त करे, और वे शुभगुणयुक्त (मङ्गलीः) स्त्री लोग सब कुटुम्बियों को आनन्द (अदुः) देवें, उन में से एक तू हे वरानने ! (पतिलोकम्) पति के घर वा सुख को (आविश) प्रवेश वा प्राप्त हो (नः) हमारे (द्विपदे) पिता आदि मनुष्यों के लिये (शम्) सुखकारिणी और (चतुष्पदे) गौ आदि को (शम्) सुखकर्ता (भव) हो ॥ १ ॥

२. इस मन्त्र का अर्थ पृष्ठ १३४ में लिखे प्रमाणे जानना ॥ २ ॥

३. ईश्वर पुरुष और स्त्री को आज्ञा देता है कि हे (मीढ्वः) वीर्यसेचन करनेहारे (इन्द्र) परमैश्वर्य युक्त इस वधू के स्वामिन् ! (त्वम्) तू (इमाम्) इस

ओं सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव । ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु स्वाहा* ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै-इदन्न मम ॥ ४ ॥

वधू को (सुपुत्राम्) उत्तम पुत्रयुक्त (सुभगाम्) सुन्दर सौभाग्य भोगवाली (कृणु) कर। (अस्याम्) इस वधू में (दश) दश (पुत्रान्) पुत्रों को (आ धेहि) उत्पन्न कर, अधिक नहीं। और हे स्त्री ! तू भी अधिक कामना मत कर किन्तु दश पुत्र और (एकादशम्) ग्यारहवें (पतिम्) पति को प्राप्त होकर सन्तोष (कृधि) कर। यदि इस से आगे सन्तानोत्पत्ति का लोभ करोगे तो तुम्हारे दुष्ट, अल्पायु निर्बुद्धि सन्तान होंगे, और तुम भी अल्पायु रोगग्रस्त हो जाओगे। इसलिये अधिक सन्तानोत्पत्ति न करना ।

तथा (पतिमेकादशं कृधि) इस पद का अर्थ नियोग में दूसरा होगा, अर्थात् जैसे पुरुष को विवाहित स्त्री में दश पुत्र उत्पन्न करने की आज्ञा परमात्मा की है, वैसी ही आज्ञा स्त्री को भी है कि दश पुत्र तक चाहे विवाहित पति से अथवा विधवा हुए पश्चात् नियोग से करे करावे। वैसे ही एक स्त्री के लिये एक पति से एक वार विवाह और पुरुष के लिये भी एक स्त्री से एक ही वार विवाह करने की आज्ञा है। जैसे विधवा हुए पश्चात् स्त्री नियोग से सन्तानोत्पत्ति करके पुत्रवती होवे, वैसे पुरुष भी विगत स्त्री होवे तो नियोग से पुत्रवान् होवे ॥ ३ ॥

* हे वरानने ! तू (श्वशुरे) मेरा पिता जो कि तेरा श्वशुर है, उस में प्रीति करके (सम्राज्ञी) सम्यक् प्रकाशमान चक्रवर्ती राजा की राणी के समान पक्षपात छोड़ के प्रवृत्त (भव) हो। (श्वश्र्वाम्) मेरी माता जो कि तेरी सासु हैं, उस में प्रेमयुक्त हो के उसी की आज्ञा में (सम्राज्ञी) सम्यक् प्रकाशमान (भव) रहा कर। (ननान्दरि) जो मेरी बहिन और तेरी ननद है, उस में भी (सम्राज्ञी) प्रीतियुक्त और (देवृषु) मेरे भाई जो तेरे देवर और ज्येष्ठ अथवा कनिष्ठ हैं उन में भी (सम्राज्ञी) प्रीति से प्रकाशमान (अधि भव) अधिकारयुक्त हो, अर्थात् सब से अविरोधपूर्वक प्रीति से वर्ता कर ॥ ४ ॥

इन ४ चार मन्त्रों से एक-एक से एक-एक करके ४ चार आज्याहुति दे के, पृष्ठ २५-२६ में लिखे प्रमाणे स्विष्टकृत् होमाहुति १ एक, व्याहृति आज्याहुति ४ चार और प्राजापत्याहुति १ एक ये सब मिलके ६ छः आज्याहुति देकर, वर वधू—

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ* ॥

इस मन्त्र को बोल के दोनों दधिप्राशन करें । तत्पश्चात्—

अहं भो अभिवादयामि+ ॥

इस वाक्य को बोल के दोनों वधू वर, वर की माता पिता आदि वृद्धों को प्रीतिपूर्वक नमस्कार करें ।

पश्चात् सुभूषित होकर शुभासन पर बैठ के, पृष्ठ २८-२९ में लिखे प्रमाणे वामदेव्यगान करके, उसी समय पृष्ठ ४-७ में लिखे प्रमाणे ईश्वरोपासना करनी । उस समय कार्यार्थ आये हुए सब स्त्री पुरुष ध्यानावस्थित होकर परमेश्वर का ध्यान करें तथा वधू वर, पिता आचार्य और पुरोहित आदि को कहें कि—

ओं स्वस्ति भवन्तो ब्रुवन्तु ॥

आप लोग स्वस्तिवाचन करें । तत्पश्चात् पिता आचार्य पुरोहित जो विद्वान् हों अथवा उनके अभाव में यदि वधू वर विद्वान् वेदवित् हों तो वे ही दोनों पृष्ठ ८-११ में लिखे प्रमाणे स्वस्तिवाचन का पाठ बड़े प्रेम से करें ।

पाठ हुए पश्चात् कार्यार्थ आये हुए स्त्री पुरुष सब—

ओं स्वस्ति, ओं स्वस्ति, ओं स्वस्ति ॥

इस वाक्य को बोलें । तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता, पिता, चाचा, भाई आदि पुरुषों

---

* इस मन्त्र का अर्थ पृष्ठ १३३ में लिखित समझ लेना ।

+ इससे उत्तम 'नमस्ते' यह वेदोक्त वाक्य अभिवादन के लिए नित्यप्रति स्त्री पुरुष, पिता पुत्र अथवा गुरु शिष्य आदि के लिये है । प्रातः सायं अपूर्व समागम में जब जब मिलें तब-तब इसी वाक्य से परस्पर वन्दन करें ।

को तथा माता, चाची, भगिनी आदि स्त्रियों को यथावत् सत्कार करके विदा करें।

तत्पश्चात् यदि किसी विशेष कारण से श्वशुर गृह में गर्भाधान संस्कार न हो सके तो वधू वर क्षार आहार और विषय तृष्णा रहित व्रतस्थ होके, पृष्ठ ३१–४५ में लिखे प्रमाणे विवाह के चौथे दिवस में गर्भाधान संस्कार करें अथवा उस दिन ऋतुकाल न हो तो किसी दूसरे दिन गर्भस्थापन करें। और जो वर दूसरे देश से विवाह के लिये आया हो तो वह जहाँ जिस स्थान में विवाह करने के लिये जाकर उतरा हो उसी स्थान में गर्भाधान करे।

पुनः अपने घर आ के पति, सासु, श्वशुर, ननन्द, देवर, देवरानी, ज्येष्ठ, जेठानी आदि कुटुम्ब के मनुष्य वधू की पूजा अर्थात् सत्कार करें, सदा प्रीतिपूर्वक परस्पर वर्तें, और मधुर वाणी, वस्त्र, आभूषण आदि से सदा प्रसन्न और सन्तुष्ट वधू को रक्खें तथा वधू भी सब को प्रसन्न रक्खे। और वर उस वधू के साथ पत्नीव्रतादि सद्धर्म से वर्ते, तथा पत्नी भी पति के साथ पतिव्रतादि सद्धर्म चाल चलन से सदा पति की आज्ञा में तत्पर और उत्सुक रहे, तथा वर भी स्त्री की सेवा, प्रसन्नता में तत्पर रहे।

इति विवाहसंस्कारविधिः समाप्तः॥

अथ गृहाश्रमसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

'गृहाश्रम संस्कार' उसको कहते हैं कि जो ऐहिक और पारलौकिक सुख-प्राप्ति के लिये विवाह करके अपने सामर्थ्य के अनुसार परोपकार करना, और नियत काल में यथाविधि ईश्वरोपासना और गृहकृत्य करना, और सत्य धर्म में ही अपना तन, मन, धन लगाना तथा धर्मानुसार सन्तानों की उत्पत्ति करनी।

अत्र प्रमाणानि—

सोमो॑ वधूयुर॑भवद॒श्विना॑स्तामु॒भा व॒रा ।
सू॒र्यां यत्पत्ये॒ शंस॑न्तीं॒ मन॑सा सवि॒ता द॑दात् ॥ १ ॥
इ॒हैव स्तं॒ मा वि यौ॑ष्टं॒ विश्व॒मायु॒र्व्य॑श्नुतम् ।
क्रीड॑न्तौ पु॒त्रैर्नप्तृ॑भि॒र्मोद॑मानौ॒ स्वस्त॒कौ ॥ २ ॥

अर्थ—(सोमः) सुकुमार शुभगुणयुक्त (वधूयुः) वधू की कामना करनेहारा पति तथा वधू पति की कामना करनेहारी (अश्विना) दोनों ब्रह्मचर्य से विद्या को प्राप्त (अभवत्) होवें, और (उभा) दोनों (वरा) श्रेष्ठ तुल्य गुण, कर्म, स्वभाव वाले (आस्ताम्) होवें, ऐसी (यत्) जो (सूर्याम्) सूर्य की किरणवत् सौन्दर्य गुणयुक्त (पत्ये) पति के लिये (मनसा) मन से (शंसन्तीम्) गुण कीर्त्तन करने वाली वधू है, उस को पुरुष और इसी प्रकार के पुरुष को स्त्री (सविता) सकल जगत् का उत्पादक परमात्मा (ददात्) देता है। अर्थात् बड़े भाग्य से दोनों स्त्री पुरुषों का, जो कि तुल्य गुण कर्म स्वभाव हों, जोड़ा मिलता है॥ १ ॥

हे स्त्रि और पुरुष ! मैं परमेश्वर आज्ञा देता हूं कि जो तुम्हारे लिये पूर्व विवाह में प्रतिज्ञा हो चुकी है जिस को तुम दोनों ने स्वीकार किया है (इहैव) इसी में (स्तम्) तत्पर रहो, (मा, वियौष्टम्) इस प्रतिज्ञा से वियुक्त मत होओ। (विश्वमायुर्व्यश्नुतम्) ऋतुगामी होके वीर्य का अधिक नाश न करके

सम्पूर्ण आयु जो १०० सौ वर्षों से कम नहीं है, उस को प्राप्त होओ और पूर्वोक्त धर्म रीति से (पुत्रैः) पुत्रों और (नप्तृभिः) नातियों के साथ (क्रीडन्तौ) क्रीड़ा करते हुए (स्वस्तकौ) उत्तम गृह वाले (मोदमानौ) आनन्दित होकर गृहाश्रम में प्रीतिपूर्वक वास करो ॥ २ ॥

सुमङ्गली प्रतरंणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शम्भूः ।
स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान् ॥ ३ ॥

स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्यै गृहेभ्यः ।
स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव ॥ ४ ॥

या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि ।
वर्चोन्वस्यै सं दत्ताथास्तं विपरेतन ॥ ५ ॥

आ रोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्यै अस्मै ।
इन्द्राणीवं सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि ॥६॥

अर्थः—हे वरानने ! तू (सुमङ्गली) अच्छे मङ्गलाचरण करने तथा (प्रतरणी) दोष और शोकादि से पृथक् रहनेहारी (गृहाणाम्) गृहकार्यों में चतुर और तत्पर रहकर (सुशेवा) उत्तम सुखयुक्त होके (पत्ये) पति (श्वशुराय) श्वशुर और (श्वश्र्वै) सासु के लिये (शम्भूः) सुखकर्त्ता और (स्योना) स्वयं प्रसन्न हुई (इमान्) इन (गृहान्) घरों में सुख पूर्वक (प्रविश) प्रवेश कर ॥ ३ ॥

हे वधू ! तू (श्वशुरेभ्यः) श्वशुरादि के लिये (स्योना) सुखदाता (पत्ये) पति के लिये (स्योना) सुखदाता, और (गृहेभ्यः) गृहस्थ सम्बधियों के लिये (स्योना) सुखदायक (भव) हो, और (अस्यै) इस (सर्वस्यै) सब (विशे) प्रजा के अर्थ (स्योना) सुखप्रद और (एषाम्) इनके (पुष्टाय) पोषण के अर्थ तत्पर (भव) हो ॥ ४ ॥

(याः) जो (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वाली अर्थात् दुष्टात्मा (युवतयः) ज्वान स्त्रियां (च) और (याः) जो (इह) इस स्थान में (जरतीः) बुड्ढी

वृद्ध दुष्ट स्त्रियाँ हों वे (अपि) भी (अस्यै) इस वधू को (नु) शीघ्र (वर्चः) तेज (संदत्त) देवें, (अथ) इसके पश्चात् (अस्तम्) अपने-अपने घर को (विपरेतन) चली जावें और फिर इसके पास कभी न आवें ॥ ५ ॥

हे वरानने ! तू (सुमनस्यमाना) प्रसन्न चित्त होकर (तल्पम्) पर्यङ्क पर (आ रोह) चढ़ के शयन कर और (इह) इस गृहाश्रम में स्थिर रहकर (अस्मै) इस (पत्ये) पति के लिये (प्रजां जनय) प्रजा को उत्पन्न कर, (सुबुधा) सुन्दर ज्ञानी (बुध्यमाना) उत्तम शिक्षा को प्राप्त (इन्द्राणीव) सूर्य की कान्ति के समान तू (उषसः) उषःकाल से (अग्रा) पहिली (ज्योतिः) ज्योति के तुल्य (प्रति, जागरासि) प्रत्यक्ष सब कामों में जागती रह ॥ ६ ॥

देवा अग्रे न्यपद्यन्त पत्नीः समस्पृशन्त तन्वस्तनूभिः ।
सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह ॥ ७ ॥

सं पितरावृत्विये सृजेथां माता पिता च रेतसो भवाथः ।
मर्यइव योषामधि रोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम् ॥८॥

तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या३ वपन्ति ।
या न ऊरू उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपः ॥ ९ ॥

अर्थः—हे सौभाग्यप्रदे ! (नारि) तू जैसे (इह) इस गृहाश्रम में (अग्रे) प्रथम (देवाः) विद्वान् लोग (पत्नीः) उत्तम स्त्रियों को (न्यपद्यन्त) प्राप्त होते हैं, और (तनूभिः) शरीरों से (तन्वः) शरीरों को (समस्पृशन्त) स्पर्श करते हैं, वैसे (विश्वरूपा) विविध सुन्दर रूप को धारण करनेहारी (महित्वा) सत्कार को प्राप्त होके (सूर्येव) सूर्य की कान्ति के समान (पत्या) अपने स्वामी के साथ मिल के (प्रजावती) प्रजा को प्राप्त होनेहारी (संभव) अच्छे प्रकार हो ॥७॥

हे स्त्री पुरुषो ! तुम (पितरौ) बालकों के जनक (ऋत्विये) ऋतु समय में सन्तानों को (संसृजेथाम्) अच्छे प्रकार उत्पन्न करो। (माता) जननी (च) और (पिता) जनक दोनों (रेतसः) वीर्य को खिलाकर गर्भाधान करने हारे (भवाथः) हूजिये। हे पुरुष ! (एनाम्) इस (योषाम्) अपनी स्त्री को (मर्य-

इव) प्राप्त होने वाले पति के समान (अधि रोहय) सन्तानों से बढ़ा, और दोनों (इह) इस गृहाश्रम में मिल के (प्रजाम्) प्रजा को (कृण्वाथाम्) उत्पन्न करो, (पुष्यतम्) पालन पोषण करो और पुरुषार्थ से (रयिम्) धन को प्राप्त होओ ॥ ८ ॥

हे (पूषन्) वृद्धिकारक पुरुष ! (यस्याम्) जिसमें (मनुष्याः) मनुष्य लोग (बीजम्) वीर्य को (वपन्ति) बोते हैं (या) जो (नः) हमारी (उशती) कामना करती हुई (ऊरू) ऊरू को सुन्दरता से (विश्रयाति) विशेष कर आश्रय करती है, (यस्याम्) जिसमें (उशन्तः) सन्तानों की कामना करते हुए हम (शेपः) उपस्थेन्द्रिय का (प्रहरेम) प्रहरण करते हैं, (ताम्) उस (शिवतमाम्) अतिशय कल्याण करनेहारी अपनी स्त्री को सन्तानोत्पत्ति के लिये (एरयस्व) प्रेम से प्रेरणा कर ॥ ९ ॥

स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ ।
सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः ॥ १० ॥
इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दम्पती ।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम् ॥ ११ ॥
जनियन्ति नावग्रवः पुत्रीयन्ति सुदानवः ।
अरिष्टासू सचेवहि बृहते वाजसातये ॥ १२ ॥

अर्थः—हे स्त्रि और पुरुष ! जैसे सूर्य (विभातीः) सुन्दर प्रकाशयुक्त (उषसः) प्रभातवेला को प्राप्त होता है, वैसे (स्योनात्) सुख से (योनेः) घर के मध्य में (अधि बुध्यमानौ) सन्तानोत्पत्ति आदि की क्रिया को अच्छे प्रकार जाननेहारे, सदा (हसामुदौ) हास्य और आनन्दयुक्त, (महसा) बड़े प्रेम से (मोदमानौ) अत्यन्त प्रसन्न हुए (सुगू) उत्तम चाल चलने से धर्मयुक्त व्यवहार में अच्छे प्रकार चलनेहारे, (सुपुत्रौ) उत्तम पुत्र वाले (सुगृहौ) श्रेष्ठ गृहादि सामग्री युक्त (जीवौ) उत्तम प्रकार जीवों को धारण करते हुए (तराथः) गृहाश्रम के व्यवहारों के पार होओ ॥ १० ॥

हे (इन्द्र) परमैश्वर्ययुक्त विद्वन् राजन्! आप (इह) इस संसार में (इमौ) इन स्त्री पुरुषों को समय पर विवाह करने की आज्ञा और ऐसी व्यवस्था दीजिये कि जिस से कोई स्त्री-पुरुष पृष्ठ ६५—६६ में लिखे प्रमाण से पूर्व वा अन्यथा विवाह न कर सकें, वैसे (संनुद) सब को प्रसिद्धि से प्रेरणा कीजिये, जिससे ब्रह्मचर्यपूर्वक शिक्षा को पाके (दम्पती) जाया और पति (चक्रवाकेव) चकवा चकवी के समान एक दूसरे से प्रेमबद्ध रहें और गर्भाधान-संस्कारोक्तविधि से (प्रजया) उन्नत हुई प्रजा से (एनौ) ये दोनों (स्वस्तकौ) सुखयुक्त हो के (विश्वम्) सम्पूर्ण १०० वर्ष पर्यन्त (आयुः) आयु को (व्यश्नुताम्) प्राप्त होवें ॥ ११ ॥

हे मनुष्यो! जैसे (सुदानवः) विद्यादि उत्तम गुणों के दान करनेहारे (अग्रवः) उत्तम स्त्री पुरुष (जनियन्ति) पुत्रोत्पत्ति करते और (पुत्रीयन्ति) पुत्र की कामना करते हैं वैसे (नौ) हमारे भी सन्तान उत्तम होवें, तथा (अरिष्टासू) बल प्राण का नाश न करनेहारे होकर (बृहते) बड़े (वाजसातये) परोपकार के अर्थ विज्ञान और अन्न आदि के दान के लिये (सचेवहि) कटिबद्ध सदा रहें, जिससे हमारे सन्तान भी उत्तम होवें ॥ १२ ॥

प्र बु॒ध्यस्व सु॒बु॒धा बुध्य॑माना दीर्घायु॒त्वाय॑ श॒तशा॑रदाय ।
गृ॒हान् ग॑च्छ गृ॒हप॑त्नी॒ यथासो॑ दी॒र्घं॑ त॒ आयुः॑ सवि॒ता कृ॑णोतु ॥१३॥

सहृ॑दयं सांमन॒स्यमवि॑द्वेषं कृणोमि वः ।
अ॒न्यो अ॒न्यम॒भि ह॑र्यत व॒त्सं जा॒तमि॑वा॒घ्न्या ॥ १४ ॥

अर्थः—हे पत्नी! तू (शतशारदाय) शतवर्ष पर्यन्त (दीर्घायुत्वाय) दीर्घकाल जीने के लिये (सुबुधा) उत्तम बुद्धियुक्त (बुध्यमाना) सज्ञान होकर (गृहान्) मेरे घरों को (गच्छ) प्राप्त हो, और (गृहपत्नी) मुझ घर के स्वामी की स्त्री (यथा) जैसे (ते) तेरा (दीर्घम्) दीर्घकालपर्यन्त (आयुः) जीवन (आसः) होवे वैसे (प्रबुध्यस्व) प्रकृष्ट ज्ञान और उत्तम व्यवहार को यथावत् जान। इस अपनी आशा को (सविता) सब जगत् की उत्पत्ति और सम्पूर्ण ऐश्वर्य को देनेहारा परमात्मा (कृणोतु) अपनी कृपा से सदा सिद्ध करे, जिस से तू और मैं सदा उन्नतिशील होकर आनन्द में रहें ॥ १३ ॥

हे गृहस्थो ! मैं ईश्वर तुम को जैसी आज्ञा देता हूं वैसा ही वर्त्तमान करो, जिस से तुम को अक्षय सुख हो अर्थात् (वः) तुम्हारा (सहृदयम्) जैसी अपने लिये सुख की इच्छा करते और दुःख नहीं चाहते हो वैसे माता पिता सन्तान स्त्री पुरुष भृत्य मित्र पड़ोसी और अन्य सबसे समान हृदय रहो। (सांमनस्यम्) मन से सम्यक् प्रसन्नता और (अविद्वेषम्) वैर विरोधादि रहित व्यवहार को तुम्हारे लिये (कृणोमि) स्थिर करता हूं, तुम (अघ्न्या) हनन न करने योग्य गाय (वत्सं जातमिव) उत्पन्न हुए बछड़े पर वात्सल्यभाव से जैसे वर्तती है वैसे (अन्यो अन्यम्) एक दूसरे से (अभि हर्यत) प्रेम पूर्वक कामना से वर्त्ता करो ॥ १४ ॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवान ॥ १५ ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ १६ ॥

अर्थः—हे गृहस्थो ! जैसे तुम्हारा (पुत्रः) पुत्र (मात्रा) माता के साथ (संमनाः) प्रीतियुक्त मनवाला, (अनुव्रतः) अनुकूल आचरणयुक्त, (पितुः) और पिता के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का प्रेमवाला (भवतु) होवे, वैसे तुम भी पुत्रों के साथ सदा वर्त्ता करो। जैसे (जाया) स्त्री (पत्ये) पति की प्रसन्नता के लिये (मधुमतीम्) माधुर्य गुणयुक्त (वाचम्) वाणी को (वदतु) कहे वैसे पति भी (शन्तिवान्) शान्त होकर अपनी पत्नी से सदा मधुर भाषण किया करे ॥ १५ ॥

हे गृहस्थो ! तुम्हारे में (भ्राता) भाई (भ्रातरम्) भाई के साथ (मा द्विक्षन्) द्वेष कभी न करे, (उत) और (स्वसा) बहिन (स्वसारम्) बहिन से द्वेष कभी (मा) न करे तथा बहिन भाई भी परस्पर द्वेष मत करो किन्तु (सम्यञ्चः) सम्यक् प्रेमादि गुणों से युक्त (सव्रताः) समान गुण कर्म स्वभाव वाले (भूत्वा) हो कर (भद्रया) मङ्गलकारक रीति से एक दूसरे के साथ (वाचम्) सुखदायक वाणी को (वदत) बोला करो ॥ १६ ॥

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ १७ ॥

अर्थः—हे गृहस्थो ! मैं ईश्वर (येन) जिस प्रकार के व्यवहार से (देवाः) विद्वान् लोग (मिथः) परस्पर (न, वियन्ति) पृथक् भाव वाले नहीं होते, (च) और (नो विद्विषते) परस्पर में द्वेष कभी नहीं करते, (तत्) वही कर्म (वः) तुम्हारे (गृहे) घर में (कृण्मः) निश्चित करता हूँ। (पुरुषेभ्यः) पुरुषों को (संज्ञानम्) अच्छे प्रकार चिताता हूं, कि तुम लोग परस्पर प्रीति से बर्त कर बड़े (ब्रह्म) धनैश्वर्य को प्राप्त होओ ॥ १७ ॥

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥ १८ ॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! तुम (ज्यायस्वन्तः) उत्तम विद्यादिगुणयुक्त चित्तिनः) विद्वान् सज्ञान (सधुराः) धुरन्धर होकर (चरन्तः) विचरते और (संराधयन्तः) परस्पर मिल के धन धान्य राज्य समृद्धि को प्राप्त होते हुए (मा वियौष्ट) विरोधी वा पृथक् पृथक् भाव मत करो। (अन्यः) एक (अन्यस्मै) दूसरे के लिये (वल्गु) सत्य मधुर भाषण (वदन्तः) कहते हुए एक दूसरे को (एत) प्राप्त होओ। इसीलिये (सध्रीचीनान्) समान लाभालाभ से एक दूसरे के सहायक, (संमनसः) ऐकमत्य वाले (वः) तुम को (कृणोमि) करता हूं अर्थात् मैं ईश्वर तुम को जो आज्ञा देता हूं, इस को आलस्य छोड़कर किया करो ॥ १८ ॥

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ १९ ॥
सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ २० ॥

अथर्व० कां० ३ । वर्ग ३० । मं० १–७ ॥

अर्थ:—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! मुझ ईश्वर की आज्ञा से तुम्हारा (प्रपा) जलपान स्नानादि का स्थान आदि व्यवहार (समानी) एकसा हो, (वः) तुम्हारा (अन्नभागः) खान पान (सह) साथ हुआ करे, (वः) तुम्हारे (समाने) एक से (योक्त्रे) अश्वादि यान के जोते (सह) संगी हों और तुम को मैं धर्म्मादि व्यवहार में भी एकीभूत कर के (युनज्मि) नियुक्त करता हूं जैसे (अराः) चक्र के आरे (अभितः) चारों ओर से (नाभिमिव) बीच के नालरूप काष्ठ में लगे रहते हैं अथवा जैसे ऋत्विज् लोग और यजमान यज्ञ में मिल के (अग्निम्) अग्नि आदि के सेवन से जगत् का उपकार करते हैं, वैसे (सम्यञ्चः) सम्यक् प्राप्ति वाले तुम मिल के धर्मयुक्त कर्मों को (सपर्यत) एक दूसरे का हित सिद्ध किया करो ॥ १९ ॥

हे गृहस्थादि मनुष्यो ! मैं ईश्वर (वः) तुम को (सध्रीचीनान्) सह वर्त्तमान, (संमनसः) परस्पर के लिये हितैषी, (एकश्नुष्टीन्) एक ही धर्मकृत्य में शीघ्र प्रवृत्त होने वाले, (सर्वान्) सब को (संवननेन) धर्मकृत्य के सेवन के साथ एक दूसरे के उपकार में नियुक्त (कृणोमि) करता हूँ। तुम (देवाः इव) विद्वानों के समान (अमृतम्) व्यावहारिक वा पारमार्थिक सुख की (रक्षमाणाः) रक्षा करते हुए (सायंप्रातः) सन्ध्या और प्रातःकाल अर्थात् सब समय में एक दूसरे से प्रेमपूर्वक मिला करो। ऐसे करते हुए (वः) तुम्हारा (सौमनसः) मन का आनन्दयुक्त शुद्धभाव (अस्तु) सदा बना रहे ॥ २० ॥

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्त ऋते श्रिताः ॥ २१ ॥

सत्येनावृताः श्रिया प्रावृता यशसा परीवृताः ॥ २२ ॥

स्वधया परिहिताः श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ॥ २३ ॥

अर्थ:—हे स्त्री पुरुषो ! मैं ईश्वर तुम को आज्ञा देता हूँ कि तुम सब गृहस्थ मनुष्य लोग (श्रमेण) परिश्रम तथा (तपसा) प्राणायाम से (सृष्टाः) संयुक्त (ब्रह्मणा) वेदविद्या परमात्मा और धनादि से (वित्ते) भोगने योग्य धनादि के प्रयत्न में और (ऋते) यथार्थ पक्षपातरहित न्यायरूप धर्म में (श्रिताः) चलनेहारे सदा बने रहो ॥ २१ ॥

(सत्येन) सत्यभाषणादि कर्मों से (आवृताः) चारों ओर से युक्त (श्रिया) शोभा तथा लक्ष्मी से (प्रावृताः) युक्त (यशसा) कीर्ति और धन से (परीवृताः) सब ओर से संयुक्त रहा करो ॥ २२ ॥

(स्वधया) अपने ही अन्नादि पदार्थ के धारण से (परिहिताः) सब के हितकारी, (श्रद्धया) सत्य धारण में श्रद्धा से (पर्यूढाः) सब ओर से सब को सत्याचरण प्राप्त करानेहारे, (दीक्षया) नाना प्रकार के ब्रह्मचर्य, सत्यभाषणादि व्रत धारण से (गुप्ताः) सुरक्षित, (यज्ञे) विद्वानों के सत्कार, शिल्पविद्या और शुभ गुणों के दान में (प्रतिष्ठिताः) प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ करो, और इन्हीं कर्मों से (निधनं लोकः) इस मनुष्य लोक को प्राप्त हो के मृत्युपर्यन्त सदा आनन्द में रहो ॥ २३ ॥

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलञ्च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥२४॥

अर्थः—हे मनुष्यो ! तुम जो (ओजः) पराक्रम (च) और इस की सामग्री (तेजः) तेजस्वीपन (च) और इस की सामग्री (सहः) स्तुति, निन्दा, हानि, लाभ तथा शोकादि का सहन (च) और इस के साधन (बलञ्च) बल और इस के साधन (वाक् च) सत्य, प्रिय वाणी और इस के अनुकूल व्यवहार (इन्द्रियञ्च) शान्त धर्मयुक्त अन्तःकरण और शुद्धात्मा तथा जितेन्द्रियता (श्रीश्च) लक्ष्मी, सम्पत्ति और इस की प्राप्ति का धर्मयुक्त उद्योग (धर्मश्च) पक्षपातरहित न्यायाचरण वेदोक्तधर्म और जो इस के साधन वा लक्षण हैं, उन को तुम प्राप्त होके इन्हीं में सदा वर्त्ता करो ॥ २४ ॥

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥ २५ ॥

आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च ॥ २६ ॥

पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं च ऋतं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥ २७ ॥ अथर्व० कां० १२। अ० ५। व० १–२॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! तुम को योग्य है कि (ब्रह्म च) पूर्ण विद्यादि शुभ गुणयुक्त मनुष्य और सब के उपकारक शमदमादि गुणयुक्त ब्रह्मकुल (क्षत्रञ्च) विद्यादि उत्तम गुणयुक्त तथा विनय और शौर्यादि गुणों से युक्त क्षत्रियकुल, (राष्ट्रञ्च) राज्य और उस का न्याय से पालन, (विशश्च) उत्तम प्रजा और उस की उन्नति, (त्विषिश्च) सद्विद्यादि से तेज, आरोग्य शरीर और आत्मा के बल से प्रकाशमान और इस की उन्नति से (यशश्च) कीर्तियुक्त तथा इसके साधनों को प्राप्त हुआ करो। (वर्चश्च) पढ़ी हुई विद्या का विचार और उसका नित्य पढ़ना (द्रविणञ्च) द्रव्योपार्जन उस की रक्षा और धर्मयुक्त परोपकार में व्यय करने आदि कर्मों को सदा किया करो ॥ २५ ॥

हे स्त्री पुरुषो ! तुम अपना (आयुः) जीवन बढ़ाओ, (च) और सब जीवन में धर्मयुक्त उत्तम कर्म ही किया करो। (रूपञ्च) विषयासक्ति कुपथ्य रोग और अधर्माचरण को छोड़ के अपने स्वरूप को अच्छा रक्खो और वस्त्राभूषण भी धारण किया करो। (नाम च) नामकरण के पृष्ठ ६१—६४ में लिखे प्रमाणे शास्त्रोक्त संज्ञा धारण और उस के नियमों को भी (कीर्तिश्च) सत्याचरण से प्रशंसा का धारण और गुणों में दोषारोपणरूप निन्दा को छोड़ दो। (प्राणश्च) चिरकाल पर्यन्त जीवन का धारण और उस के युक्ताहार विहारादि साधन (अपानश्च) सब दुःख दूर करने का उपाय और उस की सामग्री (चक्षुश्च) प्रत्यक्ष और अनुमान, उपमान (श्रोत्रञ्च) शब्दप्रमाण और उस की सामग्री को धारण किया करो ॥ २६ ॥

हे गृहस्थ लोगो ! (पयश्च) उत्तम जल, दूध और इस का शोधन और युक्ति से सेवन (रसश्च) घृत, दूध, मधु आदि और इस का युक्ति से आहार विहार (अन्नञ्च) उत्तम चावल आदि अन्न और उस के उत्तम संस्कार किये (अन्नाद्यञ्च) खाने के योग्य पदार्थ और उस के साथ उत्तम दाल, शाक, कढ़ी आदि (ऋतञ्च) सत्य मानना और सत्य मनवाना (सत्यञ्च) सत्य बोलना और बुलवाना (इष्टञ्च) यज्ञ करना और कराना (पूर्तञ्च) यज्ञ की सामग्री पूरी करना तथा जलाशय और आराम वाटिका आदि का बनाना और बनवाना (प्रजा च) प्रजा की उत्पत्ति, पालन और उन्नति सदा करनी तथा करानी,

(पशवश्च) गाय आदि पशुओं का पालन और उन्नति सदा करनी तथा करानी चाहिये ॥ २७ ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ १ ॥

यजु० अ० ४० । मं० २ ॥

अर्थः—मैं परमात्मा सब मनुष्यों के लिये आज्ञा देता हूं कि सब मनुष्य (इह) इस संसार में शरीर से समर्थ हो के (कर्माणि) सत्कर्मों को (कुर्वन्नेव) करता ही करता (शतं समाः) १०० सौ वर्ष पर्यन्त (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे, आलसी और प्रमादी कभी न होवे । (एवम्) इसी प्रकार उत्तम कर्म करते हुए (त्वयि) तुझ (नरे) मनुष्य में (इतः) इस हेतु से (अन्यथा) उलटा पापरूप (कर्म) दुःखद कर्म (न लिप्यते) लिप्यमान कभी नहीं होता और तुम पापरूप कर्म में लिप्त कभी मत होओ, इस उत्तम कर्म से कुछ भी दुःख (नास्ति) नहीं होता । इसलिये तुम स्त्री पुरुष सदा पुरुषार्थी होकर उत्तम कर्मों से अपनी और दूसरों की सदा उन्नति किया करो ॥ १ ॥

पुनः स्त्री पुरुष सदा निम्नलिखित मन्त्रों के अनुकूल इच्छा और आचरण किया करें । वे मन्त्र ये हैं—

भूर्भुवः स्वः । सुप्रजाः प्रजाभिः स्याꣳसुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः ।
नर्य प्रजां मे पाहि शꣳस्य पशून् मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि ॥ २ ॥

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि ।
ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥ ३ ॥

यजु० अ० ३ । मं० ३७, ४१ ॥

अर्थः—हे स्त्री वा पुरुष ! मैं तेरा वा अपने के सम्बन्ध से (भूर्भुवः स्वः) शारीरिक वाचिक और मानस अर्थात् त्रिविध सुख से युक्त हो के (प्रजाभिः) मनुष्यादि उत्तम प्रजाओं के साथ (सुप्रजाः) उत्तम प्रजायुक्त (स्याम्) होऊं (वीरैः) उत्तम पुत्र बन्धु सम्बन्धी और भृत्यों से सह वर्त्तमान, (सुवीरः)

उत्तम वीरों से सहित होऊं। (पोषैः) उत्तम पुष्टिकारक व्यवहारों से (सुपोषः) उत्तम पुष्टियुक्त होऊं। हे (नर्य) मनुष्यों में सज्जन वीर स्वामिन् ! (मे) मेरी (प्रजाम्) प्रजा की (पाहि) रक्षा कीजिये। हे (शंस्य) प्रशंसा करने योग्य स्वामिन् आप (मे) मेरे (पशून्) पशुओं की (पाहि) रक्षा कीजिये। हे (अथर्य) अहिंसक दयालो स्वामिन् ! (मे) मेरे (पितुम्) अन्न आदि की (पाहि) रक्षा कीजिये वैसे हे नारि ! प्रशंसनीय गुणयुक्त तू मेरी प्रजा, मेरे पशु और मेरे अन्न की सदा रक्षा किया कर॥ २॥

हे (गृहाः) गृहस्थ लोगो ! तुम विधिपूर्वक गृहाश्रम में प्रवेश करने से (मा बिभीत) मत डरो, (मा वेपध्वम्) मत कम्पायमान होओ, (ऊर्ज्जम्) अन्न पराक्रम तथा विद्यादि शुभ गुण से युक्त हो कर गृहाश्रम को (बिभ्रतः) धारण करते हुए तुम लोगों को हम सत्योपदेशक विद्वान् लोग (एमसि) प्राप्त होते और सत्योपदेश करते हैं और अन्नपानाच्छादन स्थान से तुम्हीं हमारा निर्वाह करते हो, इसलिये तुम्हारा गृहाश्रम व्यवहार में निवास सर्वोत्कृष्ट है। हे वरानने ! जैसे मैं तेरा पति (मनसा) अन्तःकरण से (मोदमानः) आनन्दित (सुमनाः) प्रसन्न मन (सुमेधाः) उत्तम बुद्धि से युक्त मुझ को और हे मेरे पूजनीयतम पिता आदि लोगो ! (वः) तुम्हारे लिये (ऊर्ज्जम्) पराक्रम तथा अन्नादि ऐश्वर्य को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ, तुम (गृहान्) गृहस्थों को (आ एमि) सब प्रकार से प्राप्त होता हूं, उसी प्रकार तुम लोग भी मुझ से प्रसन्न हो के वर्त्ता करो॥ ३॥

येषामध्येति प्रवसन्येषु सौमनसो बहुः।
गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्तु जानतः॥ ४॥

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः। अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः। क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवꣳ शग्मꣳ शंयोः शंयोः॥ ५॥ यजु० अ० ३। मं० ४२, ४३॥

अर्थः—हे गृहस्थो ! (प्रवसन्) परदेश को गया हुआ मनुष्य (एषाम्) इनका (अध्येति) स्मरण करता है, (येषु) जिन गृहस्थों में (बहुः) बहुत

(सौमनसः) प्रीति होती है, उन (गृहान्) गृहस्थों की हम विद्वान् लोग (उपह्वयामहे) प्रशंसा करते और प्रीति से समीप बुलाते हैं, (ते) वे गृहस्थ लोग (जानतः) उन को जानने वाले (नः) हम लोगों को (जानन्तु) सुहृद् जानें, वैसे तुम गृहस्थ और हम संन्यासी लोग आपस में मिल के पुरुषार्थ से व्यवहार और परमार्थ की उन्नति सदा किया करें ॥ ४ ॥

हे गृहस्थो ! (नः) अपने (गृहेषु) घरों में जिस प्रकार (गावः) गौ आदि उत्तम पशु (उपहूताः) समीपस्थ हों, तथा (अजावयः) बकरी भेड़ आदि दूध देने वाले पशु (उपहूताः) समीपस्थ हों, (अथो) इसके अनन्तर (अन्नस्य) अन्नादि पदार्थों के मध्य में उत्तम (कीलालः) अन्नादि पदार्थ (उपहूतः) प्राप्त होवें, हम लोग वैसा प्रयत्न किया करें। हे गृहस्थो ! मैं उपदेशक वा राजा (इह) इस गृहाश्रम में (वः) तुम्हारे (क्षेमाय) रक्षण तथा (शान्त्यै) निरुपद्रवता करने के लिये (प्रपद्ये) प्राप्त होता हूँ। मैं और आप लोग प्रीति से मिल के (शिवम्) कल्याण (शग्मम्) व्यावहारिक सुख और (शंयोः शंयोः) पारमार्थिक सुख को प्राप्त हो के अन्य सब लोगों को सदा सुख दिया करें॥ ५ ॥

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ १ ॥
यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्।
अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते ॥ २ ॥

अर्थः—हे गृहस्थो ! जिस कुल में भार्या से प्रसन्न पति और पति से भार्या सदा प्रसन्न रहती है, उसी कुल में निश्चित कल्याण होता है और दोनों परस्पर अप्रसन्न रहें तो उस कुल में नित्य कलह वास करता है ॥ १ ॥

यदि स्त्री पुरुष पर रुचि न रखे वा पुरुष को प्रहर्षित न करे तो अप्रसन्नता से पुरुष के शरीर में कामोत्पत्ति कभी न हो के सन्तान नहीं होते और यदि होते हैं तो दुष्ट होते हैं ॥ २ ॥

स्त्रियान्तु रोचमानायां सर्वन्तद्रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥ ३ ॥

अर्थः—और जो पुरुष स्त्री को प्रसन्न नहीं करता तो उस स्त्री के अप्रसन्न

रहने से सब कुल भर अप्रसन्न, शोकातुर रहता है, और जब पुरुष से स्त्री प्रसन्न रहती है, तब सब कुल आनन्दरूप दीखता है ॥ ३ ॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ ४ ॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥ ५ ॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥ ६ ॥
जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥ ७ ॥

अर्थः—पिता, भ्राता, पति और देवर को योग्य है कि अपनी कन्या, बहिन, स्त्री और भौजाई आदि स्त्रियों की सदा पूजा करें, अर्थात् यथायोग्य मधुर भाषण, भोजन, वस्त्र, आभूषण आदि से प्रसन्न रक्खें। जिन को कल्याण की इच्छा हो वे स्त्रियों को क्लेश कभी न देवें ॥ ४ ॥

जिस कुल में नारियों की पूजा अर्थात् सत्कार होता है, उस कुल में दिव्य गुण, दिव्य भोग और उत्तम सन्तान होते हैं, और जिस कुल में स्त्रियों की पूजा नहीं होती, वहाँ जानो उन की सब क्रिया निष्फल हैं ॥ ५ ॥

जिस कुल में स्त्री लोग अपने-अपने पुरुषों के वेश्यागमन वा व्यभिचारादि दोषों से शोकातुर रहती हैं, वह कुल शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाता है, और जिस कुल में स्त्रीजन पुरुषों के उत्तमाचरणों से प्रसन्न रहती हैं, वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है ॥ ६ ॥

जिन कुल और घरों में अपूजित अर्थात् सत्कार को न प्राप्त होकर स्त्री लोग, जिन गृहस्थों को शाप देती हैं, कुल तथा गृहस्थ जैसे विष देकर बहुतों का एक बार नाश कर देवें वैसे चारों ओर से नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं ॥ ७ ॥

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ ८ ॥

अर्थः—इस कारण ऐश्वर्य की इच्छा करने वाले पुरुषों को योग्य है कि इन

स्त्रियों को सत्कार के अवसरों और उत्सवों में भूषण, वस्त्र, खान, पान आदि से सदा पूजा अर्थात् सत्कारयुक्त प्रसन्न रक्खें ॥ ८ ॥

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ ९ ॥ मनु०

अर्थः—स्त्री को योग्य है कि सदा आनन्दित होके चतुरता से गृहकार्यों में वर्त्तमान रहे तथा अन्नादि के उत्तम संस्कार, पात्र, वस्त्र, गृह आदि के संस्कार और घर के भोजनादि में जितना नित्य धन आदि लगे उसके यथायोग्य करने में सदा प्रसन्न रहे ॥ ९ ॥

एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः ।
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥ १० ॥

अर्थः—यदि स्त्रियां दुष्टाचारयुक्त भी हों तथापि इस संसार में बहुत स्त्रियां अपने-अपने पतियों के शुभ गुणों से उत्कृष्ट हो गईं, होती हैं और होंगी भी, इसलिये यदि पुरुष श्रेष्ठ हों तो स्त्रियां श्रेष्ठ, और दुष्ट हों तो दुष्ट हो जाती हैं, इस से प्रथम मनुष्यों को उत्तम हो के अपनी स्त्रियों को उत्तम करना चाहिये ॥ १० ॥

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ ११ ॥
उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥ १२ ॥
अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ॥ १३ ॥
यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ १४ ॥ मनु०

अर्थः—हे पुरुषो ! सन्तानोत्पत्ति के लिये, महाभाग्योदय करनेहारी, पूजा के योग्य, गृहाश्रम को प्रकाश करती, सन्तानोत्पत्ति करने करानेहारी घरों में स्त्रियां हैं वे श्री अर्थात् लक्ष्मी स्वरूप होती हैं क्योंकि लक्ष्मी शोभा धन और स्त्रियों में कुछ भेद नहीं है ॥ ११ ॥

हे पुरुषो ! अपत्यों की उत्पत्ति, उत्पन्न का पालन करने आदि लोकव्यवहार को नित्यप्रति जो कि गृहाश्रम का कार्य होता है उस का निबन्ध करने वाली प्रत्यक्ष स्त्री है ॥ १२ ॥

सन्तानोत्पत्ति, धर्म कार्य, उत्तम सेवा और रति तथा अपना और पितरों का जितना सुख है, यह सब स्त्री ही के आधीन होता है ॥ १३ ॥

जैसे वायु के आश्रय से सब जीवों का वर्त्तमान सिद्ध होता है, वैसे ही गृहस्थ के आश्रय से ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी अर्थात् सब आश्रमों का निर्वाह होता है ॥ १४ ॥

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ १५ ॥
सः संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥ १६ ॥
सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः सः त्रीनेतान् बिभर्त्ति हि ॥ १७ ॥

अर्थः—जिससे ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी इन तीन आश्रमियों को अन्न वस्त्रादि दान से नित्यप्रति गृहस्थ धारण पोषण करता है, इसलिये व्यवहार में गृहाश्रम सब से बड़ा है ॥ १५ ॥

हे स्त्री पुरुषो ! जो तुम अक्षय ❋ मुक्ति सुख और इस संसार के सुख की इच्छा रखते हो तो जो दुर्बलेन्द्रिय और निर्बुद्धि पुरुषों के धारण करने योग्य नहीं है, उस गृहाश्रम को नित्य प्रयत्न से धारण करो ॥ १६ ॥

वेद और स्मृति के प्रमाण से सब आश्रमों के बीच में गृहाश्रम श्रेष्ठ है क्योंकि यही आश्रम ब्रह्मचारी आदि तीनों आश्रमों का धारण और पालन करता है ॥ १७ ॥

❋ अक्षय इतना ही मात्र है कि जितना समय मुक्ति का है, उतने समय में दुःख का संयोग, जैसा विषयेन्द्रिय के संयोगजन्य सुख में होता है वैसा नहीं होता ।

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ १८ ॥
उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः ।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥ १९ ॥
आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम् ।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीनं हीने समे समम् ॥ २० ॥
पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकान् शठान् ।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ २१ ॥

अर्थः—हे मनुष्यो ! जैसे सब बड़े-बड़े नद और नदी सागर में जाकर स्थिर होते हैं, वैसे ही सब आश्रमी गृहस्थ ही को प्राप्त होके स्थिर होते हैं ॥ १८ ॥

यदि गृहस्थ होके पराये घर में भोजनादि की इच्छा करते हैं तो वे बुद्धि-हीन गृहस्थ अन्य से प्रतिग्रहरूप पाप करके जन्मान्तर में अन्नादि के दाताओं के पशु बनते हैं, क्योंकि अन्य से अन्नादि का ग्रहण करना अतिथियों का काम है, गृहस्थों का नहीं ॥ १९ ॥

जब गृहस्थ के समीप अतिथि आवें, तब आसन, निवास, शय्या, पश्चाद् गमन और समीप में बैठना आदि सत्कार जैसे का वैसा अर्थात् उत्तम का उत्तम मध्यम का मध्यम और निकृष्ट का निकृष्ट करे, ऐसा न हो कि कभी न समझें ॥ २० ॥

किन्तु जो पाखण्डी, वेदनिन्दक, नास्तिक ईश्वर वेद और धर्म को न मानें, अधर्माचरण करनेहारे, हिंसक, शठ, मिथ्याभिमानी, कुतर्की और बकवृत्ति अर्थात् पराये पदार्थ हरने वा बहकाने में बगुले के समान अतिथिवेषधारी बन के आवें, उनका वचनमात्र से भी सत्कार गृहस्थ कभी न करे ॥ २१ ॥

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः ।
दशध्वजसमो वेषो दशवेषसमो नृपः ॥ २२ ॥
न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथंचन ।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम् ॥ २३ ॥

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा ।
शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥ २४ ॥
परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥ २५ ॥ मनु०

अर्थः—दश हत्या के समान चक्र अर्थात् कुम्हार, गाड़ी से जीविका करने हारे, दश चक्र के समान ध्वज अर्थात् धोबी, मद्य को निकाल कर बेचनेहारे, दश ध्वज के समान वेष अर्थात् वेश्या, भड़ुवा, भांड, दूसरे की नकल अर्थात् पाषाण-मूर्तियों के पूजक (पुजारी) आदि और दश वेष के समान जो अन्याय-कारी राजा होता है, उन के अन्न आदि का ग्रहण अतिथि लोग कभी न करें ॥ २२ ॥

गृहस्थ जीविका के लिये भी कभी शास्त्रविरुद्ध लोकाचार का वर्त्ताव न वर्त्ते, किन्तु जिस में किसी प्रकार की कुटिलता, मूर्खता, मिथ्यापन वा अधर्म न हो उस वेदोक्तकर्मसम्बन्धी जीविका को करे ॥ २३ ॥

किन्तु सत्य, धर्म, आर्य अर्थात् आप्त पुरुषों के व्यवहार और शौच पवि-त्रता ही में सदा गृहस्थ लोग प्रवृत्त रहें, और सत्यवाणी, भोजनादि के लोभ रहित, हस्तपादादि की कुचेष्टा छोड़ कर धर्म से शिष्यों और सन्तानों को उत्तम शिक्षा सदा किया करें ॥ २४ ॥

यदि बहुत-सा धन, राज्य और अपनी कामना अधर्म से सिद्ध होती हो तो भी अधर्म सर्वथा छोड़ देवें और वेदविरुद्ध धर्माभास जिसके करने से उत्तर काल में दुःख और संसार की उन्नति का नाश हो, वैसा नाममात्र धर्म और कर्म कभी न किया करें ॥ २५ ॥

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥ २६ ॥
क्षान्त्या शुध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः ।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ॥ २७ ॥
अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥ २८ ॥

दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥ २९ ॥
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ ३० ॥
तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥ ३१ ॥ मनु०

अर्थः—जो धर्म ही से पदार्थों का सञ्चय करना है वही सब पवित्रताओं में उत्तम पवित्रता, अर्थात् जो अन्याय से किसी पदार्थ का ग्रहण नहीं करता वही पवित्र है, किन्तु जल मृत्तिकादि से जो पवित्रता होती है, वह धर्म के सदृश उत्तम नहीं है ॥ २६ ॥

विद्वान् लोग क्षमा से, दुष्टकर्मकारी सतसंग और विद्यादि शुभगुणों के दान से, गुप्त पाप करनेहारे विचार से त्याग कर, और ब्रह्मचर्य तथा सत्य-भाषणादि से वेदवित् उत्तम विद्वान् शुद्ध होते हैं ॥ २७ ॥

किन्तु जल से ऊपर के अङ्ग पवित्र होते हैं, आत्मा और मन नहीं, मन तो सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य करने से शुद्ध, और जीवात्मा विद्या, योगाभ्यास और धर्माचरण ही से पवित्र तथा बुद्धि ज्ञान से ही शुद्ध होती है, जल-मृत्तिकादि से नहीं ॥ २८ ॥

गृहस्थ लोग छोटों बड़ों वा राजकार्यों के सिद्ध करने में कम से कम १० दश अर्थात् ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ, सामवेदज्ञ, हैतुक, (नैयायिक) तर्ककर्त्ता, नैरुक्त (निरुक्तशास्त्रज्ञ) धर्माध्यापक, ब्रह्मचारी, स्नातक और वानप्रस्थ विद्वानों अथवा अतिन्यूनता करे तो तीन वेदवित् (ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ और सामवेदज्ञ) विद्वानों की सभा से कर्त्तव्याकर्त्तव्य धर्म और अधर्म का जैसा निश्चय हो वैसा ही आचरण किया करें ॥ २९ ॥

और जैसा विद्वान लोग दण्ड ही को धर्म जानते हैं वैसा सब लोग जानें, क्योंकि दण्ड ही प्रजा का शासन अर्थात् नियम में रखने वाला, दण्ड ही सबका सब ओर से रक्षक और दण्ड ही सोते हुओं में जागता है, चोरादि दुष्ट भी दण्ड ही के भय से पाप कर्म नहीं कर सकते ॥ ३० ॥

उस दण्ड को अच्छे प्रकार चलानेहारे उस राजा को कहते हैं कि जो सत्यवादी, विचार कर के ही कार्य का कर्त्ता, बुद्धिमान्, विद्वान्, धर्म, काम और अर्थ का यथावत् जाननेहारा हो ॥ ३१ ॥

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ ३२ ॥
शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥ ३३ ॥
अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥ ३४ ॥

अर्थः—जो राजा उत्तम सहाय रहित, मूढ, लोभी, जिस ने ब्रह्मचर्यादि उत्तम कर्मों से विद्या और बुद्धि की उन्नति नहीं की विषयों में फंसा हुआ है, उस से वह दण्ड कभी न्यायपूर्वक नहीं चल सकता ॥ ३२ ॥

इसलिये जो पवित्र, सत्पुरुषों का संगी राजनीति शास्त्र के अनुकूल चलनेहारा, धार्मिक पुरुषों के सहाय से युक्त, बुद्धिमान् राजा हो, वही इस दण्ड को धारण कर के चला सकता है ॥ ३३ ॥

जो राजा अनपराधियों को दण्ड देता और अपराधियों को दण्ड नहीं देता है, वह इस जन्म में बड़ी अपकीर्ति को प्राप्त होता और मरे पश्चात् नरक अर्थात् महादुःख को पाता है ॥ ३४ ॥

मृगयाक्षा दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥ ३५ ॥
पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्याऽसूयार्थदूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥ ३६ ॥
द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥ ३७ ॥

अर्थः—जिस राजा में शिकार खेलना, द्यूत और प्रसन्नता के लिये भी चौपड़ आदि खेलना, दिन में सोना, हंसी ठठ्ठा मिथ्यावाद करना, स्त्रियों के साथ

सदा अधिक निवास में मोहित होना, मद्यपानादि नशाओं का करना, गाना, बजाना, नाचना वा इन का देखना और वृथा इधर उधर घूमते फिरना ये दश दुर्गुण काम से होते हैं ॥ ३५ ॥

और चुगली खाना, विना विचारे काम कर बैठना, जिस किसी से वृथा वैर बांधना, दूसरे की स्तुति सुन वा बढ़ती देख के हृदय में जला करना, दूसरों के गुणों में दोष और दोषों में गुण स्थापन करना, बुरे कामों में धन का लगाना, क्रूर वाणी और विना विचारे पक्षपात से किसी को करड़ा दण्ड देना, ये आठ दोष क्रोधी पुरुष में उत्पन्न होते हैं। ये १८ अठारह दुर्गुण हैं, इन को राजा अवश्य छोड़ देवे ॥ ३६ ॥

और जो इन कामज और क्रोधज १८ अठारह दोषों के मूल जिस लोभ को सब विद्वान् लोग जानते हैं, उस को प्रयत्न से राजा जीते, क्योंकि लोभ ही से पूर्वोक्त १८ अठारह और अन्य दोष भी बहुत से होते हैं, इसलिये हे गृहस्थ लोगो ! चाहे वह राजा का ज्येष्ठ पुत्र क्यों न हो परन्तु ऐसे दोष वाले मनुष्य को राजा कभी न करना, यदि भूल से हुआ हो तो उस को राज्य से च्युत कर के किसी योग्य पुरुष को, जो कि राजा के कुल का हो, राज्याधिकारी करना, तभी प्रजा में आनन्द मङ्गल सदा बढ़ता रहेगा ॥ ३७ ॥

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ ३८ ॥
मौलान् शास्त्रविदः शूरान् लब्धलक्षान्कुलोद्गतान्।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥ ३९ ॥
अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान्।
सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान् सुपरीक्षितान् ॥ ४० ॥

अर्थः—जो वेदशास्त्रवित्, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, न्यायकारी और आत्मा के बल से युक्त पुरुष होवे उसी को सेना, राज्य, दण्डनीति और प्रधान पद का अधिकार देना, अन्य क्षुद्राशयों को नहीं ॥ ३८ ॥

और जो अपने राज्य में उत्पन्न, शास्त्रों के जाननेहारे शूरवीर, जिन का विचार निष्फल न होवे, कुलीन, धर्मात्मा, स्वराज्यभक्त हों उन ७ सात वा

८ आठ पुरुषों को अच्छी प्रकार परीक्षा कर के मन्त्री करे, और इन्हीं की सभा में आठवां वा नववां राजा हो। ये सब मिल के कर्त्तव्याकर्त्तव्य कामों का विचार किया करें॥ ३९॥

इसी प्रकार अन्य भी राज्य और सेना के अधिकारी जितने पुरुषों से राज्यकार्य सिद्ध हो सके, उतने ही पवित्र, धार्मिक, विद्वान्, चतुर, स्थिर बुद्धि पुरुषों को राज्य सामग्री के वर्द्धक नियत करे॥ ४०॥

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम्।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम्॥ ४१॥
अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया।
रक्षितं वर्धयेद् वृद्धया वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत्॥ ४२॥ मनु०

अर्थः--तथा जो सब शास्त्र में निपुण, नेत्रादि के संकेत, स्वरूप तथा चेष्टा से दूसरे के हृदय की बात को जाननेहारा, शुद्ध, बड़ा स्मृतिमान्, देश काल जाननेहारा, सुन्दर जिसका स्वरूप, बड़ा वक्ता और अपने कुल में मुख्य हो उस और स्वराज्य और परराज्य के समाचार देनेहारे अन्य दूतों को भी नियत करे॥ ४१॥

तथा राजादि राजपुरुष अलब्ध राज्य की प्राप्ति की इच्छा दण्ड से, और प्राप्त राज्य की रक्षा संभाल से, रक्षित राज्य और धन को व्यापार और ब्याज से बढ़ा और सुपात्रों के द्वारा सत्यविद्या और सत्यधर्म के प्रचार आदि उत्तम व्यवहारों में बढ़े हुए धन आदि पदार्थों का व्यय करके सब की उन्नति सदा किया करें॥ ४२॥

विधिः—सदा स्त्री पुरुष १० दश बजे शयन और रात्रि के पिछले प्रहर वा ४ बजे उठ के प्रथम हृदय में परमेश्वर का चिन्तन करके धर्म और अर्थ का विचार किया करें और धर्म और अर्थ के अनुष्ठान वा उद्योग करने में यदि कभी पीड़ा भी हो तथापि धर्मयुक्तपुरुषार्थ को कभी न छोड़ें किन्तु सदा शरीर और आत्मा की रक्षा के लिये युक्त आहार विहार, औषधसेवन, सुपथ्य आदि से निरन्तर उद्योग करके व्यावहारिक और पारमार्थिक कर्त्तव्य कर्म की सिद्धि के लिये ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना भी किया करें कि जिस परमेश्वर

की कृपादृष्टि और सहाय से महाकठिन कार्य भी सुगमता से सिद्ध हो सकें। इस के लिये निम्नलिखित मन्त्र हैं—

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातस्सोममुत रुद्रं हुवेम* ॥ १ ॥

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह× ॥ २ ॥

---

* हे स्त्री पुरुषो ! जैसे हम विद्वान् उपदेशक लोग (प्रातः) प्रभात वेला में (अग्निम्) स्वप्रकाशस्वरूप (प्रातः) (इन्द्रम्) परमैश्वर्य के दाता और परमैश्वर्य-युक्त (प्रातः) (मित्रावरुणा) प्राण उदान के समान प्रिय और सर्वशक्तिमान् (प्रातः) (अश्विना) सूर्य चन्द्र को जिसने उत्पन्न किया है, उस परमात्मा की (हवामहे) स्तुति करते हैं, और (प्रातः) (भगम्) भजनीय सेवनीय ऐश्वर्ययुक्त (पूषणम्) पुष्टिकर्त्ता (ब्रह्मणस्पतिम्) अपने उपासक, वेद और ब्रह्माण्ड के पालन करनेहारे (प्रातः) (सोमम्) अन्तर्यामी प्रेरक (उत) और (रुद्रम्) पापियों को रुलानेहारे और सर्वरोगनाशक जगदीश्वर की (हुवेम) स्तुति प्रार्थना करते हैं, वैसे प्रातः समय में तुम लोग भी किया करो ॥ १ ॥

× (प्रातः) पाँच घड़ी रात्रि रहे (जितम्) जयशील (भगम्) ऐश्वर्य के दाता (उग्रम्) तेजस्वी (अदितेः) अन्तरिक्ष के (पुत्रम्) पुत्ररूप सूर्य की उत्पत्ति करनेहारे और (यः) जो कि सूर्यादि लोकों का (विधर्त्ता) विशेष करके धारण करनेहारा (आध्रः) सब ओर से धारणकर्त्ता (यं चित्) जिस किसी का भी (मन्यमानः) जाननेहारा (तुरश्चित्) दुष्टों को भी दण्डदाता और (राजा) सब का प्रकाशक है, (यम्) जिस (भगम्) भजनीयस्वरूप को (चित्) भी (भक्षीति) इस प्रकार सेवन करता हूं, और इसी प्रकार भगवान् परमेश्वर सब को (आह) उपदेश करता है, कि तुम जो मैं सूर्यादि जगत् का बनाने और धारण करनेहारा हूँ, उस मेरी उपासना किया और मेरी आज्ञा में चला करो, इस से (वयम्) हम लोग उस की (हुवेम) स्तुति करते हैं ॥ २ ॥

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ‡ ॥ ३ ॥
उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् ।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ ४ ॥
भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुर एता भवेह ॥५॥

ऋ० म० ७ । सू० ४१ ।

---

‡ हे (भग) भजनीयस्वरूप (प्रणेतः) सब के उत्पादक सत्याचार में प्रेरक (भग) ऐश्वर्यप्रद (सत्यराधः) सत्य धन को देनेहारे (भग) सत्याचरण करनेहारों को ऐश्वर्यदाता आप परमेश्वर ! (नः) हम को (इमाम्) इस (धियम्) प्रज्ञा को (ददत्) दीजिये, और उसके दान से हमारी (उदव) रक्षा कीजिये, हे (भग) आप (गोभिः) गाय आदि और (अश्वैः) घोड़े आदि उत्तम पशुओं के योग से राज्यश्री को (नः) हमारे लिये (प्रजनय) प्रकट कीजिये, हे (भग) आप की कृपा से हम लोग (नृभिः) उत्तम मनुष्यों से (नृवन्तः) बहुत वीर मनुष्य वाले (प्र स्याम) अच्छे प्रकार होवें ॥ ३ ॥

❀ हे भगवन् ! आप की कृपा (उत और अपने पुरुषार्थ [से हम लोग (इदानीम्) इसी समय (प्रपित्वे) प्रकर्षता, उत्तमता की प्राप्ति में (उत) और (अह्नाम्) इन दिनों के (मध्ये) मध्य में (भगवन्तः) ऐश्वर्ययुक्त और शक्तिमान् (स्याम) होवें, (उत) और हे (मघवन्) परमपूजित असंख्य धन देनेहारे ! (सूर्यस्य) सूर्यलोक के (उदिता) उदय में (देवानाम्) पूर्ण विद्वान् धार्मिक आप्त लोगों की (सुमतौ) अच्छी उत्तम प्रज्ञा (उत) और सुमति में (वयम्) हम लोग (स्याम) सदा प्रवृत्त रहें ॥ ४ ॥

❀ हे (भग) सकलैश्वर्यसंपन्न जगदीश्वर ! जिस से (तम्) उस (त्वा) आप की (सर्वः) सब सज्जन (इज्जोहवीति) निश्चय करके प्रशंसा करते हैं, (सः) सो आप हे (भग) ऐश्वर्यप्रद ! (इह) इस संसार और (नः) हमारे गृहाश्रम में (पुरएता) अग्रगामी और आगे-आगे सत्य कर्मों में बढ़ानेहारे (भव)

इस प्रकार परमेश्वर की प्रार्थना उपासना करनी।

तत्पश्चात् शौच, दन्तधावन, मुखप्रक्षालन करके स्नान करें। पश्चात् एक कोश वा डेढ़ कोश एकान्त जंगल में जा के योगाभ्यास की रीति से परमेश्वर की उपासना कर, सूर्योदय पर्यन्त अथवा घड़ी आध घड़ी दिन चढ़े तक घर में आके, सन्ध्योपासनादि नित्य कर्म नीचे लिखे प्रमाणे यथाविधि उचित समय में किया करें। इन नित्य करने के योग्य कर्मों में लिखे हुए मन्त्रों का अर्थ और प्रमाण पञ्चमहायज्ञविधि में देख लेवें।

प्रथम शरीरशुद्धि अर्थात् स्नान पर्यन्त कर्म करके सन्ध्योपासन का आरम्भ करे। आरम्भ में दक्षिण हस्त में जल लेके—

ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥ १ ॥
ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥ २ ॥
ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥ ३ ॥

इन तीन मन्त्रों से एक-एक से एक-एक आचमन कर, दोनों हाथ धो, कान, आंख, नासिका आदि का शुद्ध जल से स्पर्श करके, शुद्ध देश, पवित्रासन पर, जिधर की ओर का वायु हो उधर को मुख करके, नाभि के नीचे से मूलेन्द्रिय को ऊपर संकोच करके, हृदय के वायु को बल से बाहर निकाल के यथाशक्ति रोके, पश्चात् धीरे-धीरे भीतर लेके भीतर थोड़ा सा रोके। यह एक प्राणायाम हुआ। इसी प्रकार कम से कम तीन प्राणायाम करे। नासिका को हाथ से न पकड़े। इस समय परमेश्वर की स्तुति प्रार्थनोपासना हृदय में करके—

ओं शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभि स्रवन्तु नः॥ यजु० अ० ३६॥

हूजिये, और जिससे (भग एव) सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त और समस्त ऐश्वर्य के दाता के होने से आप ही हमारे (भगवान्) पूजनीय देव (अस्तु) हूजिय, (तेन) उसी हेतु से (देवाः वयम्) हम विद्वान् लोग (भगवन्तः) सकलैश्वर्यसंपन्न होके सब संसार के उपकार में तन, मन, धन से प्रवृत्त (स्याम) होवें ॥ ५ ॥

इस मन्त्र को एक वार पढ़ के तीन आचमन करे—

पश्चात् पात्र में से मध्यमा अनामिका अंगुलियों से जल स्पर्श करके प्रथम दक्षिण और पश्चात् वाम निम्नलिखित मन्त्रों से स्पर्श करे—

ओं वाक् वाक् ॥ इस मन्त्र से मुख का दक्षिण और वाम पार्श्व ।

ओं प्राणः प्राणः ॥ इससे दक्षिण और वाम नासिका के छिद्र ।

ओं चक्षुश्चक्षुः ॥ इससे दक्षिण और वाम नेत्र ।

ओं श्रोत्रं श्रोत्रम् ॥ इससे दक्षिण और वाम श्रोत्र ।

ओं नाभिः ॥ इससे नाभि ।

ओं हृदयम् ॥ इससे हृदय ।

ओं कण्ठः ॥ इससे कण्ठ ।

ओं शिरः ॥ इससे मस्तक ।

ओं बाहुभ्यां यशोबलम् ॥ इससे दोनों भुजाओं के मूल स्कन्ध । और

ओं करतलकरपृष्ठे ॥ इससे दोनों हाथों के ऊपरतले स्पर्श करके मार्जन करे ।

ओं भूः पुनातु शिरसि ॥ इस मन्त्र से शिर पर ।

ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः ॥ इस मन्त्र से दोनों नेत्रों पर ।

ओं स्वः पुनातु कण्ठे ॥ इस मन्त्र से कण्ठ पर ।

ओं महः पुनातु हृदये ॥ इस मन्त्र से हृदय पर ।

ओं जनः पुनातु नाभ्याम् ॥ इससे नाभि पर ।

ओं तपः पुनातु पादयोः ॥ इससे दोनों पगों पर ।

ओं सत्यं पुनातु पुनः शिरसि ॥ इससे पुनः मस्तक पर ।

ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र ॥ इस मन्त्र से सब अंगों पर छींटा देवे ।

पुनः पूर्वोक्त रीति से प्राणायाम की क्रिया करता जावे । और नीचे लिखे मन्त्र का जप भी करता जाय—

ओं भूः, ओं भुवः, ओं स्वः, ओं महः, ओं जनः, ओं तपः, ओं सत्यम् ॥

इसी रीति से कम से कम तीन और अधिक से अधिक २१ इक्कीस प्राणायाम करे।

तत्पश्चात् सृष्टिकर्त्ता परमात्मा और सृष्टिक्रम का विचार नीचे लिखित मन्त्रों से करे और जगदीश्वर को सर्वव्यापक, न्यायकारी, सर्वत्र, सर्वदा सब जीवों के कर्मों के द्रष्टा को निश्चित मान के पाप की ओर अपने आत्मा और मन को कभी न जाने देवे, किन्तु सदा धर्मयुक्त कर्मों में वर्त्तमान रक्खे—

ओम् ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥ १ ॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥ २ ॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ ३ ॥

ऋ० मं० १० । सू० १९० ॥

इन मन्त्रों को पढ़ के, पुनः (शन्नो देवी०) इस मन्त्र से तीन आचमन करके, निम्नलिखित मन्त्रों से सर्वव्यापक परमात्मा की स्तुति प्रार्थना करे—

ओम् प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ १ ॥

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः।
तेभ्यो० ॥ २ ॥

प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः।
तेभ्यो० ॥ ३ ॥

उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः।
तेभ्यो० ॥ ४ ॥

ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः।
तेभ्यो० ॥ ५ ॥

ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः।
तेभ्यो० ॥ ६ ॥ अथर्व० कां० ३। सू० २७। म० १-६ ॥

इन मन्त्रों को पढ़ते जाना और अपने मन से चारों ओर बाहर भीतर परमात्मा को पूरण जानकर निर्भय निश्शङ्क, उत्साही आनन्दित पुरुषार्थी रहना।

तत्पश्चात् परमात्मा का उपस्थान अर्थात् परमेश्वर के निकट मैं और मेरे अति निकट परमात्मा है ऐसी बुद्धि करके, करे—

जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः ॥ १ ॥
ऋ० मं० १। सू० ९९। मं० १ ॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥१॥
यजु० अ० १३। मं० ४६ ॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥२॥
यजु० अ० ३३। मं० ३१ ॥

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ ३ ॥
यजु० अ० ३५। मं० १४ ॥

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं

जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ ४ ॥

यजु० अ० ३६ । मं० २४ ॥

इन मन्त्रों से परमात्मा का उपस्थान करके, पुनः (शन्नो देवी०) इससे तीन आचमन करके, पृष्ठ ८८ में लिखे० अथवा पञ्चमहायज्ञविधि में लि० गायत्री मन्त्र का अर्थ विचारपूर्वक परमात्मा की स्तुति प्रार्थनोपासना करे। पुनः हे परमेश्वर दयानिधे! आपकी कृपा से जपोपासनादि कर्मों को करके हम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि को शीघ्र प्राप्त होवें। पुनः—

ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥ ५ ॥

यजु० अ० १६ । मं० ४१ ॥

इससे परमात्मा को नमस्कार करके, (शन्नो देवी०) इस मन्त्र से तीन आचमन करके अग्निहोत्र का आरम्भ करे।

इति संक्षेपतः सन्ध्योपासनविधिः समाप्तः ॥ १ ॥

अथाग्निहोत्रम्

जैसे सायं प्रातः दोनों सन्धिवेलाओं में सन्ध्योपासन करें इसी प्रकार दोनों स्त्री पुरुष ❀ अग्निहोत्र भी दोनों समय में नित्य किया करें। पृष्ठ २२–२४ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान, समिदाधान, और पृष्ठ २४ में लिखे—

❀ किसी विशेष कारण से स्त्री वा पुरुष अग्निहोत्र के समय दोनों साथ उपस्थित न हो सकें तो एक ही स्त्री वा पुरुष दोनों की ओर का कृत्य कर लेवे, अर्थात् एक-एक मन्त्र को दो-दो बार पढ़ के दो-दो आहुति करे।

ओम् अदितेऽनुमन्यस्व

इत्यादि ४ (चार) मन्त्रों से यथाविधि कुण्ड के चारों ओर जलप्रोक्षण करके, शुद्ध किये हुए सुगन्ध्यादियुक्त घी को तपा के, पात्र में लेके, कुण्ड से पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख बैठ के पृष्ठ २५ में लि० अघारावाज्यभागाहुति ४ चार देके नीचे लिखे हुए मन्त्रों से प्रातःकाल अग्निहोत्र करे—

ओं सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा ॥ १ ॥
ओं सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥ २ ॥
ओं ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ॥ ३ ॥
ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या।
जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥ ४ ॥

अब नीचे लिखे हुए मन्त्र सायंकाल में अग्निहोत्र के जानो—

ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥ १ ॥
ओम् अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥ २ ॥
ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥ ३ ॥

इस मन्त्र को मन से उच्चारण करके तीसरी आहुति देनी—

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरात्र्येन्द्रवत्या ।
जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा ॥ ४ ॥

अब निम्नलिखित मन्त्रों से प्रातः सायं आहुति देनी चाहिये—

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ॥ इदमग्नये प्राणाय—इदन्न मम ॥ १ ॥
ओं भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा ॥ इदं वायवेऽपानाय—इदन्न मम ॥ २ ॥
ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा ॥ इदमादित्याय व्यानाय—इदन्न मम ॥ ३ ॥
ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ॥ इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः—इदन्न मम ॥ ४ ॥

ओम् आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा ॥ ५ ॥

ओं यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥ ६ ॥

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद्भद्रं तन्न आ सुव स्वाहा ॥ ७ ॥

ओम् अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम स्वाहा ॥८॥

इन आठ मन्त्रों से एक-एक मन्त्र करके एक एक आहुति, ऐसे आठ आहुति देके—

ओं सर्वं वै पूर्णं स्वाहा ॥

इस मन्त्र से तीन पूर्णाहुति, अर्थात् एक-एक वार पढ़ के एक-एक करके तीन आहुति देवे ।

इत्यग्निहोत्रविधिः संक्षेपतः समाप्तः ॥ २ ॥

अथ पितृयज्ञः

अग्निहोत्रविधि पूर्ण करके तीसरा पितृयज्ञ करे अर्थात् जीते हुए माता पिता आदि की यथावत् सेवा करनी पितृयज्ञ कहाता है ॥ ३ ॥

अथ बलिवैश्वदेवविधिः

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ १ ॥ ओं सोमाय स्वाहा ॥ २ ॥
ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥३॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥
ओं धन्वन्तरये स्वाहा ॥ ५ ॥ ओं कुह्वै स्वाहा ॥ ६ ॥

ओम् अनुमत्यै स्वाहा ॥ ७ ॥ ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ ८ ॥
ओं द्यावापृथिवीभ्याᳬ स्वाहा ॥ ९ ॥ ओं स्विष्टकृते स्वाहा ॥१०॥

इन दश मन्त्रों से घृतमिश्रित भात की, यदि भात न बना हो तो क्षार और लवणान्न को छोड़ के जो कुछ पाक में बना हो उसकी दश आहुति करे।

तत्पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रों से बलिदान करे—

ओं सानुगायेन्द्राय नमः ॥ इससे पूर्व।
ओं सानुगाय यमाय नमः ॥ इससे दक्षिण।
ओं सानुगाय वरुणाय नमः ॥ इससे पश्चिम।
ओं सानुगाय सोमाय नमः ॥ इससे उत्तर।
ओं मरुद्भ्यो नमः ॥ इससे द्वार।
ओं अद्भ्यो नमः ॥ इससे जल।
ओं वनस्पतिभ्यो नमः ॥ इससे मुसल और ऊखल।
ओं श्रियै नमः ॥ इससे ईशान।
ओं भद्रकाल्यै नमः ॥ इससे नैर्ऋत्य।
ओं ब्रह्मपतये नमः ॥ ओं वास्तुपतये नमः ॥ इनसे मध्य।
ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ॥ ओं नक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः ॥ इनसे ऊपर।
ओं सर्वात्मभूतये नमः ॥ इससे पृष्ठ।
ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः ॥ इससे दक्षिण।

इन मन्त्रों से एक पत्तल या थाली में यथोक्त दिशाओं में भाग धरना यदि भाग धरने के समय कोई अतिथि आ जाय तो उसी को दे देना, नहीं तो अग्नि में धर देना। तत्पश्चात् घृतसहित लवणान्न लेके।

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि ॥

अर्थः—कुत्ता, पतित, चाण्डाल, पापरोगी, काक और कृमी इन छः नामों से छः भाग पृथिवी में धरे, और वे छः भाग जिस-जिस के नाम हैं, उस-उस को देना चाहिये ॥ ४ ॥

अथातिथियज्ञः

पांचवां—जो धार्मिक, परोपकारी, सत्योपदेशक, पक्षपातरहित, शान्त, सर्वहितकारक विद्वानों की अन्नादि से सेवा, उन से प्रश्नोत्तर आदि करके विद्या प्राप्त होना 'अतिथियज्ञ' कहाता है, उस को नित्य किया करें। इस प्रकार पञ्च महायज्ञों को स्त्री पुरुष प्रतिदिन करते रहें ॥ ५ ॥

इसके पश्चात् **पक्षयज्ञ** अर्थात् पौर्णमासी और अमावस्या के दिन नैत्यक अग्निहोत्र की आहुति दिये पश्चात्, पूर्वोक्त प्रकार पृष्ठ १७ में लिखे प्रमाणे स्थालीपाक बनाके, निम्नलिखित मन्त्रों से विशेष आहुति करें—

ओम् अग्नये स्वाहा ॥१॥ ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥ २ ॥ ओं विष्णवे स्वाहा ॥ ३ ॥

इन तीन मन्त्रों से स्थालीपाक की तीन आहुति देनी। तत्पश्चात् पृष्ठ २५ में लिखे प्रमाणे व्याहृति आज्याहुति ४ चार देनी, परन्तु इस में इतना भेद है कि अमावस्या के दिन—

ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा इस मन्त्र के बदले—

ओम् इन्द्राग्नीभ्यां स्वाहा ॥

इस मन्त्र को बोल के स्थालीपाक की आहुति देवें।

इस प्रकार पक्षयाग, अर्थात् जिस के घर में अभाग्य से अग्निहोत्र न होता हो तो सर्वत्र पक्षयागादि में पृष्ठ १५-१७ में लिखे प्रमाणे यज्ञकुण्ड, यज्ञसामग्री, यज्ञमण्डप, पृष्ठ २२-२४ में लि० अग्न्याधान, समिदाधान, पृष्ठ २५ में लि० आघारावाज्यभागाहुति और पृष्ठ २४ में लिखे प्रमाणे वेदी के चारों ओर जल

सेचन करके, पृष्ठ ४-१४ में लिखे प्रमाणे ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण भी यथायोग्य करें।

और जब-जब नवान्न आवे तब-तब नवशस्येष्टि और संवत्सर के आरम्भ में निम्नलिखित विधि करें, अर्थात् जब-जब नवीन अन्न आवे तब-तब शस्येष्टि करके नवीन अन्न के भोजन का आरम्भ करें—

नवशस्येष्टि और संवत्सरेष्टि करना हो तो जिस दिन प्रसन्नता हो वही शुभ दिन जाने। ग्राम और शहर के बाहर किसी शुद्ध खेत में यज्ञमण्डप करके, पृष्ठ ४–२४ तक लिखे प्रमाणे सब विधि करके, प्रथम आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और व्याहृति आहुति ४ चार तथा अष्टाज्याहुति ८ आठ ये सोलह आज्याहुति करके, कार्यकर्त्ता—

ओं पृथिवी द्यौः प्रदिशो दिशो यस्मै द्युभिरावृताः।
तमिहेन्द्रमुपह्वये शिवा नः सन्तु हेतयः स्वाहा ॥ १ ॥
ओं यन्मे किञ्चिदुपेप्सितमस्मिन् कर्मणि वृत्रहन्।
तन्मे सर्वꣳ समृध्यतां जीवतः शरदः शतꣳ स्वाहा ॥ २ ॥
ओं सम्पत्तिर्भूतिर्भूमिर्वृष्टिर्ज्यैष्ठ्यꣳ श्रैष्ठ्यꣳ श्रीः प्रजामिहावतु स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय—इदन्न मम ॥ ३ ॥

ओं यस्याभावे वैदिकलौकिकानां भूतिर्भवति कर्मणाम्। इन्द्रपत्नीमुपह्वये सीताꣳ सा मे त्वनपायिनी भूयात्कर्मणि कर्मणि स्वाहा ॥ इदमिन्द्रपत्न्यै—इदन्न मम ॥ ४ ॥

ओम् अश्वावती गोमती सूनृतावती बिभर्त्ति या प्राणभृतो अतन्द्रिता। खलमालिनीमुर्वरामस्मिन् कर्मण्युपह्वये ध्रुवाꣳ सा मे त्वनपायिनी भूयात् स्वाहा ॥ इदं सीतायै इदन्न मम ॥ ५ ॥

इन मन्त्रों से प्रधान होम की ५ पांच आज्याहुति करके—

ओं सीतायै स्वाहा ॥ १ ॥ ओं प्रजायै स्वाहा ॥ २ ॥
ओं शमायै स्वाहा ॥ ३ ॥ ओं भूत्यै स्वाहा ॥ ४ ॥

इन ४ चार मन्त्रों से ४ चार, और पृष्ठ २५ में लिखे **(यदस्य०)** मन्त्र

से स्विष्टकृत् होमाहुति एक, ऐसे ५ पांच स्थालीपाक की आहुति देके, पश्चात् पृष्ठ २६–२८ में लिखे प्रमाणे अष्टाज्याहुति, व्याहृति आहुति ४ चार ऐसे १२ बारह आज्याहुति देके, पृष्ठ २८-२९ में लिखे प्रमाणे वामदेव्यगान, ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण करके यज्ञ की समाप्ति करें।

अथ शालाकर्मविधिं वक्ष्यामः

'शाला' उस को कहते हैं जो मनुष्य और पश्वादि के रहने अथवा पदार्थ रखने के अर्थ गृह वा स्थान विशेष बनाते हैं। इसके दो विषय हैं—एक प्रमाण और दूसरा विधि। उस में से प्रथम प्रमाण और पश्चात् विधि लिखेंगे।

अत्र प्रमाणानि—

उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत।
शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि॥ १॥

हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः।
सदो देवानामसि देवि शाले॥ २॥

अर्थः—मनुष्यों को योग्य है, जो कोई किसी प्रकार का घर बनावे तो वह (उपमिताम्) सब प्रकार की उत्तम उपमायुक्त कि जिस को देख के विद्वान् लोग सराहना करें, (प्रतिमिताम्) प्रतिमान अर्थात् एक द्वार के सामने दूसरा द्वार, कोणे और कक्षा भी सम्मुख हों, (अथो) इस के अनन्तर (परिमिताम्) वह शाला चारों ओर के परिमाण से समचौरस हो, (उत) और (शालायाः) शाला (विश्ववारायाः) अर्थात् उस घर के द्वार, चारों ओर के वायु को स्वीकार करने वाले हों, (नद्धानि) उसके बन्धन और चिनाई दृढ़ हों। हे मनुष्यो! ऐसी शाला को जैसे हम शिल्पी लोग (विचृतामसि) अच्छे प्रकार ग्रन्थित अर्थात् बन्धनयुक्त करते हैं वैसे तुम भी करो॥ १॥

उस घर में एक (हविर्धानम्) होम करने के पदार्थ रखने का स्थान,

(अग्निशालम्) अग्निहोत्र का स्थान; (पत्नीनाम्) स्त्रियों के (सदनम्) रहने का (सदः) स्थान, और (देवानाम्) पुरुषों और विद्वानों के रहने, बैठने, मेल मिलाप करने और सभा का (सदः) स्थान तथा स्नान भोजन ध्यान आदि का भी पृथक्-पृथक् एक-एक घर बनावे, इस प्रकार की (देवि) दिव्य कमनीय (शाले) बनाई हुई शाला (असि) सुखदायक होती है ॥ २ ॥

अन्तरा द्यां च पृथिवीं च यद्व्यचस्तेन शालां प्रति गृह्णामि त इमाम् । यदन्तरिक्षं रजसो विमानं तत्कृण्वेऽहमुदरं शेवधिभ्यः । तेन शालां प्रति गृह्णामि तस्मै ॥ ३ ॥

ऊर्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निमिता मिता ।
विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः ॥ ४ ॥

अर्थः—उस शाला में (अन्तरा) भिन्न-भिन्न (पृथिवीम्) शुद्ध भूमि अर्थात् चारों ओर स्थान शुद्ध हों, (च) और (द्याम्) जिसमें सूर्य का प्रतिभास आवे वैसी प्रकाशस्वरूप भूमि के समान दृढ़ शाला बनावे, (च) और (यत्) जो (व्यचः) उस की व्याप्ति अर्थात् विस्तार हे स्त्री! (ते) तेरे लिये है। (तेन) उसी से युक्त (इमाम्) इस (शालाम्) घर को बनाता हूं, तू इस में निवास कर, और मैं भी निवास के लिये इस को (प्रतिगृह्णामि) ग्रहण करता हूं, (यत्) जो उस के बीच में (अन्तरिक्षम्) पुष्कल अवकाश और (रजसः) उस घर का (विमानम्) विशेष मान परिमाण युक्त लम्बी ऊंची छत और (उदरम्) भीतर का प्रसार विस्तार युक्त होवे (तत्) उस को (शेवधिभ्यः) सुख के आधाररूप अनेक कक्षाओं से सुशोभित (अहम्) मैं (कृण्वे) करता हूं, (तेन) उस पूर्वोक्त लक्षणमात्र से युक्त (शालाम्) शाला को (तस्मै) उस गृहाश्रम के सब व्यवहारों के लिये (प्रतिगृह्णामि) ग्रहण करता हूं ॥ ३ ॥

जो (शाले) शाला (ऊर्जस्वती) बहुत बलारोग्य पराक्रम को बढ़ाने वाली और धन धान्य से पूरित सम्बन्ध वाली, (पयस्वती) जल दूध रसादि से परिपूर्ण, (पृथिव्याम्) पृथिवी में (मिता) परिमाणयुक्त, (निमिता) निर्मित की हुई, (विश्वान्नम्) सम्पूर्ण अन्नादि ऐश्वर्य को (बिभ्रती) धारण करती हुई, (प्रति-

गृह्णतः) ग्रहण करनेहारों को रोगादि से (मा हिंसीः) पीड़ित न करे, वैसा घर बनाना चाहिये ॥ ४ ॥

ब्रह्म॑णा शा॒लां निमि॑तां क॒विभि॒र्निमि॑तां मि॒ताम्।
इ॒न्द्रा॒ग्नी र॑क्षतां॒ शाला॑म॒मृतौ॑ सो॒म्यं सदः॑ ॥ ५ ॥

अर्थः—(अमृतौ) स्वरूप से नाशरहित (इन्द्राग्नी) वायु और पावक, (कविभिः) उत्तम विद्वान् शिल्पियों ने (मिताम्) प्रमाणयुक्त अर्थात् माप में ठीक जैसी चाहिये वैसी (निमिताम्) बनाई हुई (शालाम्) शाला को और (ब्रह्मणा) चारों वेदों के जाननेहारे विद्वान् ने सब ऋतुओं में सुख देनेहारी (निमिताम्) बनाई (शालाम्) शाला को प्राप्त होकर रहने वालों की (रक्षताम्) रक्षा करें। अर्थात् चारों ओर का शुद्ध वायु आके अशुद्ध वायु को निकालता रहे और जिसमें सुगन्ध्यादि घृत का होम किया जाय, वह अग्नि दुर्गन्ध को निकाल सुगन्ध का स्थापन करे। वह (सोम्यम्) ऐश्वर्य आरोग्य सर्वदा सुखदायक (सदः) रहने के लिये उत्तम घर है। उसी को निवास के लिये ग्रहण करे ॥ ५ ॥

या द्वि॒प॑क्षा॒ चतु॑ष्पक्षा॒ षट्प॑क्षा॒ या नि॑मी॒यते॑। अ॒ष्टाप॑क्षां॒ दश॑पक्षां॒ शाला॒ं मान॑स्य॒ पत्नी॑म॒ग्निर्गर्भ॑ इ॒वा श॑ये ॥ ६ ॥

अर्थः—हे मनुष्यो ! (या) जो (द्विपक्षा) दो पक्ष अर्थात् मध्य में एक और पूर्व पश्चिम में एक-एक शालायुक्त घर अथवा (चतुष्पक्षा) जिसके पूर्व पश्चिम दक्षिण और उत्तर में एक शाला और इनके मध्य में पांचवीं बड़ी शाला वा (षट्पक्षा) एक-एक बीच में बड़ी शाला और दो-दो पूर्व पश्चिम तथा एक-एक उत्तर दक्षिण में शाला हों; (या) जो ऐसी शाला (निमीयते) बनाई जाती है, वह उत्तम होती है और इससे भी जो (अष्टापक्षाम्) चारों ओर दो-दो शाला और उन के बीच में एक नवमी शाला हो अथवा (दशपक्षाम्) जिस के मध्य में दो शाला और उनके चारों दिशाओं में दो-दो शाला हों, उस (मानस्य) परिमाण के योग से बनाई हुई (शालाम्) शाला को जैसे (पत्नीम्) पत्नी को प्राप्त होके (अग्निः) अग्निमय आर्त्तव और वीर्य (गर्भ इव) गर्भरूप होके (आशये) गर्भाशय में ठहरता है, वैसे सब शालाओं के द्वार दो-दो हाथ पर सूधे बराबर हों, और जिस की चारों ओर की शालाओं का परिमाण तीन-तीन गज,

और मध्य की शालाओं का छः-छः गज से परिमाण न्यून न हो, और चार-चार गज चारों दिशाओं की ओर, आठ-आठ गज मध्य की शालाओं का परिमाण हो, अथवा मध्य की शालाओं का दश-दश गज अर्थात् बीस-बीस हाथ से विस्तार अधिक न हो, बनाकर गृहस्थों को रहना चाहिये। यदि वह सभा का स्थान हो तो बाहर की ओर द्वारों में चारों ओर कपाट और मध्य में गोल-गोल स्तम्भे बनाकर चारों ओर खुल्ला बनाना चाहिये कि जिस के कपाट खोलने से चारों ओर का वायु उस में आवे और सब घरों के चारों ओर वायु आने के लिये अवकाश तथा वृक्ष, फूल और पुष्करणी कुण्ड भी होने चाहियें, वैसे घरों में सब लोग रहें ॥ ६ ॥

प्रतीचा त्वा प्रतीचीनः शाले प्रैम्यहिंसतीम् ।
अग्निर्ह्य१न्तरापश्च ऋतस्यं प्रथमा द्वाः ॥ ७ ॥

अर्थः--जो (शाले) शालागृह (प्रतीचीनः) पूर्वाभिमुख तथा जो गृह (प्रतीचीम्) पश्चिम द्वार युक्त (अहिंसतीम्) हिंसादि दोष रहित अर्थात् पश्चिम द्वार के सम्मुख पूर्व द्वार, जिस में (हि) निश्चय कर (अन्तः) बीच में (अग्निः) अग्नि का घर (च) और (आपः) जल का स्थान (ऋतस्य) और सत्य के ध्यान के लिये एक स्थान (प्रथमा) प्रथम (द्वाः) द्वार है, मैं (त्वा) उस शाला को (प्रैमि) प्रकर्षकता से प्राप्त होता हूं ॥ ७ ॥

मा नः पाशं प्रति मुचो गुरुर्भारो लघुर्भव ।
वधूमिव त्वा शाले यत्र कामं भरामसि ॥ ८ ॥

अथर्व० कां० ९। अ० २। व० ३ ॥

अर्थः—हे शिल्पि लोगो ! जैसे (नः) हमारी (शाले) शाला अर्थात् गृह (पाशम्) बन्धन को (मा प्रतिमुचः) कभी न छोड़े, जिसमें (गुरुर्भारः) बड़ा भार (लघुर्भव) छोटा होवे वैसी बनाओ। (त्वा) उस शाला को (यत्र कामम्) जहां जैसी कामना हो, वहां वैसी हम लोग (वधूमिव) स्त्री के समान (भरामसि) स्वीकार करते हैं, वैसे तुम भी ग्रहण करो ॥ ८ ॥

इस प्रकार प्रमाणों के अनुसार जब घर बन चुके, तब प्रवेश करते समय क्या-क्या विधि करना, सो नीचे लिखे प्रमाणे जानो—

अथ विधिः—जब घर बन चुके तब उस की शुद्धि अच्छे प्रकार करा, चारों दिशाओं के बाहर ले, द्वारों में चार वेदी और एक वेदी घर के मध्य बनावे, अथवा तांबे का वेदी के समान कुण्ड बनवा लेवे कि जिससे सब ठिकाने एक कुण्ड ही में काम हो जावे। सब प्रकार की सामग्री अर्थात् पृष्ठ १४-१७ में लिखे प्रमाणे समिधा, घृत, चावल, मिष्ट, सुगन्ध, पुष्टिकारक द्रव्यों को ले के शोधन कर प्रथम दिन रख लेवे, जिस दिन गृहपति का चित्त प्रसन्न होवे, उसी शुभ दिन में गृहप्रतिष्ठा करे।

वहां ऋत्विज्, होता, अध्वर्यु और ब्रह्मा का वरण करे जो कि धर्मात्मा विद्वान् हों। वे सब वेदी से पश्चिम दिशा में बैठें। उन में से होता का आसन और उस पर वह पूर्वाभिमुख, अध्वर्यु का उत्तर में उस पर दक्षिणाभिमुख, उद्गाता का पूर्व दिशा में आसन उस पर पश्चिमाभिमुख, और ब्रह्मा का दक्षिण दिशा में उत्तमासन बिछा कर उत्तराभिमुख, इस प्रकार चारों आसनों पर चारों पुरुषों को बैठावे और गृहपति सर्वत्र पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठा करे। ऐसे ही घर के मध्य वेदी के चारों ओर दूसरे आसन बिछा रक्खे।

पश्चात् निष्क्रम्य द्वार जिस द्वार से मुख्य करके घर से निकलना और प्रवेश करना होवे, अर्थात् जो मुख्य द्वार हो, उसी द्वार के समीप ब्रह्मा सहित बाहर ठहर कर—

ओम् अच्युताय भौमाय स्वाहा ॥

इससे एक आहुति देकर, ध्वजा का स्तम्भ, जिस में ध्वजा लगाई हो, खड़ा करे और घर के ऊपर चारों कोणों पर चार ध्वजा खड़ी करे, तथा कार्यकर्त्ता गृहपति, स्तम्भ खड़ा करके उस के मूल में जल से सेचन करे जिससे वह दृढ़ रहे।

पुनः द्वार के सामने बाहर जाकर नीचे लिखे चार मन्त्रों से जल सेचन करे।

ओम् इमामुच्छ्रयामि भुवनस्य नाभि वसोर्धारां प्रतरणीं वसूनाम्। इहैव ध्रुवां निमिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठतु घृतमुच्छ्रयमाणा ॥ १ ॥

इस मन्त्र से पूर्व द्वार के सामने जल छिटकावे।

अश्वावती गोमती सूनृतावत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ।
आ त्वा शिशुराक्रन्दत्वा गावो धेनवो वाश्यमानाः ।। २ ।।

इस मन्त्र से दक्षिण द्वार ।

आ त्वा कुमारस्तरुण आ वत्सो जगदैः सह ।
आ त्वा परिस्रुतः कुम्भ आदध्नः कलशैरुप ।
क्षेमस्य पत्नी बृहती सुवासा रयिं नो धेहि सुभगे सुवीर्यम् ।। ३ ।।

इस मन्त्र से पश्चिम द्वार ।

अश्वावद्गोमदूर्जस्वत्पर्णं वनस्पतेरिव ।
अभि नः पूर्यतां रयिरिदमनुश्रेयो वसानः ।। ४ ।।

इस मन्त्र से उत्तर द्वार के सामने जल छिटकावे ।

तत्पश्चात् सब द्वारों पर पुष्प और पल्लव तथा कदलीस्तम्भ वा कदली के पत्ते भी द्वारों की शोभा के लिये लगाकर, पश्चात् गृहपति—

हे ब्रह्मन् ! प्रविशामीति ।।

ऐसा वाक्य बोले । और ब्रह्मा—

वरं भवान् प्रविशतु ।।

ऐसा प्रत्युत्तर देवे । और ब्रह्मा की अनुमति से—

ओम् ऋतं प्रपद्ये शिवं प्रपद्ये ।।

इस वाक्य को बोल के भीतर प्रवेश करे । और जो घृत गरम कर, छान सुगन्ध मिलाकर रक्खा हो उस को पात्र में ले के, जिस द्वार से प्रथम प्रवेश करे, उसी द्वार से प्रवेश करके पृष्ठ २१-२४ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान, समिदाधान, जलप्रोक्षण, आचमन करके पृष्ठ २५-२६ में लिखे प्रमाणे घृत की आघारावाज्य-भागाहुति ४ चार और व्याहृति आहुति ४ चार, नवमी स्विष्टकृत् आज्याहुति एक, अर्थात् दिशाओं की द्वारस्थ वेदियों में अग्न्याधान से लेके स्विष्टकृत् आहुति पर्यन्त विधि करके, पश्चात् पूर्वदिशा द्वारस्थ कुण्ड में—

ओं प्राच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ।। १ ।।
ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ।। २ ।।

इन मन्त्रों से पूर्व द्वारस्थ वेदी में दो घृताहुति देवे। वैसे ही—

ओं दक्षिणाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥ १ ॥

ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥ २ ॥

इन दो मन्त्रों से दक्षिण द्वारस्थ वेदी में एक-एक मन्त्र करके दो आज्याहुति। और—

ओं प्रतीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥ १ ॥

ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥ २ ॥

इन दो मन्त्रों से दो आज्याहुति पश्चिम दिशा द्वारस्थ कुण्ड में देवे।

ओम् उदीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥ १ ॥

ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥ २ ॥

इन से उत्तर दिशास्थ वेदी में दो आज्याहुति देवे। पुनः मध्य शालास्थ वेदी के समीप जाके स्व-स्व दिशा में बैठ के—

ओं ध्रुवाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥ १ ॥

ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥ २ ॥

इन से मध्यवेदी में दो आज्याहुति।

ओम् ऊर्ध्वाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥ १ ॥

ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥ २ ॥

इन से भी दो आहुति मध्यवेदी में। और—

ओं दिशो दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥ १ ॥

ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥ २ ॥

इन से भी दो आज्याहुति मध्यस्थ वेदी में देके, पुनः पूर्व दिशास्थ द्वारस्थ वेदी में अग्नि को प्रज्वलित करके, वेदी से दक्षिण भाग में ब्रह्मासन तथा होता आदि के पूर्वोक्त प्रकार आसन बिछवा, उसी वेदी के उत्तर भाग में एक कलश स्थापन कर, पृष्ठ १७ में लिखे प्रमाणे स्थालीपाक बना के पृथक् निष्क्रम्यद्वार के समीप जा ठहर कर ब्रह्मादि सहित गृहपति मध्यशाला में प्रवेश करके, ब्रह्मादि को दक्षिणादि आसन पर बैठा स्वयं पूर्वाभिमुख बैठ के, संस्कृत घी अर्थात् जो

गरम कर छान जिसमें कस्तूरी आदि सुगन्ध मिलाया हो, पात्र में ले के सबके सामने एक-एक पात्र भर के रक्खे, और चमसा में ले के—

ओं वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः ।
यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा ॥१॥
वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो ।
अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति तन्नो जुषस्व स्वाहा ॥२॥
वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या ।
पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः स्वाहा ॥३॥

ऋ० मं० ७ । सू० ५४ ॥

अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन् ।
सखा सुशेव एधि नः स्वाहा ॥ ४ ॥

ऋ० मं० ७ । सू० ५५ । मं० १ ॥

इन चार मन्त्रों से ४ चार आज्याहुति देके जो स्थालीपाक अर्थात् भात बनाया हो उसको दूसरे कांसे के पात्र में लेके, उस पर यथायोग्य घृत सेचन करके अपने-अपने सामने रक्खें। और पृथक्-पृथक् थोड़ा थोड़ा लेकर—

ओम् अग्निमिन्द्रं बृहस्पतिं विश्वांश्च देवानुपह्वये ।
सरस्वतीञ्च वाजीञ्च वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥ १ ॥

सर्पदेवजनान्त्सर्वान्हिमवन्तं सुदर्शनम् । वसूंश्च रुद्रानादित्यानीशानं जगदैः सह । एतान्त्सर्वान् प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥ २ ॥

पूर्वाह्णमपराह्णं चोभौ माध्यन्दिना सह । प्रदोषमर्धरात्रं च व्युष्टां देवीं महापथाम् । एतान् सर्वान् प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥ ३ ॥

ओं कर्त्तारञ्च विकर्त्तारं विश्वकर्माणमोषधींश्च वनस्पतीन् ।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥ ४ ॥
धातारं च विधातारं निधीनां च पतिं सह ।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥ ५ ॥
स्योनꣳ शिवमिदं वास्तु दत्तं ब्रह्मप्रजापती ।
सर्वाश्च देवताश्च स्वाहा ॥ ६ ॥

स्थालीपाक अर्थात् घृतयुक्त भात की इन छः मन्त्रों से छः आहुति देकर, कांस्यपात्र में उदुम्बर, गूलर, पलाश के पत्ते, शाड्वल तृणविशेष, गोमय, दही, मधु, घृत, कुशा और यव को ले के उन सब वस्तुओं को मिला कर—

ओं श्रीश्च त्वा यशश्च पूर्वे सन्धौ गोपायेताम् ॥

इस मन्त्र से पूर्व द्वार ।

यज्ञश्च त्वा दक्षिणा च दक्षिणे सन्धौ गोपायेताम् ॥

इस से दक्षिण द्वार ।

अन्नञ्च त्वा ब्राह्मणश्च पश्चिमे सन्धौ गोपायेताम् ॥

इस से पश्चिम द्वार ।

ऊर्क् च त्वा सूनृता चोत्तरे सन्धौ गोपायेताम् ॥

इस से उत्तर द्वार के समीप उन को बखेरे और जल प्रोक्षण भी करे ।

केता च मां सुकेता च पुरस्ताद् गोपायेतामित्यग्निर्वै केताऽऽदित्यः सुकेता तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पुरस्ताद् गोपायेताम् ॥ १ ॥

इस से पूर्व दिशा में परमात्मा का उपस्थान करके, दक्षिण द्वार के सामने दक्षिणाभिमुख होके—

दक्षिणतो गोपायमानं च मा रक्षमाणा च दक्षिणतो गोपायेतामित्यहर्वै गोपायमानꣳ रात्री रक्षमाणा ते प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु ते मा दक्षिणतो गोपायेताम् ॥ २ ॥

इस प्रकार जगदीश का उपस्थान कर के पश्चिम द्वार के सामने पश्चिमाभिमुख हो के—

दीदिविश्च मा जागृविश्च पश्चाद् गोपायेतामित्यन्नं वै दीदिविः प्राणो जागृविस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पश्चाद् गोपायेताम् ॥३॥

इस प्रकार पश्चिम दिशा में सर्वरक्षक परमात्मा का उपस्थान करके, उत्तर दिशा में उत्तर द्वार के सामने उत्तराभिमुख खड़े रह के—

अस्वप्नश्च मानवद्राणश्चोत्तरतो गोपायेतामिति चन्द्रमा वा अस्वप्नो वायुरनवद्राणस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मोत्तरतो गोपायेतामिति ॥ ४ ॥

धर्मस्थूणाराजꣳ श्रीस्तूर्य्यमहोरात्रे द्वारफलके । इन्द्रस्य गृहा वसुमतो वरूथिनस्तानहं प्रपद्ये सह प्रजया पशुभिस्सह । यन्मे किञ्चिदस्त्युपहूतः सर्वगणः सखायः साधुसम्मतस्तां त्वा शाले अरिष्टवीरा गृहा नः सन्तु सर्वतः ॥ ५ ॥

इस प्रकार उत्तर दिशा में सर्वाधिष्ठाता परमात्मा का उपस्थान करके, सुपात्र वेदवित् धार्मिक होता आदि सपत्नीक ब्राह्मण तथा इष्ट मित्र और सम्बन्धियों को उत्तम भोजन कराके यथायोग्य सत्कार करके दक्षिणा दे, पुरुषों को पुरुष और स्त्रियों को स्त्री प्रसन्नतापूर्वक विदा करें, और वे जाते समय गृहपति और गृहपत्नी आदि को—

सर्वे भवन्तोऽत्रानन्दिताः सदा भूयासुः ॥

इस प्रकार आशीर्वाद दे के अपने-अपने घर को जावें।

इसी प्रकार आराम आदि की भी प्रतिष्ठा करें। इस में इतना ही विशेष है कि जिस ओर का वायु बगीचे को जावे उसी ओर होम करे कि जिस का सुगन्ध वृक्ष आदि को सुगन्धित करे। यदि उस में घर बना हो तो शाला के समान उस की भी प्रतिष्ठा करे।

इति शालादिसंस्कारविधिः ॥

इस प्रकार गृहादि की रचना करके गृहाश्रम में जो-जो अपने-अपने वर्ण के अनुकूल कर्त्तव्य कर्म हैं उनको यथावत् करें।

अथ ब्राह्मणस्वरूपलक्षणम्

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहञ्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥ १॥ मनुस्मृतौ।
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ २॥ गीता०

अर्थः—१ एक—निष्कपट होके प्रीति से पुरुष पुरुषों को और स्त्री स्त्रियों को पढ़ावें। २ दो—पूरण विद्या पढ़ें। ३ तीन—अग्निहोत्रादि यज्ञ करें। ४ चौथा—यज्ञ करावें। ५ पांच—विद्या अथवा सुवर्ण आदि का सुपात्रों को दान देवें। ६ छठा—न्याय से धनोपार्जन करने वाले गृहस्थों से दान लेवें भी। इन में से ३ तीन कर्म पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना धर्म+ में और तीन कर्म पढ़ाना, यज्ञ कराना, दान लेना जीविका हैं। परन्तु—

प्रतिग्रहः प्रत्यवरः॥ मनु०

जो दान लेना है, वह नीच कर्म है। किन्तु पढ़ा के और यज्ञ कराके जीविका करनी उत्तम है॥ १॥

(शमः) मन को अधर्म में न जाने दे किन्तु अधर्म करने की इच्छा भी न उठने देवे, (दमः) श्रोत्रादि इन्द्रियों को अधर्माचरण से सदा दूर रक्खे, दूर रख के धर्म ही के बीच में प्रवृत्त रक्खे, (तपः) ब्रह्मचर्य, विद्या, योगाभ्यास की सिद्धि के लिये शीत, उष्ण, निन्दा, स्तुति, क्षुधा, तृषा, मानापमान आदि द्वन्द्व का सहना, (शौचम्) राग द्वेष मोहादि से मन और आत्मा को तथा

+ धर्म नाम न्यायाचरण, न्याय नाम पक्षपात छोड़ के वर्त्तना, पक्षपात छोड़ना नाम सर्वदा अहिंसादि निर्वैरता सत्यभाषणादि में स्थिर रहकर, हिंसा द्वेषादि और मिथ्याभाषणादि से सदा पृथक् रहना। सब मनुष्यों का यही एक धर्म है। किन्तु जो-जो धर्म के लक्षण वर्ण-कर्मों में पृथक्-पृथक् आते हैं इसी से चार वर्ण पृथक् पृथक् गिने जाते हैं।

जलादि से शरीर को सदा पवित्र रखना, (क्षान्तिः) क्षमा अर्थात् कोई निन्दा स्तुति आदि से सतावें तो भी उन पर कृपालु रह कर क्रोधादि का न करना, (आर्जवम्) निरभिमान रहना, दम्भ स्वात्मश्लाघा अर्थात् अपने मुख से अपनी प्रशंसा न करके नम्र सरल शुद्ध पवित्र भाव रखना, (ज्ञानम्) सब शास्त्रों को पढ़ के विचार कर उनके शब्दार्थ सम्बन्धों को यथावत् जानकर पढ़ाने का पूर्ण सामर्थ्य करना, (विज्ञानम्) पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों को जान और क्रियाकुशलता तथा योगाभ्यास से साक्षात् करके यथावत् उपकार ग्रहण करना कराना, (आस्तिक्यम्) परमेश्वर, वेद, धर्म, परलोक, परजन्म, पूर्वजन्म, कर्मफल और मुक्ति से विमुख कभी न होना। ये नव कर्म और गुण धर्म में समझना। सब से उत्तम गुण कर्म स्वभाव को धारण करना। ये गुण कर्म जिस व्यक्ति में हों वे ब्राह्मण और ब्राह्मणी होवें। विवाह भी इन्हीं वर्ण के गुण कर्म स्वभावों को मिला ही के करें। मनुष्यमात्र में से इन्हीं को ब्राह्मण-वर्ण का अधिकार होवे ॥ २ ॥

अथ क्षत्रियस्वरूपलक्षणम्

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ १ ॥ मनु०
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम् ॥ १ ॥ गीता०

अर्थः—दीर्घ ब्रह्मचर्य से (अध्ययनम्) साङ्गोपाङ्ग वेदादि शास्त्रों को यथावत् पढ़ना, (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना, (दानम्) सुपात्रों को विद्या सुवर्ण आदि और प्रजा को अभयदान देना, (प्रजानां रक्षणम्) प्रजाओं का सब प्रकार से सर्वदा यथावत् पालन करना, यह धर्म क्षत्रियों के धर्म के लक्षणों में और शस्त्रविद्या का पढ़ाना, न्यायघर और सेना में जीविका करना क्षत्रियों की जीविका है। (विषयेष्वप्रसक्तिः) विषयों में अनासक्त हो के सदा जितेन्द्रिय रहना, लोभ, व्यभिचार, मद्यपानादि नशा आदि दुर्व्यसनों से पृथक् रहकर विनय सुशीलतादि शुभ कर्मों में सदा प्रवृत्त रहना ॥ १ ॥

(शौर्यम्) शस्त्र, संग्राम, मृत्यु और शस्त्रप्रहारादि से न डरना, (तेजः)

प्रगल्भता, उत्तम प्रतापी होकर किसी के सामने दीन वा भीरु न होना, (धृतिः) चाहे कितनी ही आपत् विपत् क्लेश, दुःख प्राप्त हो तथापि धैर्य रखके कभी न घबराना, (दाक्ष्यम्) संग्राम, वाग्युद्ध, दूतत्व, न्याय, विचार आदि सब में अतिचतुर, बुद्धिमान् होना, (युद्धे चाप्यपलायनम्) युद्ध में सदा उद्यत रहना, युद्ध से घबरा कर शत्रु के वश में कभी न होना, (दानम्) इसका अर्थ प्रथम श्लोक में आ गया, (ईश्वरभावः) जैसे परमेश्वर सबके ऊपर दया करके पितृवत् वर्त्तमान, पक्षपात छोड़कर धर्माऽधर्म करने वालों को यथायोग्य सुख दुःख-रूप फल देता और अपने सर्वज्ञता आदि साधनों से सब का अन्तर्यामी होकर सब के अच्छे बुरे कर्मों को यथावत् देखता है, वैसे प्रजा के साथ वर्त्त कर, गुप्त दूत आदि से अपने को सब प्रजा वा राजपुरुषों के अच्छे बुरे कर्मों से सदा ज्ञात रखना, रात दिन न्याय करने और प्रजा को यथावत् सुख देने, श्रेष्ठों का मान और दुष्टों को दण्ड करने में सदा प्रवृत्त रहना, सब प्रकार से अपने शरीर को रोगरहित, बलिष्ठ, दृढ़, तेजस्वी, दीर्घायु रखके आत्मा को न्याय धर्म में चलाकर कृतकृत्य करना आदि गुण कर्मों का योग जिस व्यक्ति में हो वह क्षत्रिय और क्षत्रिया होवे। इन का भी इन्हीं गुण कर्मों के मेल से विवाह करना और जैसे ब्राह्मण पुरुषों और ब्राह्मणी स्त्रियों को पढ़ावे वैसे ही राजा पुरुषों और राणी स्त्रियों का न्याय तथा उन्नति सदा किया करे। जो क्षत्रिय राजा न हों वे भी राज में ही यथाधिकार से नौकरी किया करें॥ २॥

अथ वैश्यस्वरूपलक्षणम्

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥ १॥ मनु०

अर्थः—(अध्ययनम्) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना, (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना, (दानम्) अन्नादि का दान देना ये तीन धर्म के लक्षण और (पशूनां रक्षणम्) गाय आदि पशुओं का पालन करना, उन से दुग्धादि का बेचना (वणिक्पथम्) नाना देशों की भाषा, हिसाब, भूगर्भविद्या, भूमि बीज आदि के गुण जानना और सब पदार्थों के भावाभाव समझना, (कुसीदम्) व्याज का

लेना *, (कृषिमेव च) खेती की विद्या का जानना, अन्न आदि की रक्षा, खात और भूमि की परीक्षा, जोतना बोना आदि व्यवहार जानना, ये चार कर्म वैश्य की जीविका। ये गुण कर्म जिस व्यक्ति में हों वह वैश्य वैश्या और इन्हीं की परस्पर परीक्षा और योग से विवाह होना चाहिये ॥ १ ॥

अथ शूद्रस्वरूपलक्षणम्

एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ १ ॥ मनु०

अर्थः—(प्रभुः) परमेश्वर ने (शूद्रस्य) जो विद्याहीन, जिस को पढ़ने से भी विद्या न आ सके, शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो, उस शूद्र के लिये (एतेषा-मेव वर्णानाम्) इन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों की (अनसूयया) निन्दा से रहित प्रीति से सेवा करना (एकमेव कर्म) यही एक कर्म (समादिशत्) करने की आज्ञा दी है। ये मूर्खत्वादि गुण और सेवा आदि कर्म जिस व्यक्ति में हों वह शूद्र और शूद्रा है। इन्हीं की परीक्षा से इन का विवाह और इन को अधिकार भी ऐसा ही होना चाहिये। इन गुण कर्मों के योग ही से चारों वर्ण होवें तो उस कुल, देश और मनुष्य समुदाय की बड़ी उन्नति होवे, और जिन का जन्म जिस वर्ण में हो उसी के सदृश गुण कर्म स्वभाव हों तो अति विशेष है ॥ १ ॥

अब सब ब्राह्मणादि वर्ण वाले मनुष्य लोग अपने अपने कर्मों में निम्न-लिखित रीति से वर्तें—

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
तद्धि कुर्वन्यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ १ ॥
नेहेतार्थान् प्रसंगेन न विरुद्धेन कर्मणा।
न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः ॥ २ ॥

* सवा रुपये सैंकड़े से अधिक, चार आने से न्यून व्याज न लेवे न देवे। जब दूना धन आ जाय उस से आगे कौड़ी न लेवे न देवे। जितना न्यून व्याज लेवेगा उतना ही उसका धन बढ़ेगा और कभी धन का नाश और कुसन्तान उस के कुल में न होंगे।

अर्थः—ब्राह्मणादि द्विज वेदोक्त अपने कर्म को आलस्य छोड़ के नित्य किया करें, उस को अपने सामर्थ्य के अनुसार करते हुए, मुक्ति पर्यन्त पदार्थों को प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

गृहस्थ कभी किसी दुष्ट के प्रसंग से द्रव्य संचय न करे, न विरुद्ध कर्म से, न विद्यमान पदार्थ होते हुए उन को गुप्त रख के दूसरे से छल करके और चाहे कितना ही दुःख पड़े तदपि अधर्म से द्रव्य संचय कभी न करे ॥ २ ॥

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः ।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा सन्निवर्त्तयेत् ॥
सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः ।
यथा तथाऽध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ ४ ॥

अर्थः—इन्द्रियों के विषयों में काम से कभी न फंसे, और विषयों की अत्यन्त प्रसक्ति अर्थात् प्रसंग को मन से अच्छे प्रकार दूर करता रहै ॥ ३ ॥

जो स्वाध्याय और धर्म विरोधी व्यवहार वा पदार्थ हैं, उन सब को छोड़ देवे । जिस किसी प्रकार से विद्या को पढ़ाते रहना ही गृहस्थ का कृतकृत्य होना है ॥ ४ ॥

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥ ५ ॥
यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ ६ ॥
न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुक्कशैः ।
न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ॥ ७ ॥
नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥ ८ ॥
सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ ९ ॥

अर्थः—हे स्त्री पुरुषो ! तुम, जो धर्म, धन और बुद्धयादि को अत्यन्त शीघ्र बढ़ानेहारे हितकारी शास्त्र हैं, उन को और वेद के भागों की विद्याओं को नित्य देखा करो ॥ ५ ॥

मनुष्य जैसे-जैसे शास्त्र का विचार कर उस के यथार्थ भाव को प्राप्त होता है, वैसे-वैसे अधिक-अधिक जानता जाता है, और इस की प्रीति विज्ञान ही में होती जाती है ॥ ६ ॥

सज्जन गृहस्थ लोगों को योग्य है कि जो पतित दुष्ट कर्म करनेहारे हों न उनके, न चाण्डाल, न कंजर, न मूर्ख, न मिथ्याभिमानी और न नीच निश्चय वाले मनुष्यों के साथ कभी निवास करें ॥ ७ ॥

गृहस्थ लोग कभी प्रथम पुष्कल धनी हो के पश्चात् दरिद्र हो जायें, उस से अपने आत्मा का अवमान न करें कि हाय हम निर्धनी हो गये इत्यादि विलाप भी न करें किन्तु मृत्युपर्यन्त लक्ष्मी की उन्नति में पुरुषार्थ किया करें, और लक्ष्मी को दुर्लभ न समझें ॥ ८ ॥

मनुष्य सदैव सत्य बोलें और दूसरे को कल्याणकारक उपदेश करें। काणे को काणा और मूर्ख को मूर्ख आदि अप्रिय वचन उनके सम्मुख कभी न बोलें और जिस मिथ्याभाषण से दूसरा प्रसन्न होता हो उस को भी न बोलें, यह सनातन धर्म है ॥ ९ ॥

अभिवादयेद् वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम् ।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥ १० ॥
श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्मसु ।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥ ११ ॥
आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ १२ ॥
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥ १३ ॥
सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १४ ॥

अर्थः—सदा विद्यावृद्धों और वयोवृद्धों को नमस्ते अर्थात् उन का मान्य किया करें। जब वे अपने समीप आवें तब उठकर मान्य पूर्वक ले अपने आसन पर बैठावे और हाथ जोड़ के आप समीप बैठे, पूछे, वे उत्तर देवें, और जब

जाने लगें तब थोड़ी दूर पीछे-पीछे जाकर नमस्ते कर विदा किया करे, और वृद्ध लोग हर बार निकम्मे जहां तहां न जाया करें ॥ १० ॥

गृहस्थ सदा आलस्य को छोड़कर वेद और मनुस्मृति में वेदानुकूल कहे हुए अपने कर्मों में निबद्ध और धर्म का मूल सदाचार अर्थात् सत्य और सत्पुरुष, आप्त धर्मात्माओं का आचरण है उसका सेवन सदा किया करें ॥ ११ ॥

धर्माचरण ही से दीर्घायु, उत्तम प्रजा और अक्षय धन को मनुष्य प्राप्त होता है, और धर्माचार बुरे अधर्मयुक्त लक्षणों का नाश कर देता है ॥ १२ ॥

और जो दुष्टाचारी पुरुष होता है, वह सर्वत्र निन्दित दुःखभागी और व्याधि से अल्पायु सदा हो जाता है ॥ १३ ॥

जो सब अच्छे लक्षणों से हीन भी होकर सदाचारयुक्त, सत्य में श्रद्धा और निन्दा आदि दोषरहित होता है, वह सुख से सौ वर्ष पर्यन्त जीता है ॥ १४ ॥

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् ।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः ॥ १५ ॥
सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ १६ ॥
अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥ १७ ॥

अर्थः—मनुष्य जो-जो पराधीन कर्म हो उस-उस को प्रयत्न से सदा छोड़े, और जो-जो स्वाधीन कर्म हो उस-उस का सेवन प्रयत्न से किया करे ॥ १५ ॥

क्योंकि जितना परवश होना है वह सब दुःख और जितना स्वाधीन रहना है वह सब सुख कहाता है, यही संक्षेप से सुख और दुःख का लक्षण जाना ॥ १६ ॥

जो अधार्मिक मनुष्य है और जिसका अधर्म से संचित किया हुआ धन है, और जो सदा हिंसा में अर्थात् वैर में प्रवृत्त रहता है, वह इस लोक और परलोक अर्थात् परजन्म में सुख को कभी नहीं प्राप्त हो सकता ॥ १७ ॥

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्त्तमानस्तु कर्त्तुर्मूलानि कृन्तति ॥ १८ ॥

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत् पुत्रेषु नप्तृषु ।
न त्वेवन्तु कृतोऽधर्मः कर्त्तुर्भवति निष्फलः ॥ १९ ॥
सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा ।
शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥ २० ॥

अर्थः—मनुष्य निश्चय करके जाने कि इस संसार में जैसे गाय की सेवा का फल दूध आदि शीघ्र नहीं होता, वैसे ही किये हुए अधर्म का फल भी शीघ्र नहीं होता, किन्तु धीरे-धीरे अधर्म कर्त्ता के सुखों को रोकता हुआ सुख के मूलों को काट देता है, पश्चात् अधर्मी दुःख ही दुःख भोगता है ॥ २८ ॥

यदि अधर्म का फल कर्त्ता की विद्यमानता में न हो तो पुत्रों और पुत्रों के समय में न हो तो नातियों के समय में अवश्य प्राप्त होता है, किन्तु यह कभी नहीं हो सकता कि कर्त्ता का किया हुआ कर्म निष्फल होवे ॥ १९ ॥

इसलिये मनुष्यों को योग्य है कि सत्यधर्म और आर्य अर्थात् उत्तम पुरुषों के आचरणों और भीतर बाहर की पवित्रता में सदा रमण करें। अपनी वाणी बाहू, उदर को नियम और सत्यधर्म के साथ वर्त्तमान रख के शिष्यों को सदा शिक्षा किया करें ॥ २० ॥

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥ २१ ॥
धर्मं शनैस्संचिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिकाः ।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ २२ ॥
उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत्सह ।
निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत् ॥ २३ ॥
वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।
तान्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥ २४ ॥
स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ २५ ॥

अर्थः—जो धर्म से वर्जित धनादि पदार्थ और काम हों उन को सर्वथा शीघ्र छोड़ देवे, और जो धर्माभास अर्थात् उत्तरकाल में दुःखदायक कर्म हैं,

और जो लोगों को निन्दित कर्म में प्रवृत्त करने वाले कर्म हैं, उनसे भी दूर रहे ॥ २१ ॥

जैसे दीमक धीरे-धीरे बड़े भारी घर को बना लेती हैं, वैसे मनुष्य परजन्म के सहाय के लिये सब प्राणियों को पीड़ा न देकर धर्म का संचय धीरे-धीरे किया करे ॥ २२ ॥

जो मनुष्य अपने कुल को उत्तम करना चाहे, वह नीच-नीच पुरुषों का सम्बन्ध छोड़कर नित्य अच्छे-अच्छे पुरुषों से सम्बन्ध बढ़ाता जावे ॥ २३ ॥

जिस वाणी में सब व्यवहार निश्चित, वाणी ही जिनका मूल, और जिस वाणी हीं से सब व्यवहार सिद्ध होते हैं, जो मनुष्य उस वाणी को चोरता अर्थात् मिथ्याभाषण करता है, वह जानो सब चोरी आदि पाप ही को करता है, इसलिये मिथ्याभाषण को छोड़ के सदा सत्यभाषण ही किया करे ॥ २४ ॥

मनुष्यों को चाहिये कि धर्म से वेदादि शास्त्रों का पठन पाठन, गायत्री प्रणवादि का अर्थ विचार, ध्यान, अग्निहोत्रादि होम, कर्मोपासना, ज्ञान, विद्या, पौर्णमास्यादि इष्टि, पञ्चमहायज्ञ, अग्निष्टोम आदि, न्याय से राज्यपालन, सत्योपदेश और योगाभ्यासादि उत्तम कर्मों से इस शरीर को (ब्राह्मी) अर्थात् ब्रह्मसम्बन्धी करें ॥ २५ ॥

अथ सभा—जो-जो विशेष बड़े-बड़े काम हों जैसा कि राज्य, वे सब सभा से निश्चय करके किये जावें ।

इस में प्रमाण—**तं सभा च समितिश्च सेना च ॥ १ ॥**

अथर्व० कां० १५ । सू० ९ । मं० २ ॥

सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ॥ २ ॥

अथर्व० कां० १९ । सू० ५५ । मं० ६ ॥

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि ॥३॥

ऋ० मं० ३ । सू० ३८ । मं० ६ ॥

अर्थः—(तम्) जो कि संसार में धर्म के साथ राज्यपालनादि क्रिया

जाता है, उस व्यवहार को सभा और संग्राम तथा सेना सब प्रकार संचित करे ॥ १ ॥

हे (सभ्य) सभा के योग्य सभापते राजन् ! तू (मे) मेरी (सभाम्) सभा की (पाहि) रक्षा और उन्नति किया कर, (ये च) और जो (सभ्याः) सभा के योग्य धार्मिक आप्त (सभासदः) सभासद् विद्वान् लोग हैं, वे भी सभा की योजना रक्षा और उससे सब की उन्नति किया करें ॥ २ ॥

जो (राजाना) राजा और प्रजा के भद्र पुरुषों के दोनों समुदाय हैं, वे (विदथे) उत्तम ज्ञान और लाभदायक इस जगत् अथवा संग्रामादि कार्यों में (त्रीणि) राजसभा धर्मसभा और विद्यासभा अर्थात् विद्यादि व्यवहारों की वृद्धि के लिये ये तीन प्रकार की (सदांसि) सभा नियत करें। इन्हीं से संसार की सब प्रकार उन्नति करें ॥ ३ ॥

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुस्स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥ १ ॥
धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥ २ ॥

अर्थः—हे गृहस्थ लोगो ! जो धर्मयुक्त व्यवहार मनुस्मृति आदि में प्रत्यक्ष न कहे हों यदि उन में शङ्का होवे तो तुम, जिसको शिष्ट आप्त विद्वान् कहें, उसी को शंका रहित कर्त्तव्य धर्म मानो ॥ १ ॥

शिष्ट सब मनुष्य मात्र नहीं होते किन्तु जिन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य और धर्म से साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़े हों, जो श्रुति प्रमाण और प्रत्यक्षादि प्रमाणों ही से विधि वा निषेध करने में समर्थ, धार्मिक परोपकारी हों, वे ही शिष्ट पुरुष होते हैं ॥ २ ॥

दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥ ३ ॥
त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा ॥ ४ ॥
ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ ५ ॥

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ ६ ॥

अर्थः—वैसे शिष्ट न्यून से न्यून १० दश पुरुषों की सभा होवे, अथवा बड़े विद्वान् तीनों की भी सभा हो सकती है। जो सभा से धर्म कर्म निश्चित हों उन का भी आचरण सब लोग करें।

उन दशों में इस प्रकार के विद्वान होवें—३ तीन वेदों के विद्वान्, चौथा हैतुक अर्थात् कारण अकारण का ज्ञाता, पाँचवां तर्की न्यायशास्त्रवित्, छठा निरुक्त का जाननेहारा, सातवां धर्मशास्त्रवित्, आठवां ब्रह्मचारी, नवां गृहस्थ और दशवां वानप्रस्थ इन महातमाओं की सभा होवे ॥ ४ ॥

तथा ऋग्वेदवित् यजुर्वेदवित् और सामवेदवित् इन तीनों विद्वानों की भी सभा धर्मसंशय अर्थात् सब व्यवहारों के निर्णय के लिए होनी चाहिये, और जितने सभा में अधिक पुरुष हों उतनी ही उत्तमता है ॥ ५ ॥

द्विजों में उत्तम अर्थात् चतुर्थाश्रमी संन्यासी अकेला भी जिस धर्म व्यवहार के करने का निश्चय करे, वही कर्त्तव्य परम धर्म समझना, किन्तु अज्ञानियों के सहस्रों, लाखों और क्रोडह पुरुषों का कहा हुआ धर्मव्यवहार कभी न मानना चाहिये, किन्तु धर्मात्मा विद्वानों और विशेष परमविद्वान् संन्यासी का वेदादि प्रमाणों से कहा हुआ धर्म सब को मानने योग्य है ॥ ६ ॥

यदि सभा में मतभेद हो तो बहुपक्षानुसार मानना और समपक्ष में उत्तमों की बात स्वीकार करनी और दोनों पक्ष वाले बराबर उत्तम हों तो वहां संन्यासियों की सम्मति लेनी, जिधर पक्षपात रहित सर्वहितैषी संन्यासियों की सम्मति होवे वही उत्तम समझनी चाहिये।

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
दशलक्षणको धर्मस्सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥ ७ ॥

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ ८ ॥ मनु०

अर्थः—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी आदि सब मनुष्यों को योग्य

है कि निम्नलिखित धर्म का सेवन और उससे विरुद्ध अधर्म का त्याग प्रयत्न से किया करें ॥ ७ ॥

धर्म न्याय नाम पक्षपात छोड़ कर सत्य ही का आचरण और असत्य का सर्वदा परित्याग रखना इस धर्म के ग्यारह लक्षण हैं—(अहिंसा) किसी से वैर बुद्धि करके उसके अनिष्ट करने में कभी न वर्त्तना, (धृतिः) सुख दुःख हानि लाभ में भी व्याकुल होकर धर्म को न छोड़ना, किन्तु धैर्य से धर्म ही में स्थिर रहना, (क्षमा) निन्दा स्तुति मानापमान का सहन करके धर्म ही करना, (दमः) मन को अधर्म से सदा हटाकर धर्म में ही प्रवृत्त रखना, (अस्तेयम्) मन, कर्म, वचन से अन्याय और अधर्म से पराये द्रव्य का स्वीकार न करना (शौचम्) रागद्वेषादि त्याग से आत्मा और मन को पवित्र और जलादि से शरीर को शुद्ध रखना, (इन्द्रियनिग्रहः) श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों को अधर्म से हटा के धर्म ही में चलाना, (धीः) वेदादि सत्य विद्या, ब्रह्मचर्य, सत्संग करने और कुसंग, दुर्व्यसन, मद्यपानादि त्याग से बुद्धि को सदा बढ़ाते रहना, (विद्या) जिससे भूमि से लेके परमेश्वर पर्यन्त का यथार्थ बोध होता है, उस विद्या को प्राप्त होना, (सत्यम्) सत्य मानना, सत्य बोलना, सत्य करना, (अक्रोधः) क्रोधादि दोषों को छोड़-कर शान्त्यादि गुणों का ग्रहण करना धर्म कहाता है, इस का ग्रहण और अन्याय पक्षपातसहित आचरण अधर्म जो कि हिंसा, वैरबुद्धि, अधैर्य, असहन, मन को अधर्म में चलाना, चोरी करना, अपवित्र रहना, इन्द्रियों को न जीत कर अधर्म में चलाना, कुसंग, दुर्व्यसन, मद्यपानादि से बुद्धि का नाश करना, अविद्या जो कि धर्माचरण अज्ञान है उस में फंसना, असत्य मानना, असत्य बोलना, क्रोधादि दोषों में फंस कर अधर्मी दुष्टाचारी होना, ये ग्यारह अधर्म के लक्षण हैं, इन से सदा दूर रहना चाहिये ॥ ८ ॥

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥ ९ ॥

महाभारते

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।
अब्रुवन् विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्बिषी ॥ १० ॥

धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥ ११ ॥
विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत ॥ १२ ॥

अर्थः—वह सभा नहीं है जिस में वृद्ध पुरुष न होवें, वे वृद्ध नहीं हैं जो धर्म ही की बात नहीं बोलते, वह धर्म नहीं है जिस में सत्य नहीं, और न वह सत्य है जो कि छल से युक्त हो ॥ ९ ॥

मनुष्य को योग्य है कि सभा में प्रवेश न करे, यदि सभा में प्रवेश करे तो सत्य ही बोले, यदि सभा में बैठा हुआ भी असत्य बात को सुन के मौन रहे अथवा सत्य के विरुद्ध बोले वह मनुष्य अति पापी है ॥ १० ॥

अधर्म से धर्म घायल होकर जिस सभा में प्राप्त होवे, उसके घाव को यदि सभासद् न पूर देवें तो निश्चय जानो कि उस सभा में सब सभासद् ही घायल पड़े हैं ॥ ११ ॥

जिसको सत्पुरुष रागद्वेष रहित विद्वान् अपने हृदय से अनुकूल जानकर सेवन करते हैं, उसी पूर्वोक्त को तुम धर्म जानो ॥ १२ ॥

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥ १३ ॥
वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥ १४ ॥

अर्थः—जो पुरुष धर्म का नाश करता है, उसी का नाश धर्म कर देता है, और जो धर्म की रक्षा करता है, उस की धर्म भी रक्षा करता है। इस लिये मारा हुआ धर्म कभी हम को न मार डाले, इस भय से धर्म का हनन अर्थात् त्याग कभी न करना चाहियें ॥ १३ ॥

जो सुख की वृष्टि करनेहारा सब ऐश्वर्य का दाता धर्म है, उस का जो लोप करता है, उस को विद्वान् लोग वृषल अर्थात् नीच समझते हैं ॥ १४ ॥

न जातु कामान्न भयान्न लोभा-
द्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।

धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये,
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥ १५ ॥ महाभारते०
यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥ १६ ॥ मनु०
निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीस्समाविशतु गच्छतु [वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥ १७ ॥ भर्तृहरिः

अर्थः—मनुष्यों को योग्य है कि काम से अर्थात् झूठ से कामना सिद्ध होने के कारण से वा निन्दा स्तुति आदि के भय से भी धर्म का त्याग कभी न करें, और न लोभ से, 'चाहे झूठ अधर्म से चक्रवर्ती राज्य भी मिलता हो तथापि धर्म को छोड़कर चक्रवर्ती राज्य को भी ग्रहण न करें।' 'चाहे भोजन छादन, जलपान आदि की जीविका भी अधर्म से हो सके वा प्राण जाते हों परन्तु जीविका के लिए भी धर्म को कभी न छोड़ें। क्योंकि जीव और धर्म नित्य हैं तथा सुख दुःख दोनों अनित्य हैं। अनित्य के लिए नित्य का छोड़ना अतीव दुष्ट कर्म है। इस धर्म का हेतु कि जिस शरीर आदि से धर्म होता है, वह भी अनित्य है। धन्य वे मनुष्य हैं जो अनित्य शरीर और सुख दुःखादि के व्यवहार में वर्तमान होकर नित्य धर्म का त्याग कभी नहीं करते ॥ १५ ॥

जिस सभा में बैठे हुए सभासदों के सामने अधर्म से धर्म और झूठ से सत्य का हनन होता है, उस सभा में सब सभासद् मरे से ही हैं ॥ १६ ॥

सब मनुष्यों को यह निश्चय जानना चाहिए कि चाहे सांसारिक अपने प्रयोजन की नीति में वर्तनेहारे चतुर पुरुष निन्दा करें वा स्तुति करें, लक्ष्मी प्राप्त होवे अथवा नष्ट हो जावे, आज ही मरण होवे अथवा वर्षान्तर में मृत्यु प्राप्त होवे, तथापि जो मनुष्य धर्मयुक्त मार्ग से एक पग भी विरुद्ध नहीं चलते वे ही धीर पुरुष धन्य हैं ॥ १७ ॥

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ १ ॥
ऋ० मं० १० । सू० १९१ । मं० २ ॥

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः ।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाꣳ सत्ये प्रजापतिः ॥ २ ॥

यजु० अ० १९ । मं० ७७ ॥

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ।
ओं शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ॥ ३ ॥

तै० अष्टमप्रपाठकः । प्रथमानुवाकः ॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो तुम को मैं ईश्वर आज्ञा देता हूं कि (यथा) जैसे (पूर्वे) प्रथम अधीतविद्या योगाभ्यासी (संजानानाः) सम्यक् जानने वाले (देवाः) विद्वान् लोग मिल के (भागम्) सत्य असत्य का निर्णय करके असत्य को छोड़ सत्य की (उपासते) उपासना करते हैं, वैसे (सम् जानताम्) आत्मा से धर्माधर्म, प्रियाप्रिय को सम्यक् जाननेहारे (वः) तुम्हारे (मनांसि) मन एक दूसरे से अविरोधी होकर एक पूर्वोक्त धर्म्म में सम्मत होवें, और तुम उसी धर्म को (सं गच्छध्वम्) सम्यक् मिल के प्राप्त हो ओ, जिस में तुम्हारी एक सम्मति होती है, और विरुद्धवाद अधर्म को छोड़ के (संवदध्वम्) सम्यक् संवाद प्रश्नोत्तर प्रीति से करके एक दूसरे की उन्नति किया करो ॥ १ ॥

(प्रजापतिः) सकल सृष्टि का उत्पत्ति और पालन करनेहारा सर्वव्यापक-सर्वज्ञ न्यायकारी अद्वितीय स्वामी परमात्मा (सत्यानृते) सत्य और अनृत (रूपे) भिन्न-भिन्न स्वरूप वाले धर्म अधर्म को (दृष्ट्वा) अपनी सर्वज्ञता से यथावत् देख के (व्याकरोत्) भिन्न-भिन्न निश्चित करता है, (अनृते) मिथ्याभाषणादि अधर्म में (अश्रद्धाम्) अप्रीति करो और (प्रजापतिः) वही परमात्मा (सत्ये) सत्य-भाषणादि लक्षणयुक्त न्याय पक्षपात रहित धर्म में तुम्हारी (श्रद्धाम्) प्रीति को (अदधात्) धारण कराता है, वैसा ही तुम करो ॥ २ ॥

हम स्त्री पुरुष, सेवक स्वामी, मित्र मित्र, पिता पुत्रादि (सह) मिलके (नौ) हम दोनों प्रीति से (अवतु) एक दूसरे की रक्षा किया करें, और (सह) प्रीति से मिल के एक दूसरे के (वीर्यम्) पराक्रम की बढ़ती (करवावहै) सदा किया करें। (नौ) हमारा (अधीतम्) पढ़ा पढ़ाया (तेजस्वि) अतिप्रकाशमान

(अस्तु) होवे, और हम एक दूसरे से (मा विद्विषावहै) कभी विद्वेष विरोध न करें, किन्तु सदा मित्रभाव और एक दूसरे के साथ सत्य प्रेम से वर्तकर सब गृहस्थों के सद्व्यवहारों को बढ़ाते हुए सदा आनन्द में बढ़ते जावें। जिस परमात्मा का यह "ओम्" नाम है, उसकी कृपा और अपने धर्मयुक्त पुरुषार्थ से हमारे शरीर, मन और आत्मा का त्रिविध दुःख जो कि अपने और दूसरे से होता है नष्ट हो जावे और हम लोग प्रीति से एक दूसरे के साथ वर्त के धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि में सफल होके सदैव स्वयं आनन्द में रहकर सब को आनन्द में रक्खें ॥ ३ ॥

इति गृहाश्रमसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

अथ वानप्रस्थसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

वानप्रस्थसंस्कार उस को कहते हैं जो विवाह से सन्तानोत्पत्ति करके पूर्ण ब्रह्मचर्य से पुत्र भी विवाह करे और पुत्र का भी एक सन्तान हो जाय, अर्थात् जब पुत्र का भी पुत्र हो जावे, तब पुरुष वानप्रस्थाश्रम अर्थात् वन में जाकर निम्नलिखित सब बातें करे—

अत्र प्रमाणानि—

ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ॥ १ ॥ शतपथब्राह्मणे।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ २ ॥

यजु० अ० १९। मं० ३० ॥

अर्थः—मनुष्यों को उचित है कि ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति करके गृहस्थ होवें, गृहस्थ होके वनी अर्थात् वानप्रस्थ होवें, और वानप्रस्थ होके संन्यास ग्रहण करें ॥ १ ॥

जब मनुष्य ब्रह्मचर्यादि तथा सत्यभाषणादि व्रत अर्थात् नियम धारण करता है, तब उस (व्रतेन) व्रत से उत्तम प्रतिष्ठारूप (दीक्षाम्) दीक्षा को (आप्नोति) प्राप्त होता है, (दीक्षया) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के नियम पालन से (दक्षिणाम्) सत्कारपूर्वक धनादि को (आप्नोति) प्राप्त होता है, (दक्षिणा) उस सत्कार से (श्रद्धाम्) सत्य धारण में प्रीति को (आप्नोति) प्राप्त होता है, और (श्रद्धया) सत्य धार्मिक जनों में प्रीति से (सत्यम्) सत्य विज्ञान वा सत्य पदार्थ मनुष्य को (आप्यते) प्राप्त होता है। इसलिये श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्य और गृहाश्रम का अनुष्ठान करके वानप्रस्थ आश्रम अवश्य करना चाहिये ॥ २ ॥

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि ।
व्रतञ्च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽअहम् ॥ ३ ॥

यजु० अ० २० । मं० २४ ॥

आ नयैतमारभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन् ।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमा क्रमतां तृतीयम् ॥४॥

अथर्व० कां० ९ । सू० ५ । मं० १ ॥

अर्थः—हे (व्रतपतेऽग्ने) नियमपालकेश्वर ! (दीक्षितः) दीक्षा को प्राप्त होता हुआ (अहम्) मैं (त्वयि) तुझ में स्थिर होके (व्रतम्) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों का धारण (च) और उसकी सामग्री, (श्रद्धाम्) सत्य की धारणा को (च) और उसके उपायों को (उपैमि) प्राप्त होता हूँ, इसीलिये अग्नि में जैसे (समिधम्) समिधा को (अभ्यादधामि) धारण करता हूं, वैसे विद्या और व्रत को धारण कर प्रज्वलित करता हूँ, और वैसे ही (त्वा) तुझ को अपने आत्मा में धारण करता और सदा (ईन्धे) प्रकाशित करता हूँ ॥ ३ ॥

हे गृहस्थ ! (प्रजानन्) प्रकर्षता से जानता हुआ तू (एतम्) इस वानप्रस्थाश्रम का (आरभस्व) आरम्भ कर, (आनय) अपने मन को गृहाश्रम से इधर की ओर ला, (सुकृताम्) पुण्यात्माओं के (लोकमपि) देखने योग्य वानप्रस्थाश्रम को भी (गच्छतु) प्राप्त हो, (बहुधा) बहुत प्रकार के (महान्ति) बड़े-बड़े (तमांसि) अज्ञान दुःख आदि संसार के मोहों को (तीर्त्वा) तरके अर्थात् पृथक् होकर (अजः) अपने आत्मा को अजर अमर जान (तृतीयम्) तीसरे (नाकम्) दुःखरहित वानप्रस्थाश्रम को (आक्रमताम्) आक्रमण अर्थात् रीतिपूर्वक आरूढ़ हो ॥ ४ ॥

भद्रमिच्छन्त ऋषयस्स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसन्नमन्तु ॥ ५ ॥

अथर्व० कां० १९ । सू० ४१ । मं० १ ॥

मा नो मेधां मा नो दीक्षां मा नो हिंसिष्टं यत्तपः ।
शिवा नः सन्त्वायुषे शिवा भवन्तु मातरः ॥ ६ ॥

अथर्व० कां० १९ । सू० ४० । मं० ३ ॥

अर्थः—हे विद्वान् मनुष्यो ! जैसे (स्वर्विदः) सुख को प्राप्त होने वाले (ऋषयः) विद्वान् लोग (अग्रे) प्रथम (दीक्षाम्) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों की दीक्षा उपदेश लेके (तपः) प्राणायाम और विद्याध्ययन जितेन्द्रियत्वादि शुभ लक्षणों को (उप निषेदुः) प्राप्त होकर अनुष्ठान करते हैं, वैसे इस (भद्रम्) कल्याणकारक वानप्रस्थाश्रम की (इच्छन्तः) इच्छा करो। जैसे राजकुमार ब्रह्मचर्याश्रम को करके (ततः) तदनन्तर (ओजः) पराक्रम (च) और (बलम्) बल को प्राप्त हो के (जातम्) प्रसिद्ध प्राप्त हुए (राष्ट्रम्) राज्य की इच्छा और रक्षा करते हैं और (अस्मै) न्यायकारी धार्मिक विद्वान् राजा को (देवाः) विद्वान् लोग नमन करते हैं, (तत्) वैसे सब लोग वानप्रस्थाश्रम को किये हुए आपको (उपसंनमन्तु) समीप प्राप्त होके नम्र होवें ॥ ५ ॥

सम्बन्धीजन (नः) हम वानप्रस्थाश्रमस्थों की (मेधाम्) प्रज्ञा को (मा हिंसिष्ट) नष्ट मत करे, (नः) हमारी (दीक्षाम्) दीक्षा को (मा) मत, और (नः) हमारा (यत्) जो (तपः) प्राणायामादि उत्तम तप है, उसको भी (मा) मत नाश करे। (नः) हमारी दीक्षा और (आयुषे) जीवन के लिये सब प्रजा (शिवाः) कल्याण करनेहारी (सन्तु) होवें। जैसे हमारी (मातरः) माता, पितामही, प्रपितामही आदि (शिवाः) कल्याण करनेहारी होती हैं, वैसे सब लोग प्रसन्न होकर मुझ को वानप्रस्थाश्रम की अनुमति देने हारे (भवन्तु) होवें ॥ ६ ॥

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्त्या विद्वांसो भैक्ष्यचर्याञ्चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥ ७ ॥

मुण्डकोपनि० मुं० १ । खं० २ । मं० ७ ॥

अर्थः—हे मनुष्यो ! (ये) जो (विद्वांसः) विद्वान् लोग (अरण्ये) जङ्गल में (शान्त्या) शान्ति के साथ (तपः श्रद्धे) योगाभ्यास और परमात्मा में प्रीति करके (उपवसन्ति) वनवासियों के समीप वसते हैं, और (भैक्ष्यचर्याम्) भिक्षा-

चरण को (चरन्तः) करते हुए जंगल में निवास करते हैं, (ते) वे (हि) ही (विरजाः) निर्दोष, निष्पाप, निर्मल होके (सूर्यद्वारेण) प्राण के द्वारा (यत्र) जहां (सः) सो (अमृतः) मरण जन्म से पृथक् (अव्ययात्मा) नाशरहित (पुरुषः) पूर्ण परमात्मा विराजमान है (हि) वहीं (प्रयान्ति) जाते हैं, इसलिये वानप्रस्थ करना अति उत्तम है ॥ ७ ॥

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥
सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वञ्चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ ३ ॥

अर्थः—पूर्वोक्त प्रकार विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़ के समावर्त्तन के समय स्नानविधि करनेहारा द्विज-ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य जितेन्द्रिय जितात्मा होके यथावत् गृहाश्रम करके वन में वसे ॥ १ ॥

गृहस्थ लोग जब अपने देह का चमड़ा ढीला और श्वेत केश होते हुए देखें और पुत्र का भी पुत्र हो जाय, तब वन का आश्रय लेवें ॥ २ ॥

जब वानप्रस्थाश्रम की दीक्षा लेवें तब ग्रामों में उत्पन्न हुए पदार्थों का आहार और घर के सब पदार्थों को छोड़ के पुत्रों में अपनी पत्नी को छोड़ अथवा संग में लेके वन को जावें ॥ ३ ॥

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् ।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥

अर्थः—जब गृहस्थ वानप्रस्थ होने की इच्छा करे तब अग्निहोत्र को सामग्री सहित लेके ग्राम से निकल जंगल में जितेन्द्रिय होकर निवास करे ॥ ४ ॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः ।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥ ५ ॥
तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्ष्यमाहरेत् ।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥ ६ ॥

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥ ७ ॥

मनु० अध्याय ६ ।

अर्थः—वहाँ जंगल में वेदादि शास्त्रों को पढ़ने पढ़ाने में नित्य युक्त, मन और इन्द्रियों को जीतकर यदि स्वस्त्री भी समीप हो तथापि उस से सेवा के सिवाय विषयसेवन अर्थात् प्रसङ्ग कभी न करे। सब से मित्रभाव, सावधान, नित्य देनेहारा और किसी से कुछ भी न लेवे, सब प्राणीमात्र पर अनुकम्पा कृपा रखनेहारा होवे ॥ ५ ॥

जो जंगल में पढ़ाने और योगाभ्यास करने हारे तपस्वी धर्मात्मा विद्वान् लोग रहते हों, जो कि गृहस्थ वा वानप्रस्थ वनवासी हों उन के घरों में से भिक्षा ग्रहण करे ॥ ६ ॥

और इस प्रकार वन में वसता हुआ इन और अन्य दीक्षाओं का सेवन करे, और आत्मा तथा परमात्मा के ज्ञान के लिये नाना प्रकार की उपनिषद् अर्थात् ज्ञान और उपासना विधायक श्रुतियों के अर्थों का विचार किया करे, इसी प्रकार जब तक संन्यास करने की इच्छा न हो तब तक वानप्रस्थ ही रहे ॥७॥

अथ विधिः—वानप्रस्थाश्रम करने का समय ५० वर्ष के उपरान्त है। जब पुत्र का भी पुत्र हो जावे, तब अपनी स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु, पुत्रवधू आदि को सब गृहाश्रम की शिक्षा करके वन की ओर यात्रा की तैयारी करे। यदि स्त्री चले तो साथ ले जावे, नहीं तो ज्येष्ठ पुत्र को सौंप जावे कि इस की सेवा यथावत् किया करना, और अपनी पत्नी को शिक्षा कर जावे कि तू सदा पुत्र आदि को धर्ममार्ग में चलने के लिये और अधर्म से हटाने के लिये शिक्षा करती रहना।

तत्पश्चात् पृष्ठ १५-१६ में लिखे प्रमाणे यज्ञशाला वेदि आदि सब बनावे। पृष्ठ १६-१७ में लिखे घृत आदि सब सामग्री जोड़ के पृष्ठ २३-२४ में लिखे प्रमाणे (ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौ०) इस मन्त्र से अग्न्याधान और (अयन्त इध्म०) इत्यादि मन्त्रों से समिदाधान करके पृष्ठ २४ में लिखे प्रमाणे—

ओम् अदितेऽनुमन्यस्व ॥

इत्यादि चार मन्त्रों से कुण्ड के चारों ओर जल प्रोक्षण करके पृष्ठ २५ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और व्याहृति आज्याहुति ४ चार करके पृष्ठ ४-१७ में लिखे प्रमाणे स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण करके स्थालीपाक बनाकर और उस पर घृत सेचन कर, निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देवे—

ओं काय स्वाहा । कस्मै स्वाहा । कतमस्मै स्वाहा । स्वाहाधिमाधीताय स्वाहा । मनः प्रजापतये स्वाहा । चित्तं विज्ञातायादित्यै स्वाहा । अदित्यै मह्यै स्वाहा । अदित्यै सुमृडीकायै स्वाहा । सरस्वत्यै स्वाहा । सरस्वत्यै पावकायै स्वाहा । सरस्वत्यै बृहत्यै स्वाहा । पूष्णे स्वाहा । पूष्णे प्रपथ्याय स्वाहा । पूष्णे नरन्धिषाय स्वाहा । त्वष्ट्रे स्वाहा । त्वष्ट्रे तुरीपाय स्वाहा । त्वष्ट्रे पुरुरूपाय स्वाहा ॥ यजु० अ० २२ । मं० २० ॥

भुवनस्य पतये स्वाहा । अधिपतये स्वाहा । प्रजापतये स्वाहा ॥ यजु० अ० २२ । मं० ३२ ॥

ओम् आयुर्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा । प्राणो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा । अपानो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा । व्यानो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा । उदानो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा । समानो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा । चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा । श्रोत्रं यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा । वाग्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा । मनो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा । आत्मा यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा । ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा । ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा । स्वर्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा । पृष्ठं यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा । यज्ञो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा ॥ यजु० अ० २२ । मं० ३३ ॥

एकस्मै स्वाहा । द्वाभ्यां स्वाहा । शताय स्वाहा । एकशताय स्वाहा । व्युष्ट्यै स्वाहा । स्वर्गाय स्वाहा ॥

यजु० अ० २२ । मं० ३४ ॥

इन मन्त्रों से एक-एक करके ४३ स्थालीपाक की आज्याहुति देके, पुनः पृष्ठ २५ में लिखे प्रमाणे व्याहृति आहुति ४ चार देकर, पृष्ठ २८-२९ में लिखे प्रमाणे सामगान कर के सब इष्ट मित्रों से मिल, पुत्रादिकों पर सब घर का भार धरके, अग्निहोत्र की सामग्री सहित जङ्गल में जाकर एकान्त में निवास कर, योगाभ्यास, शास्त्रों का विचार, महात्माओं का सङ्ग करके स्वात्मा और परमात्मा को साक्षात् करने में प्रयत्न किया करे ।

इति वानप्रस्थसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

अथ संन्याससंस्कारविधिं वक्ष्यामः

संन्यास संस्कार उसको कहते हैं कि जो मोहादि आवरण पक्षपात छोड़ के विरक्त होकर सब पृथिवी में परोपकारार्थ विचरे अर्थात्—

सम्यङ् न्यस्यन्त्यधर्माचरणानि येन वा सम्यङ् नित्यं सत्कर्मस्वास्त उपविशति स्थिरीभवति येन स संन्यासः, संन्यासो विद्यते यस्य स संन्यासी ॥

काल

प्रथम जो वानप्रस्थ की आदि में कह आये हैं कि ब्रह्मचर्य पूरा करके गृहस्थ और गृहस्थ होके वनस्थ, वनस्थ होके संन्यासी होवे, यह क्रम-संन्यास, अर्थात् अनुक्रम से आश्रमों का अनुष्ठान करता-करता वृद्धावस्था में जो संन्यास लेना है उसी को क्रम-संन्यास कहते हैं।

द्वितीय प्रकार

यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा ॥

यह ब्राह्मण ग्रन्थ का वाक्य है।

अर्थः—जिस दिन दृढ़ वैराग्य प्राप्त होवे उसी दिन चाहे वानप्रस्थ का समय पूरा भी न हुआ हो अथवा वानप्रस्थ आश्रम का अनुष्ठान न करके गृहाश्रम से ही संन्यासाश्रम ग्रहण करे, क्योंकि संन्यास में दृढ़ वैराग्य और यथार्थ ज्ञान का होना ही मुख्य कारण है।

तृतीय प्रकार

ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् ॥

यह भी ब्राह्मण ग्रन्थ का वचन है।

यदि पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य सच्चा वैराग्य और पूर्ण ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त

होकर विषयासक्ति की इच्छा आत्मा से यथावत् उठ जावे, पक्षपात रहित हो कर सब के उपकार करने की इच्छा होवे, और जिसको दृढ़ निश्चय हो जावे कि मैं मरणपर्यन्त यथावत् संन्यास धर्म का निर्वाह कर सकूंगा, तो वह न गृहाश्रम करे न वानप्रस्थाश्रम, किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्ण कर ही के संन्यासाश्रम को ग्रहण कर लेवे ।

अत्र वेदप्रमाणानि—

शर्य्यणावति सोममिन्द्रः पिबतु वृत्रहा ।
बलं दधान आत्मनि करिष्यन् वीर्यं महदिन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥१॥
आ पवस्व दिशां पत आर्जीकात् सोम मीढ्वः ।
ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुत इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ २ ॥

अर्थः—मैं ईश्वर, संन्यास लेनेहारे तुझ मनुष्य को उपदेश करता हूं कि जैसे (वृत्रहा) मेघ का नाश करने हारा (इन्द्रः) सूर्य्य (शर्य्यणावति) हिंसनीय पदार्थों से युक्त भूमितल में स्थित (सोमम्) रस को पीता है, वैसे संन्यास लेने वाला पुरुष उत्तम मूल फलों के रस को (पिबतु) पीवे, और (आत्मनि) अपने आत्मा में (महत्) बड़े (वीर्यम्) सामर्थ्य को (करिष्यन्) करूंगा, ऐसी इच्छा करता हुआ (बलं दधानः) दिव्य बल को धारण करता हुआ (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिये, हे (इन्दो) चन्द्रमा के तुल्य सब को आनन्द करने हारे पूर्ण विद्वान् ! तू संन्यास लेके सब पर (परिस्रव) सत्योपदेश की वृष्टि कर ॥ १ ॥

हे (सोम) सोम्यगुणसम्पन्न ! (मीढ्वः) सत्य से सब के अन्तःकरण को सींचनेहारे ! (दिशांपते) सब दिशाओं में स्थित मनुष्यों को सच्चा ज्ञान दे के पालन करनेहारे (इन्दो) शमादि गुणयुक्त संन्यासिन् ! तू (ऋतवाकेन) यथार्थ बोलने (सत्येन) सत्य भाषण करने से (श्रद्धया) सत्य के धारण में सच्ची प्रीति और (तपसा) प्राणायाम योगाभ्यास से (आर्जीकात्) सरलता से (सुतः) निष्पन्न होता हुआ, तू अपने शरीर इन्द्रिय, मन, बुद्धि को (आ पवस्व) पवित्र कर, (इन्द्राय) परमैश्वर्ययुक्त परमात्मा के लिये (परिस्रव) सब ओर से गमन कर ॥ २ ॥

ऋतं वदन्नृतद्युम्न सत्यं वदन्त्सत्यकर्मन् । श्रद्धां वदन्त्सोम राजन् धात्रा सोम परिष्कृत इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ३ ॥

अर्थः—हे (ऋतद्युम्न) सत्य धन और सत्य कीर्ति वाले यतिवर ! (ऋतं वदन्) पक्षपात छोड़ के यथार्थ बोलता हुआ, हे (सत्यकर्मन्) सत्य वेदोक्त कर्म वाले संन्यासिन् ! (सत्यं वदन्) सत्य बोलता हुआ, (श्रद्धाम्) सत्यधारण में प्रीति करने को (वदन्) उपदेश करता हुआ, (सोम) सोम्यगुणसम्पन्न (राजन्) सब ओर से प्रकाशयुक्त आत्मा वाले (सोम) योगैश्वर्ययुक्त (इन्दो) सब को आनन्द-दायक संन्यासिन् ! तू (धात्रा) सकल विश्व के धारण करनेहारे परमात्मा से योगाभ्यास करके (परिष्कृतः) शुद्ध होता हुआ (इन्द्राय) योग से उत्पन्न हुए परमैश्वर्य की सिद्धि के लिये (परि स्रव) यथार्थ पुरुषार्थ कर ॥ ३ ॥

यत्र ब्रह्मा पवमान छन्दस्यां वाचं वदन् । ग्राव्णा सोमे महीयते सोमेनानन्दं जनयन्निन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ४ ॥

अर्थः—हे (छन्दस्याम्) स्वतन्त्रतायुक्त (वाचम्) वाणी को (वदन्) कहते हुए, (सोमेन) विद्या, योगाभ्यास और परमेश्वर की भक्ति से (आनन्दम्) सब के लिये आनन्द को (जनयन्) प्रकट करते हुए (इन्दो) आनन्दप्रद ! (पवमान) पवित्रात्मन् पवित्र करनेहारे संन्यासिन् ! (यत्र) जिस (सोमे) परमैश्वर्ययुक्त परमात्मा में (ब्रह्मा) चारों वेदों का जाननेहारा विद्वान् (महीयते) महत्त्व को प्राप्त होकर सत्कार को प्राप्त होता है, जैसे (ग्राव्णा) मेघ से सब जगत् को आनन्द होता है, वैसे तू सब को (इन्द्राय) परमैश्वर्ययुक्त मोक्ष का आनन्द देने के लिये सब साधनों को (परिस्रव) सब प्रकार से प्राप्त कर ॥ ४ ॥

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम् । तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ५ ॥

अर्थः—हे (पवमान) अविद्यादि क्लेशों के नाश करनेहारे पवित्रस्वरूप (इन्दो) सर्वानन्ददायक परमात्मन् ! (यत्र) जहां तेरे स्वरूप में (अजस्रम्) निरन्तर व्यापक तेरा (ज्योतिः) तेज है, (यस्मिन्) जिस (लोके) ज्ञान से देखने योग्य तुझ में (स्वः) नित्य सुख (हितम्) स्थित है, (तस्मिन्) उस (अमृते)

जन्म मरण और (अक्षिते) नाश से रहित (लोके) द्रष्टव्य अपने स्वरूप में आप (मा) मुझ को (इन्द्राय) परमैश्वर्यप्राप्ति के लिये (धेहि) कृपा से धारण कीजिये, और मुझ पर माता के समान कृपाभाव से (परि स्रव) आनन्द की वर्षा कीजिये ॥ ५ ॥

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः ।
यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ६ ॥

अर्थः—हे (इन्दो) आनन्दप्रद परमात्मन् ! (यत्र) जिस तुझ में (वैवस्वतः) सूर्य का प्रकाश (राजा) प्रकाशमान हो रहा है, (यत्र) जिस आप में (दिवः) बिजुली अथवा बुरी कामना की (अवरोधनम्) रुकावट है, (यत्र) जिस आप में (अमूः) वे कारण रूप (यह्वतीः) बड़े व्यापक आकाशस्थ (आपः) प्राणप्रद वायु हैं, (तत्र) उस अपने स्वरूप में (माम्) मुझ को (अमृतम्) मोक्ष प्राप्त (कृधि) कीजिये, (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिये (परि स्रव) आर्द्रभाव से आप मुझ को प्राप्त हूजिये ॥ ६ ॥

यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः । लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ७ ॥

अर्थः—हे (इन्दो) परमात्मन् ! (यत्र) जिस आप में (अनुकामम्) इच्छा के अनुकूल स्वतन्त्र (चरणम्) विहरना है, (यत्र) जिस (त्रिनाके) त्रिविध अर्थात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःख से रहित (त्रिदिवे) तीन सूर्य, विद्युत् और भौम्य अग्नि से प्रकाशित सुखस्वरूप में (दिवः) कामना करने योग्य शुद्ध कामना वाले, (लोकाः) यथार्थ ज्ञानयुक्त (ज्योतिष्मन्तः) शुद्ध विज्ञानयुक्त मुक्ति को प्राप्त हुए सिद्ध पुरुष विचरते हैं, (तत्र) उस अपने स्वरूप में (माम्) मुझ को (अमृतम्) मोक्ष प्राप्त (कृधि) कीजिये, और (इन्द्राय) उस परम आनन्दैश्वर्य के लिये (परि स्रव) कृपा से प्राप्त हूजिये ॥ ७ ॥

यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम् । स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ८ ॥

अर्थः—हे (इन्दो) निष्कामानन्दप्रद, सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मन्! (यत्र) जिस आप में (कामाः) सब कामना (निकामाः) और अभिलाषा छूट जाती हैं, (च) और (यत्र) जिस आप में (ब्रध्नस्य) सब से बड़े प्रकाशमान सूर्य का (विष्टपम्) विशिष्ट सुख, (च) और (यत्र) जिस आप में (स्वधा) अपना ही धारण (च) और जिस आप में (तृप्तिः) पूर्ण तृप्ति है, (तत्र) उस अपने स्वरूप में (माम्) मुझ को (अमृतम्) प्राप्त मुक्ति वाला (कृधि) कीजिये, तथा (इन्द्राय) सब दुःख विदारण के लिये आप मुझ पर (परिस्रव) करुणावृत्ति कीजिये ॥ ८ ॥

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते । कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ९ ॥

ऋ० मं० ९ । सू० ११३ ॥

अर्थः—हे (इन्दो) सर्वानन्दयुक्त जगदीश्वर! (यत्र) जिस आप में (आनन्दाः) सम्पूर्ण समृद्धि (च) और (मोदाः) सम्पूर्ण हर्ष (मुदः) सम्पूर्ण प्रसन्नता (च) और (प्रमुदः) प्रकृष्ट प्रसन्नता (आसते) स्थित हैं, (यत्र) जिस आप में (कामस्य) अभिलाषी पुरुष की (कामाः) सब कामना (आप्ताः) प्राप्त होती हैं (तत्र) उसी अपने स्वरूप में (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिये (माम्) मुझ को (अमृतम्) जन्म मृत्यु के दुःख से रहित मोक्षप्राप्तियुक्त कि जिस से मुक्ति के समय के मध्य में संसार में नहीं आना पड़ता, उस मुक्ति की प्राप्ति वाला (कृधि) कीजिये, और इसी प्रकार सब जीवों को (परि स्रव) सब ओर से प्राप्त हूजिये ॥ ९ ॥

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत ।
अत्रा समुद्र आ गूळ्हमा सूर्य्यमजभर्त्तन ॥ १० ॥

ऋ० मं० १० । सू० ७२ । मं० ७ ॥

अर्थः—हे (देवाः) पूर्ण विद्वान् (यतयः) संन्यासी लोगो! तुम (यथा) जैसे (अत्र) इस (समुद्रे) आकाश में (गूढम्) गुप्त (आसूर्यम्) स्वयं प्रकाशस्वरूप सूर्यादि का प्रकाशक परमात्मा है, उस को (आ अजभर्त्तन) चारों ओर

से अपने आत्माओं में धारण करो और आनन्दित होओ, वैसे (यत्) जो (भुवनानि) सब भुवनस्थ गृहस्थादि मनुष्य हैं, उन को सदा (अपिन्वती) विद्या और उपदेश से संयुक्त किया करो, यही तुम्हारा परमधर्म है॥ १०॥

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुप नि षेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उप संनमन्तु ॥११॥

अथर्व० कां० १९। सू० ४१। मं० १॥

अर्थः—हे विद्वानो ! जो (ऋषयः) वेदार्थविद्या को प्राप्त (स्वर्विदः) सुख को प्राप्त (अग्रे) प्रथम (तपः) ब्रह्मचर्यरूप आश्रम को पूर्णता से सेवन तथा यथावत् स्थिरता से प्राप्त होके (भद्रम्) कल्याण की (इच्छन्तः) इच्छा करते हुए (दीक्षाम्) संन्यास की दीक्षा को (उपनिषेदुः) ब्रह्मचर्य ही से प्राप्त होवें उन का (देवाः) विद्वान् लोग (उपसंनमन्तु) यथावत् सत्कार किया करें। (ततः) तदनन्तर (राष्ट्रम्) राज्य (वलम्) बल (च) और (ओजः) पराक्रम (जातम्) उत्पन्न होवे, (तत्) उस से (अस्मै) इस संन्यासाश्रम के पालन के लिये यत्न किया करें॥ ११॥

अथ मनुस्मृतेश्श्लोकाः

वनेषु तु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत्॥ १॥

अधीत्य विधिवद् वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे नियोजयेत्॥ २॥

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्॥ ३॥

यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात्।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः॥ ४॥

आगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत्॥ ५॥

अनग्निरनिकेतः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।
उपेक्षकोऽसङ्कुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥ ६ ॥
नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥ ७ ॥
दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ ८ ॥
अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ ९ ॥
क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ १० ॥
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ११ ॥
दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः ।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ १२ ॥
फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् ।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥ १३ ॥
प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः ।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥ १४ ॥
दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ १५ ॥
प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्विषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥ १६ ॥
उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ।
ध्यानयोगेन संपश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः ॥ १७ ॥
सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ १८ ॥

अहिंसयेन्द्रियासंगैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥ १९ ॥

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः ।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ २० ॥

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गाञ्छनैः शनैः ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ २१ ॥

इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् ।
इदमन्विच्छतां स्वर्ग्यमिदमानन्त्यमिच्छताम् ॥ २२ ॥

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः ।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ २३ ॥

अर्थ—इस प्रकार जङ्गलों में आयु का तीसरा भाग अर्थात् अधिक से अधिक २५ पच्चीस वर्ष अथवा न्यून से न्यून १२ बारह वर्ष तक विहार करके आयु के चौथे भाग अर्थात् ७० वर्ष के पश्चात् सब मोहादि संगों को छोड़कर संन्यासी हो जावे ॥ १ ॥

विधिपूर्वक ब्रह्मचर्याश्रम से सब वेदों को पढ़, गृहाश्रमी होकर धर्म से पुत्रोत्पत्ति कर, वानप्रस्थ में सामर्थ्य के अनुसार यज्ञ करके, मोक्ष में अर्थात् संन्यासाश्रम में मन को लगावे ॥ २ ॥

प्रजापति परमात्मा की प्राप्ति के निमित्त प्राजापत्येष्टि कि जिस में यज्ञोपवीत और शिखा का त्याग किया जाता है आहवनीय, गार्हपत्य और दाक्षिणात्य संज्ञक अग्नियों को आत्मा में समारोपित कर के ब्राह्मण विद्वान् गृहाश्रम से ही संन्यास लेवे ॥ ३ ॥

जो पुरुष सब प्राणियों को अभयदान सत्योपदेश देकर गृहाश्रम से ही संन्यास ग्रहण कर लेता है, उस ब्रह्मवादी, वेदोक्त सत्योपदेशक संन्यासी को मोक्षलोक और सब लोकलोकान्तर तेजोमय (ज्ञान से प्रकाशमय) हो जाते हैं ॥ ४ ॥

जब सब कामों को जीत लेवे और उन की अपेक्षा न रहे, पवित्रात्मा और

पवित्रान्तःकरण मननशील हो जावे तभी गृहाश्रम से निकल कर संन्यासाश्रम का ग्रहण करे, अथवा ब्रह्मचर्य ही से संन्यास का ग्रहण कर लेवे ॥ ५ ॥

वह संन्यासी (अनग्निः❀) आहवनीयादि अग्नियों से रहित, और कहीं अपना स्वाभिमत घर भी न बाँधे, और अन्न वस्त्रादि के लिये ग्राम का आश्रय लेवे, बुरे मनुष्यों की उपेक्षा करता और स्थिरबुद्धि मननशील होकर परमेश्वर में अपनी भावना का समाधान करता हुआ विचरे ॥ ६ ॥

न तो अपने जीवन में आनन्द और न अपने मृत्यु में दुःख माने, किन्तु जैसे क्षुद्र भृत्य अपने स्वामी की आज्ञा की बाट देखता रहता है, वैसे ही काल और मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहे ॥ ७ ॥

चलते समय आगे-आगे देख के पग धरे, सदा वस्त्र से छान कर जल पीवे, सब से सत्य वाणी बोले, अर्थात् सत्योपदेश ही किया करे, जो कुछ व्यवहार करे, वह सब मन की पवित्रता से आचरण करे ॥ ८ ॥

इस संसार में आत्मनिष्ठा में स्थित, सर्वथा अपेक्षारहित, मांस मद्यादि का त्यागी, आत्मा के सहाय से ही सुखार्थी होकर विचरा करे और सब को सत्योपदेश करता रहे ॥ ९ ॥

सब सिर के बाल, दाढ़ी मूंछ और नखों को समय-समय पर छेदन कराता रहे। पात्री दण्डी और कुसुम्भ के रंगे हुए ‡ वस्त्रों का धारण किया करे। सब भूत प्राणीमात्र को पीड़ा न देता हुआ दृढ़ात्मा होकर नित्य विचरा करे ॥ १० ॥

जो संन्यासी बुरे कामों से इन्द्रियों के निरोध रागद्वेषादि दोषों के क्षय और निर्वैरता से सब प्राणियों का कल्याण करता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

❀इसी पद से भ्रान्ति में पड़ के संन्यासियों का दाह नहीं करते, और संन्यासी लोग अग्नि को नहीं छूते। यह पाप संन्यासियों के पीछे लग गया। यहाँ आहवनीयादि संज्ञक अग्नियों को छोड़ना है, स्पर्श वा दाहकर्म छोड़ना नहीं है।

‡ अथवा गेरू से रंगे हुए वस्त्रों को पहिने।

यदि संन्यासी को मूर्ख संसारी लोग निन्दा आदि से दूषित वा अपमान भी करें तथापि धर्म ही का आचरण करे, ऐसे ही अन्य ब्रह्मचर्याश्रमादि के मनुष्यों को करना उचित है। सब प्राणियों में पक्षपात रहित होकर समबुद्धि रक्खे, इत्यादि उत्तम काम करने ही के लिए संन्यासाश्रम का विधि है, किन्तु केवल दण्डादि चिह्न धारण करना ही धर्म्म का कारण नहीं है ॥ १२ ॥

यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल जल को शुद्ध करने वाला है तथापि उस के नाम ग्रहणमात्र से जल शुद्ध नहीं होता किन्तु उस को ले, पीस, जल में डालने ही से उस मनुष्य का जल शुद्ध होता है, वैसे नाममात्र आश्रम से कुछ भी नहीं होता किन्तु अपने अपने आश्रम के धर्मयुक्त कर्म करने ही से आश्रमधारण सफल होता है, अन्यथा नहीं ॥ १३ ॥

इस पवित्र आश्रम को सफल करने के लिये संन्यासी पुरुष विधिवत् योग-शास्त्र की रीति से सात व्याहृतियों के पूर्व सात प्रणव लगा के जैसे कि पृष्ठ १८९ में प्राणायाम का मन्त्र लिखा है उस को मन से जपता हुआ तीन भी प्राणायाम करे तो जानो अत्युत्कृष्ट तप करता है ॥ १४ ॥

क्योंकि जैसे अग्नि में तपाने से धातुओं के मल छूट जाते हैं वैसे ही प्राण के निग्रह से इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं ॥ १५ ॥

इसलिये संन्यासी लोग प्राणायामों से दोषों को धारणाओं से अन्तःकरण के मैल को, प्रत्याहार से संग से हुए दोषों और ध्यान से अविद्या पक्षपात आदि अनीश्वरता के दोषों को छुड़ा के पक्षपातरहित आदि ईश्वर के गुणों को धारण कर सब दोषों को भस्म कर देवें ॥ १६ ॥

बड़े छोटे प्राणी और अप्राणियों में जो अशुद्धात्माओं से देखने के योग्य नहीं है, उस अन्तर्यामी परमात्मा की गति अर्थात् प्राप्ति को ध्यान योग से ही संन्यासी देखा करे ॥ १७ ॥

जो संन्यासी यथार्थ ज्ञान वा षड्दर्शनों से युक्त है, वह दुष्ट कर्मों से बद्ध नहीं होता। और जो ज्ञान, विद्या, योगाभ्यास, सत्संग, धर्मानुष्ठान वा षड्-दर्शनों से रहित विज्ञानहीन होकर संन्यास लेता है, वह संन्यास पदवी और मोक्ष को प्राप्त न होकर जन्ममरण रूप संसार को प्राप्त होता है, और ऐसे मूर्ख

अधर्मी के संन्यास का लेना व्यर्थ और धिक्कार देने के योग्य है ॥ १८ ॥

और जो निर्वैर, इन्द्रियों के विषयों के बन्धन से पृथक्, वैदिक कर्माचरणों और प्राणायाम, सत्यभाषणादि उत्तम उग्र कर्मों से सहित संन्यासी लोग होते हैं, वे इसी जन्म इसी वर्त्तमान समय में परमेश्वर की प्राप्तिरूप पद को प्राप्त होते हैं, उन का संन्यास लेना सफल और धन्यवाद के योग्य है ॥ १९ ।

जब संन्यासी सब पदार्थों में अपने भाव से निःस्पृह होता है तभी इस लोक इस जन्म और मरण पाकर परलोक और मुक्ति में परमात्मा को प्राप्त होके निरन्तर ❀ सुख को प्राप्त होता है ॥ २० ॥

इस विधि से धीरे-धीरे सब संग से हुए दोषों को छोड़ के, सब हर्ष शोकादि द्वन्द्वों से विशेषकर निर्मुक्त होके विद्वान् संन्यासी ब्रह्म ही में स्थिर होता है ॥ २१ ॥

और जो विविदिषा अर्थात् जानने की इच्छा करके गौण संन्यास लेवे, वह भी विद्या का अभ्यास, सत्पुरुषों का संग, योगाभ्यास, और ओंकार का जप और उस के अर्थ परमेश्वर का विचार भी किया करे। यही अज्ञानियों का शरण अर्थात् गौण-संन्यासियों और यही विद्वान् संन्यासियों का, यही सुख की खोज करनेहारे और यही अनन्त × सुख की इच्छा करनेहारे मनुष्यों का आश्रय है ॥ २२ ॥

इस क्रमानुसार संन्यासयोग से जो द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, संन्यास ग्रहण करता है, वह इस संसार और शरीर में सब पापों को छोड़-छुड़ा के परब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

विधिः—जो पुरुष संन्यास लेना चाहे, वह जिस दिन सर्वथा प्रसन्नता हो उसी दिन नियम और व्रत अर्थात् तीन दिन तक दुग्धपान करके उपवास और भूमि में शयन और प्राणायाम, ध्यान तथा एकान्त देश में ओंकार का जप

❀ निरन्तर शब्द का इतना ही अर्थ है कि मुक्ति के नियत समय के मध्य में दुःख आकर विघ्न नहीं कर सकता।

× अनन्त इतना ही है कि मुक्तिसुख के समय में अन्त अर्थात् जिस का नाश न होवे।

किया करे और पृष्ठ १४-१७ में लिखे सभामण्डप, वेदी, समिधा, घृतादि साकल्य सामग्री एक दिन पूर्व कर रखनी। पश्चात् जिस चौथे दिन संन्यास लेना हो प्रहर रात्रि से उठकर, शौच स्नानादि आवश्यक कर्म करके, प्राणायाम ध्यान और प्रणव का जप करता रहे। सूर्योदय के समय उत्तम गृहस्थ धार्मिक विद्वानों का पृष्ठ २१ में लि० वरण कर पृष्ठ २२-२४ में लि० अग्न्याधान समिदाधान, घृतप्रतपन और स्थालीपाक करके, पृष्ठ ४-१४ में लि० स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण का पाठ कर, पृष्ठ २४-२५ में लि० वेदी के चारों ओर जलप्रोक्षण, आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और व्याहृति आहुति ४ चार तथा—

ओं भुवनपतये स्वाहा ॥ १ ॥ ओं भूतानां पतये स्वाहा ॥ २ ॥
ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ ३ ॥

इन में से एक-एक मन्त्र से एक-एक करके ग्यारह आज्याहुति देके, जो विधिपूर्वक भात बनाया हो उस में घृत सेचन करके यजमान जो कि संन्यास लेने वाला है और दो ऋत्विज् निम्नलिखित स्वाहान्त मन्त्रों से भात का होम, और शेष दो ऋत्विज् भी साथ-साथ घृताहुति करते जावें—

ओं ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञो ब्रह्मणा स्वरवो मिताः।
अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणोऽन्तर्हितं हविः स्वाहा ॥ १ ॥

ब्रह्म स्रुचो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता। ब्रह्म यज्ञश्च सत्रं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः। शमिताय स्वाहा ॥ २ ॥

अंहोमुचे प्र भरे मनीषा मा सुत्राव्णे सुमतिमावृणानः। इममिन्द्र प्रति हव्यं गृभाय सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः स्वाहा ॥ ३ ॥

अंहोमुचं वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्। अपां नपातमश्विना हुवे धियेन्द्रेण म इन्द्रियं दत्तमोजः स्वाहा ॥ ४ ॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह। अग्निर्मा तत्र

नयत्वग्निर्मेधां दधातु मे । अग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये–इदन्न मम ॥ ५ ॥

यत्र० । वायुर्मा तत्र नयतु वायुः प्राणान् दधातु मे । वायवे स्वाहा ॥ इदं वायवे--इदन्न मम ॥ ६ ॥

यत्र० । सूर्यो मा तत्र नयतु चक्षुः सूर्यो दधातु मे । सूर्याय स्वाहा ॥ इदं सूर्याय--इदन्न मम ॥ ७ ॥

यत्र० । चन्द्रो मा तत्र नयतु मनश्चन्द्रो दधातु मे । चन्द्राय स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय--इदन्न मम ॥ ८ ॥

यत्र० । सोमो मा तत्र नयतु पयः सोमो दधातु मे । सोमाय स्वाहा ॥ इदं सोमाय--इदन्न मम ॥ ९ ॥

यत्र० । इन्द्रो मा तत्र नयतु बलमिन्द्रो दधातु मे । इन्द्राय स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय–इदन्न मम ॥ १० ॥

यत्र० । आपो मा तत्र नयन्त्वमृतं मोप तिष्ठतु । अद्भ्यः स्वाहा ॥ इदमद्भ्यः–इदन्न मम ॥ ११ ॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे । ब्रह्मणे स्वाहा । इदं ब्रह्मणे इदन्न मम ॥ १२ ॥ अथर्व० कां० १६ । सू० ४२ । ४३ ॥

ओं प्राणापानव्यानोदानसमाना मे शुध्यन्ताम् ।
ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥ १ ॥

वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रजिह्वाघ्राणरेतोबुद्धयाकूतिसंकल्पा मे शुध्यन्ताम् । ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥ २ ॥

शिरः पाणिपादपृष्ठोरूदरजंघाशिश्नोपस्थपायवो मे शुध्यन्ताम्। ज्योति० ॥ ३ ॥

त्वक्चर्ममाꣳसरुधिरमेदोमज्जास्नायवोऽस्थीनि मे शुध्यन्ताम्। ज्योति० ॥ ४ ॥

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा मे शुध्यन्ताम्। ज्योति० ॥ ५ ॥

पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशा मे शुध्यन्ताम्। ज्योति० ॥ ६ ॥

अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया मे शुध्यन्ताम्। ज्योति० ॥ ७ ॥

विविष्टयै स्वाहा ॥ ८ ॥ कषोत्काय स्वाहा ॥ ९ ॥

उत्तिष्ठ पुरुष हरित लोहित पिङ्गलाक्षि देहि देहि ददापयिता मे शुध्यन्ताम्। ज्योति० ॥ १० ॥

ओं स्वाहा मनोवाक्कायकर्माणि मे शुध्यन्ताम्। ज्योति० ॥ ११ ॥

अव्यक्तभावैरहङ्कारैर्ज्योति० ॥ १२ ॥

आत्मा मे शुध्यताम्। ज्योति० ॥ १३ ॥

अन्तरात्मा मे शुध्यताम्। ज्योति० ॥ १४ ॥

परमात्मा मे शुध्यताम्। ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ❀ ॥ १५ ॥

❀ प्राणापान इत्यादि से लेके (परमात्मा मे शुध्यताम्) इत्यन्त मन्त्रों से संन्यासी के लिये उपदेश है, अर्थात् जो संन्यासाश्रम ग्रहण करे वह धर्माचरण, सत्योपदेश, योगाभ्यास, शम, दम, शान्ति, सुशीलतादि, विद्याविज्ञानादि शुभ गुण कर्म स्वभावों से सहित होकर, परमात्मा को अपना सहायक मानकर, अत्यन्त पुरुषार्थ से शरीर प्राण मन इन्द्रियादि को अशुद्ध व्यवहार से हटा शुद्ध व्यवहार में चला के पक्षपात कपट अधर्म व्यवहारों को छोड़, अन्य के दोष छुड़ाने और उपदेश से छुड़ाकर, स्वयं आनन्दित होके, सब मनुष्यों को आनन्द पहुँचाता रहे।

इन १५ मन्त्रों में से एक एक करके भात की आहुति देनी, पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रों से ३५ घृताहुति देवें—

ओमग्नये स्वाहा ॥ १६ ॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥१७॥
ओं ध्रुवाय भूमाय स्वाहा ॥ १८ ॥ ओं ध्रुवक्षितये स्वाहा ॥१९॥
ओमच्युतक्षितये स्वाहा ॥ २० ॥ ओमग्नये स्विष्टकृते स्वाहा ॥२१॥
ओं धर्माय स्वाहा ॥ २२ ॥ ओमधर्माय स्वाहा ॥२३॥
ओमद्भ्यः स्वाहा ॥२४॥ ओमोषधिवनस्पतिभ्यः स्वाहा ॥२५॥
ओं रक्षोदेवजनेभ्यः स्वाहा ॥ २६ ॥ ओं गृह्याभ्यः स्वाहा ॥२७॥
ओमवसानेभ्यः स्वाहा ॥२८॥ ओमवसानपतिभ्यः स्वाहा ॥२९॥
ओं सर्वभूतेभ्यः स्वाहा ॥ ३० ॥ ओं कामाय स्वाहा ॥३१॥
ओमन्तरिक्षाय स्वाहा ॥ ३२ ॥ ओं पृथिव्यै स्वाहा ॥३३॥
ओं दिवे स्वाहा ॥ ३४ ॥ ओं सूर्याय स्वाहा ॥३५॥
ओं चन्द्रमसे स्वाहा ॥ ३६ ॥ ओं नक्षत्रेभ्यः स्वाहा ॥३७॥
ओमिन्द्राय स्वाहा ॥ ३८ ॥ ओं बृहस्पतये स्वाहा ॥३९॥
ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ ४० ॥ ओं ब्रह्मणे स्वाहा ॥४१॥
ओं देवेभ्यः स्वाहा ॥ ४२ ॥ ओं परमेष्ठिने स्वाहा ॥४३॥
ओं तद्ब्रह्म ॥ ४४ ॥ ओं तद्वायुः ॥ ४५ ॥
ओं तदात्मा ॥ ४६ ॥ ओं तत्सत्यम् ॥ ४७ ॥
ओं तत्सर्वम् ॥ ४८ ॥ तत्पुरोर्नमः ॥ ४९ ॥

अन्तश्चरति भूतेषु गुहायां विश्वमूर्तिषु । त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमिन्द्रस्त्वꣳरुद्रस्त्वं विष्णुस्त्वं ब्रह्म त्वं प्रजापतिः । त्वं तदाप आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा* ॥ ५० ॥

इन ५० मन्त्रों से आज्याहुति दे के, तदनन्तर जो संयनस लेने वाला है,

---

* ये सब प्राणापानव्यान० आदि मन्त्र तैत्तिरीय आरण्यक दशम प्रपाठक अनुवाक ५१ । ५२ । ५३ । ५४ । ५५ । ५६ । ५७ । ५८ । ५९ । ६० ॥ ६६ । ६७ । ६८ के हैं ।

वह पाँच वा छः केशों को छोड़कर, पृष्ठ ७३-७४ में लि० डाढ़ी मूंछ केश लोमों का छेदन अर्थात् क्षौर करा के यथावत् स्नान करे।

तदनन्तर संन्यास लेने वाला पुरुष अपने शिर पर पुरुष सूक्त के मन्त्रों से १०८ (एक सौ आठ) वार अभिषेक करे। पुनः पृष्ठ १८७ में लि० आचमन और प्राणायाम करके हाथ जोड़ वेदी के सामने नेत्रोन्मीलन कर, मन से—

ओं ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥ ओमिन्द्राय नमः ॥ २ ॥
ओं सूर्याय नमः ॥ ३ ॥ ओं सोमाय नमः ॥ ४ ॥
ओमात्मने नमः ॥ ५ ॥ ओमन्तरात्मने नमः ॥ ६ ॥

इन छः मन्त्रों को जप के---

ओमात्मने स्वाहा ॥ १ ॥ ओमन्तरात्मने स्वाहा ॥ २ ॥
ओं परमात्मने स्वाहा ॥ ३ ॥ ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ ४ ॥

इन ४ चार मन्त्रों से ४ चार आज्याहुति देकर, कार्यकर्त्ता संन्यास ग्रहण करने वाला पुरुष पृष्ठ १२९ में लि० मधुपर्क की क्रिया करे। तदनन्तर प्राणायाम करके—

ओं भूः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥ १ ॥
ओं भुवः सावित्रीं प्रविशामि भर्गो देवस्य धीमहि ॥ २ ॥
ओं स्वः सावित्रीं प्रविशामि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ ३ ॥

ओं भूर्भुवः स्वः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ ४ ॥

इन मन्त्रों को मन से जपे।

ओमग्नये स्वाहा ॥ १ ॥ ओं भूः प्रजापतये स्वाहा ॥ २ ॥
ओमिन्द्राय स्वाहा ॥ ३ ॥ ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ ४ ॥
ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ ५ ॥ ओं ब्रह्मणे स्वाहा ॥ ६ ॥
ओं प्राणाय स्वाहा ॥ ७ ॥ ओमपानाय स्वाहा ॥ ८ ॥
ओं व्यानाय स्वाहा ॥ ९ ॥ ओमुदानाय स्वाहा ॥ १० ॥
ओं समानाय स्वाहा ॥ ११ ॥

इन मन्त्रों से वेदी में आज्याहुति दे के—

ओं भूः स्वाहा ॥

इस मन्त्र से पूर्णाहुति करके—

पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्चोत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति × ॥ श० कां० १४ ॥

पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता मत्तः सर्वभूतेभ्योऽभयमस्तु स्वाहा × ॥

इस वाक्य को बोल के सब के सामने जल को भूमि में छोड़ देवे ।

पीछे नाभिमात्र जल में पूर्वाभिमुख खड़ा रह कर—

ओं भूः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥
ओं भुवः सावित्रीं प्रविशामि भर्गो देवस्य धीमहि ॥
ओं स्वः सावित्रीं प्रविशामि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥
ओं भूर्भुवः स्वः सावित्रीं प्रविशामि परो रजसेऽसावदोम् ॥

इस का मन से जप कर के, प्रणवार्थ परमात्मा का ध्यान करके, पूर्वोक्त (पुत्रैषणायाश्च०) इस समग्र कण्डिका को बोल के प्रेष्य मन्त्रोच्चारण कर—

ओं भूः संन्यस्तं मया ॥ ओं भुवः संन्यस्तं मया ॥
ओं स्वः संन्यस्तं मया ॥

इस मन्त्र का मन में उच्चारण करे ।

तत्पश्चात् जल से अञ्जलि भर, पूर्वाभिमुख होकर, संन्यास लेने वाला—

× पुत्रादि के मोह, वित्तादि पदार्थों के मोह और लोकस्थ प्रतिष्ठा की इच्छा से मन को हटा कर परमात्मा में आत्मा को दृढ़ करके जो भिक्षाचरण करते हैं वे ही सब को सत्योपदेश से अभयदान देते हैं, अर्थात् दहिने हाथ में जल ले के मैंने आज से पुत्रादि का तथा वित्त का मोह और लोक में प्रतिष्ठा की इच्छा करने का त्याग कर दिया, और मुझ से सब भूत प्राणीमात्र को अभय प्राप्त होवे, यह मेरी सत्य वाणी है ।

ओम् अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहा ॥

इस मन्त्र से दोनों हाथ की अञ्जलि को पूर्व दिशा में छोड़ देवे।

येना॑ स॒हस्रं॒ वह॑सि॒ येना॑ग्ने सर्ववेद॒सम् ।
तेने॒मं य॒ज्ञं नो॑ वह॒ स्व॑र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे * ॥

अथर्व० कां० ६। सू० ५। मं० १७।

और इसी पर स्मृति है—

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥

इस श्लोक का अर्थ पहले लिख दिया है।

इस के पश्चात् मौन करके शिखा के लिये जो पांच वा सात केश रक्खे थे उन को एक-एक उखाड़ और यज्ञोपवीत उतार कर हाथ में ले, जल की अञ्जलि भर—

ओमापो वै सर्वा देवताः स्वाहा ॥ १ ॥ ओं भूः स्वाहा ॥ २ ॥

इन मन्त्रों से शिखा के बाल और यज्ञोपवीत सहित जलाञ्जलि को जल में होम कर देवे।

उस के पश्चात् आचार्य शिष्य को जल से निकाल के काषाय वस्त्र की कौपीन, कटिवस्त्र, उपवस्त्र, अङ्गोछा प्रीतिपूर्वक देवे। और पृष्ठ ८६ में लि० (यो मे दण्डः०) इस मन्त्र से दण्ड धारण करके, आत्मा में आहवनीयादि अग्नियों का आरोपण करे।

---

* हे (अग्ने) विद्वन्! (येन) जिससे (सहस्रम्) सब संसार को अग्नि धारण करता है, और (येन) जिस से तू (सर्ववेदसम्) गृहाश्रमस्थ पदार्थ मोह, यज्ञोपवीत और शिखा आदि को (वहसि) धारण करता है, उन को छोड़ (तेन) उस त्याग से (नः) हम को (इमम्) इस संन्यासरूप (स्वाहा) सुख देने हारे (यज्ञम्) प्राप्त होने योग्य यज्ञ को (देवेषु) विद्वानों में (गन्तवे) जाने को (वह) प्राप्त हो।

यो विद्याद् ब्रह्म प्रत्यक्षं परूंषि यस्य संभारा ऋचो यस्यानूक्यम्[1] ॥ १ ॥

सामानि यस्य लोमानि यजुर्हृदयमुच्यते परिस्तरणमिद्धविः[2] ॥२॥

यद्वा अतिथिपतिरतिथीन् प्रति पश्यति देवयजनं प्रेक्षते[3] ॥ ३ ॥

यदभि वदति दीक्षामुपैति यदुदकं याचत्यपः प्रणयति[4] ॥ ४ ॥

या एव यज्ञ आपः प्रणीयन्ते ता एव ताः[5] ॥ ५ ॥

---

१. (यः) जो पुरुष (प्रत्यक्षम्) साक्षात्कारता से (ब्रह्म) परमात्मा को (विद्यात्) जाने, (यस्य) जिस के (परूंषि) कठोर स्वभाव आदि (संभाराः) होम करने के साकल्य और (यस्य) जिस के (ऋचः) यथार्थ सत्य भाषण सत्योपदेश और ऋग्वेद ही (अनूक्यम्) अनुकूलता से कहने के योग्य वचन है, वही संन्यास ग्रहण करे ॥ १ ॥

२. (यस्य) जिसके (सामानि) सामवेद (लोमानि) लोम के समान, (यजुः) यजुर्वेद जिस के (हृदयम्) हृदय के समान (उच्यते) कहा जाता है, (परिस्तरणम्) जो सब ओर से शास्त्र आसन आदि सामग्री (हविरित्) होम करने योग्य के समान है, वह संन्यास ग्रहण करने में योग्य होता है ॥ २ ॥

३. (वा) वा (यत्) जो (अतिथिपतिः) अतिथियों का पालन करनेहारा (अतिथीन्) अतिथियों के प्रति (प्रतिपश्यति) देखता है, वही विद्वान् संन्यासियों में (देवयजनम्) विद्वानों के यजन करने के समान (प्रेक्षते) ज्ञानदृष्टि से देखता और संन्यास लेने का अधिकारी होता है ॥ ३ ॥

४. और (यत्) जो संन्यासी (अभिवदति) दूसरे के साथ संवाद वा दूसरे को अभिवादन करता है वह जानो (दीक्षाम्) दीक्षा को (उपैति) प्राप्त होता है, (यत्) जो (उदकम्) जल की (याचति) याचना करता है वह जानो (अपः) प्रणीता आदि में जल को (प्रणयति) डालता है ॥ ४ ॥

५. (यज्ञे) यज्ञ में (याः एव) जिन्हीं (आपः) जलों का (प्रणीयन्ते) प्रयोग किया जाता है (ता एव) वे ही (ताः) पात्र में रक्खे जल संन्यासी की यज्ञस्थ जलक्रिया है ॥ ५ ॥

यदा॑वस॒थान् क॒ल्पय॑न्ति सदो॑ हवि॒र्धानान्ये॒व तत्क॑ल्पयन्ति[1] ॥६॥

यदु॑पस्तृ॒णन्ति॑ ब॒र्हिरे॒व तत् ॥ ७ ॥

तेषा॒मास॑न्नाना॒मति॑थिरा॒त्मन् जु॑होति[3] ॥ ८ ॥

स्रुचा॒ हस्ते॑न प्रा॒णे यूपे॑ स्रुक्का॒रेण॑ वषट्का॒रेण॑[4] ॥ ९ ॥

ए॒ते वै प्रि॒याश्चाप्रि॑याश्च॒र्त्विज॑ः स्व॒र्गं लो॒कं ग॑मयन्ति॒ यद॒तिथ॑यः[5] ।१०

---

१. संन्यासी (यत्) जो (आवसथान्) निवास का स्थान (कल्पयन्ति) कल्पना करते हैं वे (सदः) यज्ञशाला (हविर्धानान्येव) हविष् के स्थापन करने के ही पात्र (तत्) वे (कल्पयन्ति) समर्थित करते हैं ॥ ६ ॥

२. और (यत्) जो संन्यासी लोग (उपस्तृणन्ति) बिछौने आदि करते हैं (बर्हिरेव तत्) यह कुशपिञ्जूली के समान है ॥ ७ ॥

३. और जो (तेषाम्) उन (आसन्नानाम्) समीप बैठनेहारों के निकट बैठा हुआ, (अतिथिः) जिस की कोई नियत तिथि न हो, वह भोजनादि करता है, वह (आत्मन्) जानो वेदीस्थ अग्नि में होम करने के समान आत्मा में (जुहोति) आहुतियां देता है ॥ ८ ॥

४. और जो संन्यासी (हस्तेन) हाथ से खाता है वह जानो (स्रुचा) चमसा आदि से वेदी में आहुति देता है, जैसे (यूपे) स्थम्भे में अनेक प्रकार के पशु आदि को बांधते हैं वैसे वह संन्यासी (स्रुक्कारेण) स्रुचा के समान (वषट्कारेण) होमक्रिया के तुल्य (प्राणे) प्राण में मन और इन्द्रियों को बांधता है ॥ ६ ॥

५. (एते वै) ये ही (ऋत्विजः) समय-समय में प्राप्त होने वाले (प्रियाः च अप्रियाः च) प्रिय और अप्रिय भी संन्यासी जन (यत्) जिस कारण (अतिथयः) अतिथिरूप हैं, इस से गृहस्थ को (स्वर्गं लोकम्) दर्शनीय अत्यन्त सुख को (गमयन्ति) प्राप्त कराते हैं ॥ १० ॥

प्राजापत्यो वा एतस्य यज्ञो विततो य उपहरति[1] ॥ ११ ॥

प्रजापतेर्वा एष विक्रमाननुविक्रमते य उपहरति[2] ॥ १२ ॥

योऽतिथीनां स आहवनीयो यो वेश्मनि स गार्हपत्यो यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः[3] ॥ १३ ॥

इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति[4] ॥ १४ ॥

अथर्व० कां० ९। सू० ६॥

---

१. (एतस्य) इस संन्यासी का (प्राजापत्यः) प्रजापति परमात्मा को जानने का आश्रम धर्मानुष्ठानरूप (यज्ञः) अच्छे प्रकार करने योग्य यतिधर्म (विततः) व्यापक है, अर्थात् (यः) जो इसको सर्वोपरि (उपहरति) स्वीकार करता है (वै) वही संन्यासी होता है ॥ ११ ॥

२. (यः) जो (एषः) यह संन्यासी (प्रजापतेः) परमेश्वर के जानने रूप संन्यासाश्रम के (विक्रमान्) सत्याचारों की (अनुविक्रमते) अनुकूलता से क्रिया करता है (वै) वही सब शुभगुणों को (उपहरति) स्वीकार करता है ॥ १२ ॥

३. (यः) जो (अतिथीनाम्) अतिथि अर्थात् उत्तम संन्यासियों का संग है (सः) वह संन्यासी के लिये (आहवनीयः) आहवनीय अग्नि अर्थात् जिस में ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी होम करता है, और (यः) जो संन्यासी का (वेश्मनि) घर में अर्थात् स्थान में निवास है (सः) वह उसके लिये (गार्हपत्यः) गृहस्थ सम्बन्धी अग्नि है, और संन्यासी का (यस्मिन्) जिस जाठराग्नि में अन्नादि को (पचन्ति) पकाते हैं (सः) वह (दक्षिणाग्निः) वानप्रस्थ सम्बन्धी अग्नि है, इस प्रकार आत्मा में सब अग्नियों का आरोपण करे ॥ १३ ॥

४. (यः) जो गृहस्थ (अतिथेः) संन्यासी से (पूर्वः) प्रथम (अश्नाति) भोजन करता है (एषः) यह जानो (गृहाणाम्) गृहस्थों के (इष्टम्) इष्ट सुख (च) और उस की सामग्री (पूर्तम्) तथा जो ऐश्वर्यादि की पूर्णता (च) और उस के साधनों का (वै) निश्चय करके (अश्नाति) भक्षण अर्थात् नाश करता

‡ तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः, श्रद्धा पत्नी, शरीर-मिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिर्वेदः शिखा, हृदयं यूपः, काम आज्यं, मन्युः पशुस्तपोऽग्निर्दमः शमयिता, दक्षिणा वाग्घोता प्राण, उद्गाता चक्षुरध्वर्युर्मनो, ब्रह्मा श्रोत्रमग्नीत्। यावद् ध्रियते सा

है। इस लिये जिस गृहस्थ के समीप अतिथि उपस्थित होवे उसको पूर्व जिमा कर पश्चात् भोजन करना अत्युचित है ॥ १४ ॥

‡ इसके आगे तैत्तिरीय आरण्यक का अर्थ करते हैं—(एवम्) इस प्रकार संन्यास ग्रहण किये हुए (तस्य) उस (विदुषः) विद्वान् संन्यासी के संन्यासाश्रम-रूप (यज्ञस्य) अच्छे प्रकार अनुष्ठान करने योग्य यज्ञ का (यजमानः) पति (आत्मा) स्वस्वरूप है, और जो ईश्वर, वेद और सत्यधर्माचरण, परोपकार, में (श्रद्धा) सत्य का धारणरूप दृढ़ प्रीति है वह उस की (पत्नी) स्त्री है, और जो संन्यासी का (शरीरम्) शरीर है वह (इध्मम्) यज्ञ के लिए इन्धन है और जो उस का (उरः) वक्षःस्थल है वह (वेदिः) कुण्ड, और जो उस के शरीर पर (लोमानि) रोम हैं वे (बर्हिः) कुशा हैं, और जो (वेदः) वेद और उन का शब्दार्थ-सम्बन्ध जानकर आचरण करना है वह संन्यासी की (शिखा) चोटी है, और जो संन्यासी का (हृदयम्) हृदय है वह (यूपः) यज्ञ का स्तम्भ है, और जो इस के शरीर में (कामः) काम है वह (आज्यम्) ज्ञान अग्नि में होम करने का पदार्थ है, और जो (मन्युः) संन्यासी में क्रोध है वह (पशुः) निवृत्त करने अर्थात् शरीर के मलवत् छोड़ने के योग्य है, और जो संन्यासी (तपः) सत्य-धर्मानुष्ठान प्राणायामादि योगाभ्यास करता है वह (अग्निः) जानो वेदी का अग्नि है जो संन्यासी (दमः) अधर्माचरण से इन्द्रियों को रोक के धर्माचरण में स्थिर रख के चलाता है वह (शमयिता) जानो दुष्टों को दण्ड देने वाला सभ्य है, और जो संन्यासी की (वाक्) सत्योपदेश करने के लिये वाणी है वह जानो सब मनुष्यों को (दक्षिणा) अभयदान देना है, जो संन्यासी के शरीर में (प्राणः) प्राण है वह (होता) होता के समान, जो (चक्षुः) चक्षु है वह (उद्गाता) उद्गाता के तुल्य, जो (मनः) मन है वह (अध्वर्युः) अध्वर्यु के समान जो (श्रोत्रम्) श्रोत्र है वह (ब्रह्मा) ब्रह्मा और (अग्नीत्) अग्नि लाने वाले के तुल्य (यावत् ध्रियते) जितना कुछ संन्यासी धारण करता है (सा) यह (दीक्षा)

दीक्षा, यदश्नाति तद्धविर्यत्पिबति तदस्य सोमपानम् । यद्रमते तदुपसदो, यत्सञ्चरत्युपविशत्युत्तिष्ठते च स प्रवर्ग्यो, यन्मुखं तदाहवनीयो, या व्याहृतिराहुतिर्यदस्य विज्ञानं तज्जुहोति, यत्सायं प्रातरत्ति तत्समिधं, यत्प्रातर्मध्यन्दिनꣳ सायं च तानि सवनानि । ये अहोरात्रे ते दर्शपौर्णमासौ, येऽर्द्धमासाश्च मासाश्च ते चातुर्मास्यानि, य ऋतवस्ते पशुबन्धा, ये संवत्सराश्च परिवत्सराश्च तेऽहर्गणाः, सर्ववेदसं वा एतत्सत्रं, यन्मरणं

दीक्षा ग्रहण, और (यत्) जो संन्यासी (अश्नाति) खाता है, (तद्धविः) वह घृतादि साकल्य के समान, (यत् पिबति) और जो वह जल दुग्धादि पीता है (तदस्य सोमपानम्) वह इस का सोमपान है, और (यद्रमते) वह जो इधर-उधर भ्रमण करता है (तदुपसदः) वह उपसद उपसामग्री, (यत्संचरत्युपविशत्युत्तिष्ठते च) जो वह गमन करता, बैठता और उठता है (स प्रवर्ग्यः) वह इस का प्रवर्ग्य है, (यन्मुखम्) जो इस का मुख है (तदाहवनीयः) वह संन्यासी की आहवनीय अग्नि के समान, (या व्याहृतिराहुतिर्यदस्य विज्ञानम्) जो संन्यासी का व्याहृति का उच्चारण करना वा जो इस का विज्ञान आहुतिरूप है (तज्जुहोति) वह जानो होम कर रहा है, (यत्सायं प्रातरत्ति) संन्यासी जो सायं और प्रातःकाल भोजन करता है (तत्समिधम्) वे समिधा हैं, (यत्प्रातर्मध्यन्दिनꣳ सायं च) जो संन्यासी प्रातः मध्याह्न और सायंकाल में कर्म करता है (तानि सवनानि) वे तीन सवन, (ये अहोरात्रे) जो दिन और रात्रि हैं (ते दर्शपौर्णमासौ) वे संन्यासी के पौर्णमासेष्टि और अमावस्येष्टि हैं, (येऽर्द्धमासाश्च मासाश्च) जो कृष्ण शुक्ल-पक्ष और महीने हैं (ते चतुर्मास्यानि) वे संन्यासी के चातुर्मास्य याग हैं, (ये ऋतवः) जो वसन्तादि ऋतु हैं (ते पशुबन्धाः) वे जानो संन्यासी के पशुबन्ध अर्थात् पशुओं का बांधना रखना है; (ये संवत्सराश्च परिवत्सराश्च) जो संवत्सर और परिवत्सर अर्थात् वर्ष वर्षान्तर हैं (तेऽहर्गणाः) वे संन्यासी के अहर्गण दो रात्रि या तीन रात्रि आदि के व्रत हैं, जो (सर्ववेदसं वै) सर्वस्व दक्षिणा अर्थात् शिखा सूत्र यज्ञोपवीत आदि पूर्वाश्रमचिह्नों का त्याग करना है (एतत्सत्रम्) यह सब से बड़ा यज्ञ है (यन्मरणम्) जो संन्यासी का मृत्यु है

तदवभृथः, एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्रᳬं सत्रं, य एवं विद्वानुदगयने प्रमीयते देवानामेव महिमानं गत्वाऽऽदित्यस्य सायुज्यं गच्छत्यथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितॄणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं सलोकतामाप्नोत्येतौ वै सूर्याचन्द्रमसोर्महिमानौ ब्राह्मणो विद्वानभि-जयति, तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति, तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमित्युपनिषत् ।। तैत्ति० प्रपा० १० । अनु० ६४ ।।

अथ संन्यासे पुनः प्रमाणानि—

❀ न्यास इत्याहुर्मनीषिणो ब्रह्माणम् । ब्रह्मा विश्वः कतमः स्वयम्भूः प्रजापतिः संवत्सर इति । संवत्सरोऽसावादित्यो य एष आदित्ये पुरुषः स परमेष्ठी ब्रह्मात्मा । याभिरादित्यस्तपति रश्मिभिस्ताभिः पर्जन्यो वर्षति, पर्जन्येनौषधिवनस्पतयः प्रजायन्त ओषधिवनस्पतिभिरन्नं भवत्यन्नेन प्राणाः प्राणैर्बलं बलेन

(तदवभृथः) वह यज्ञान्तस्नान है, (एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्रᳬं सत्रम्) यही जरा-वस्था और मृत्युपर्यन्त अर्थात् यावत् जीवन है तावत् सत्योपदेश योगाभ्यासादि संन्यास के धर्म का अनुष्ठान अग्निहोत्र रूप बड़ा दीर्घ यज्ञ है। (य एवं विद्वानु-दगयने०) जो इस प्रकार विद्वान् संन्यास लेकर विज्ञान योगाभ्यास करके शरीर छोड़ता है वह विद्वानों ही के महिमा को प्राप्त होकर स्वप्रकाशस्वरूप परमात्मा के सङ्ग को प्राप्त होता है, और जो योग विज्ञान से रहित है सो सांसारिक दक्षिणायनरूप व्यवहार में मृत्यु को प्राप्त होता है। वह पुनः पुनः मातापिताओं ही के महिमा को प्राप्त होकर चन्द्रलोक के समान वृद्धि क्षय को प्राप्त होता है। और जो इन दोनों के महिमाओं को विद्वान् ब्राह्मण अर्थात् संन्यासी जीत लेता है वह उस से परे परमात्मा के महिमा को प्राप्त होकर मुक्ति के समय पर्य्यन्त मोक्ष-सुख को भोगता है।

❀ (न्यास इत्याहुर्मनीषिणः०) इस अनुवाक का अर्थ सुगम है इस लिये भावार्थ कहते हैं। न्यास अर्थात् जो संन्यास शब्द का अर्थ पूर्व कह आये, उस रीति से जो संन्यासी होता है वह परमात्मा का उपासक है। वह परमेश्वर सूर्यादि लोकों में व्याप्त और पूर्ण है कि जिस के प्रताप से सूर्य तपता है। उस

तपस्तपसा श्रद्धा श्रद्धया मेधा मेधया मनीषा मनीषया मनो मनसा शान्तिः शान्त्या चित्तं चित्तेन स्मृतिꣳ स्मृत्या स्मारꣳ स्मारेण विज्ञानं विज्ञानेनात्मानं वेदयति, तस्मादन्नं ददन्त्सर्वाण्येतानि ददात्यन्नात् प्राणा भवन्ति भूतानाम् । प्राणैर्मनो मनसश्च विज्ञानं विज्ञानादानन्दो ब्रह्मयोनिः । स वा एष पुरुषः पञ्चधा पञ्चात्मा येन सर्वमिदं प्रोतं पृथिवी चान्तरिक्षं च द्यौश्च दिशश्चावान्तर-दिशश्च, स वै सर्वमिदं जगत् स भूतꣳ स भव्यं जिज्ञासक्लृप्त ऋतजा रयिष्ठाः श्रद्धा सत्यो महस्वाँस्तमसो वरिष्ठात् । ज्ञात्वा तमेवं मनसा हृदा च भूयो न मृत्युमुपयाहि विद्वान् । तस्मान् न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः । वसुरण्वो विभूरसि प्राणे त्वमसि सन्धाता ब्रह्मँस्त्वमसि विश्वसृत्तेजोदास्त्वमस्यग्नेरसि वर्चोदास्त्वमसि सूर्यस्य द्युम्नोदास्त्वमसि चन्द्रमस उपयामगृहीतोऽसि ब्रह्मणे त्वा महसे । ओमित्यात्मानं युञ्जीत । एतद्वै महोपनिषदं देवानां गुह्यम् । य

तपने से वर्षा, वर्षा से ओषधी वनस्पति की उत्पत्ति, उन से अन्न, अन्न से प्राण प्राण से बल, बल से तप अर्थात् प्राणायाम योगाभ्यास, उस से श्रद्धा सत्यधारण में प्रीति उस से बुद्धि, बुद्धि से विचारशक्ति, उस से ज्ञान, ज्ञान से शान्ति, शान्ति से चेतनता, चित्त से स्मृति, स्मृति से पूर्वापर का ज्ञान, उस से विज्ञान और विज्ञान से आत्मा को संन्यासी जानता और जनाता है । इस लिये अन्नदान श्रेष्ठ जिस से प्राण बल विज्ञानादि होते हैं । जो प्राणों का आत्मा, जिससे यह सर्व जगत् ओत-प्रोत व्याप्त हो रहा है । यह सब जगत् का कर्त्ता, वही पूर्वकल्प और उत्तरकल्प में भी जगत् को बनाता है । उसके जानने की इच्छा से उस को जान कर हे संन्यासिन् ! तू पुनः पुनः मृत्यु को प्राप्त मत हो, किन्तु मुक्ति के पूर्ण सुख को प्राप्त हो । इस लिये सब तपों का तप, सब से पृथक् उत्तम संन्यास को कहते हैं । हे परमेश्वर ! जो तू सब में वास करता हुआ विभु है, तू प्राण का प्राण सबका सन्धान करनेहारा, विश्व का स्रष्टा, धर्त्ता, सूर्यादि को तेजदाता है । तू ही अग्नि से तेजस्वी, तू ही विद्यादाता, तू ही सूर्य का कर्त्ता, तू ही चन्द्रमा के प्रकाश का प्रकाशक है । वह सब से बड़ा पूजनीय देव है । (ओम्) इस मन्त्र

एवं वेद ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमित्युपनिषत ॥ तैत्ति० प्रपा० १० । अनु० ६३ ॥

संन्यासी का कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् । मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ १ ॥ यजु० अ० ३६ । मं० १८ ॥

अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमऽउक्तिं विधेम ॥ २ ॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ॥ ३ ॥

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ४ ॥

यजु० अ० ४० । मं० १६, ६, ७ ॥

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च । उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥ ५ ॥

यजु० अ० ३२ । मं० ११ ॥

का मन से उच्चारण कर के परमात्मा में आत्मा को युक्त करे। जो इस विद्वानों की ग्राह्य महोत्तम विद्या को उक्त प्रकार से जानता है वह संन्यासी परमात्मा के महिमा को प्राप्त होकर आनन्द में रहता है।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥१६॥

ऋ० मं० १। सू० १६४। मं० ३९॥

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥१७॥

(कठवल्ली)

अर्थ—हे (दृते) सर्वदुःखविदारक परमात्मन् ! तू (मा) मुझ को संन्यास-मार्ग में (दृंह) बढ़ा। हे सर्वमित्र ! तू (मित्रस्य) सर्वसुहृद् आप्त पुरुष की (चक्षुषा) दृष्टि से (मा) मुझ को सब का मित्र बना। जिस से (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणिमात्र मुझ को मित्र की दृष्टि से (समीक्षन्ताम्) देखें और (अहम्) मैं (मित्रस्य) मित्र की (चक्षुषा) दृष्टि से (सर्वाणि भूतानि) सब जीवों को (समीक्षे) देखूं। इस प्रकार आप की कृपा और अपने पुरुषार्थ से हम लोग एक दूसरे को (मित्रस्य चक्षुषा) सुहृद्भाव की दृष्टि से (समीक्षामहे) देखते रहें ॥ १ ॥

हे (अग्ने) स्वप्रकाशस्वरूप सब दुःखों के दाहक (देव) सब सुखों के दाता परमेश्वर ! (विद्वान्) आप (राये) योग के विज्ञानरूप धन की प्राप्ति के लिये (सुपथा) वेदोक्त धर्ममार्ग से (अस्मान्) हम को (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) प्रज्ञान और उत्तम कर्मों को (नय) कृपा से प्राप्त कीजिये, और (अस्मत्) हम से (जुहुराणम्) कुटिल पक्षपातसहित (एनः) अपराध पापकर्म को (युयोधि) दूर रखिये और इस अधर्माचरण से हम को सदा दूर रखिये, इसी लिये (ते) आप ही की (भूयिष्ठाम्) बहुत प्रकार (नम उक्तिम्) नमस्कार पूर्वक प्रशंसा को नित्य (विधेम) किया करें ॥ २ ॥

(यः) जो संन्यासी (तु) पुनः (आत्मन्नेव) आत्मा में अर्थात् परमेश्वर ही में तथा अपने आत्मा के तुल्य (सर्वाणि भूतानि) सम्पूर्ण जीव और जगतस्थ पदार्थों को (अनुपश्यति) अनुकूलता से देखता है, (च) और (सर्वभूतेषु) सम्पूर्ण प्राणी अप्राणियों में (आत्मानम्) परमात्मा को देखता है, (ततः) इस कारण वह किसी व्यवहार में (न विचिकित्सति) संशय को प्राप्त नहीं होता अर्थात्

परमेश्वर को सर्बव्यापक सर्वान्तर्यामी सबंसाक्षी जान के अपने आत्मा के तुल्य सब प्राणीमात्र को हानि लाभ सुख दुःखादि व्यवस्था में देखे, वही उत्तम संन्यासधर्म को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

(विजानतः) विज्ञानयुक्त संन्यासी का (यस्मिन्) जिस पक्षपातरहित धर्मयुक्त संन्यास में (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणिमात्र (आत्मैव) आत्मा ही के तुल्य जानना अर्थात् जैसा अपना आत्मा अपने को प्रिय है उसी प्रकार का निश्चय (अभूत्) होता है, (तत्र) उस संन्यासाश्रम में (एकत्वमनुपश्यतः) आत्मा के एक भाव को देखने वाले संन्यासी को (को मोहः) कौन सा मोह और (कः शोकः) कौन सा शोक होता है अर्थात् न उस को किसी से कभी मोह और न शोक होता है, इस लिये संन्यासी मोह शोकादि दोषों से रहित होकर सदा सब का उपकार करता रहे ॥ ४ ॥

इस प्रकार परमात्मा की स्तुति प्रार्थना और धर्म में दृढ़ निष्ठा करके जो (भूतानि) सम्पूर्ण पृथिव्यादि भूतों में (परीत्य) व्याप्त, (लोकान्) सम्पूर्ण लोकों में (परीत्य) पूर्ण हो, और (सर्वाः) सब (प्रदिशो दिशश्च) दिशा और उपदिशाओं में (परीत्य) व्यापक होके स्थित है (ऋतस्य) सत्य कारण के योग से (प्रथमजाम्) सब महत्तत्त्वादि सृष्टि को धारण करके पालन कर रहा है, उस (आत्मानम्) परमात्मा को संन्यासी (आत्मना) स्वात्मा से (उपस्थाय) समीप स्थित होकर उस में (अभिसंविवेश) प्रतिदिन समाधियोग से प्रवेश किया करे ॥ ५ ॥

हे संन्यासी लोगो ! (यस्मिन्) जिस (परमे) सर्वोत्तम (व्योमन्) आकाशवत् व्यापक (अक्षरे) नाशरहित परमात्मा में (ऋचः) ऋग्वेदादि वेद और (विश्वे) सब (देवाः) पृथिव्यादि लोक और समस्त विद्वान् (अधिनिषेदुः) स्थित हुए और होते हैं, (यः) जो जन (तत्) उस व्यापक परमात्मा को (न वेद) नहीं जानता वह (ऋचा) वेदादि शास्त्र पढ़ने से (किं करिष्यति) क्या सुख वा लाभ कर लेगा, अर्थात् विद्या के विना परमेश्वर का ज्ञान कभी नहीं होता, और विद्या पढ़के भी जो परमेश्वर को नहीं जानता और न उसकी आज्ञा में चलता है वह मनुष्य शरीर धारण करके निष्फल चला जाता है, और (ये) जो विद्वान् लोग (तत्)

उस ब्रह्म को (विदुः) जानते हैं (ते इमे इत्) वे ये ही उस परमात्मा में (समासते) अच्छे प्रकार समाधियोग से स्थिर होते हैं ॥ ६ ॥

समाधिनिर्धूतमलस्य) समाधियोग से निर्मल (चेतसः) चित्त के सम्बन्ध से (आत्मनि) परमात्मा में (निवेशितस्य) निश्चल प्रवेश कराये हुए जीव को (यत्) जो (सुखम्) सुख (भवेत्) होवे वह (गिरा) वाणी से (वर्णयितुम्) (न शक्यते) कहा नहीं जा सकता क्योंकि (तदा) तब वह समाधि में स्वयं स्थित जीवात्मा (तत्) उस ब्रह्म को (अन्तःकरणेन) शुद्ध अन्तःकरण से (गृह्यते) ग्रहण करता है, वह वर्णन करने में पूर्ण रीति से कभी नहीं आ सकता। इस लिये संन्यासी लोग परमात्मा में स्थित रहें और उसकी आज्ञा अर्थात् पक्षपातरहित न्याय धर्म में स्थित होकर सत्योपदेश सत्यविद्या के प्रचार से सब मनुष्यों को सुख पहुँचाता रहे ॥ ७ ॥

संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ १ ॥
यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥ २ ॥

अर्थ—संन्यासी जगत् के सम्मान से विष के तुल्य डरता रहे और अमृत के समान अपमान की चाहना करता रहे, क्योंकि जो अपमान से डरता और मान की इच्छा करता है वह प्रशंसक होकर मिथ्यावादी और पतित हो जाता हैं इस लिए चाहे निन्दा, चाहे प्रशंसा, चाहे मान्य, चाहे अपमान, चाहे जीना, चाहे मृत्यु, चाहे हानि, चाहे लाभ हो, चाहे कोई प्रीति करे, चाहे वैर बाँधे, चाहे अन्न पान वस्त्र उत्तम स्थान न मिले वा मिले, चाहे शीत उष्ण कितना ही क्यों न हो इत्यादि सब का सहन करे और अधर्म का खण्डन तथा धर्म का मण्डन सदा करता रहे, इस से परे उत्तम धर्म दूसरे किसी को मत माने।

परमेश्वर से भिन्न किसी की उपासना न करे, न वेदविरुद्ध कुछ माने, परमेश्वर के स्थान में सूक्ष्म वा स्थूल तथा जड़ और जीव को भी कभी न माने, आप सदा परमेश्वर को अपना स्वामी माने और आप सेवक बना रहे, वैसा ही उपदेश अन्य को भी किया करे। जिस-जिस कर्म से गृहस्थों की उन्नति हो वा

माता-पिता, पुत्र, स्त्री, पति, बन्धु, बहिन, मित्र, पाड़ोसी, नौकर बड़े और छोटों में विरोध छूट कर प्रेम बढ़े उस उस का उपदेश करे।

जो वेद से विरुद्ध मतमतान्तर के ग्रन्थ बायबिल, कुरान, पुराण मिथ्याभिलाप तथा काव्यालङ्कार कि जिन के पढ़ने सुनने से मनुष्य विषयी और पतित हो जाते हैं, उन सब का निषेध करता रहे। विद्वानों और परमेश्वर से भिन्न न किसी को देव तथा विद्या, योगाभ्यास, सत्संग और सत्यभाषणादि से भिन्न न किसी को तीर्थ और विद्वानों की मूर्तियों से भिन्न पाषाणादि मूर्त्तियों को न माने न मनवावे। वैसे ही गृहस्थों को माता, पिता, आचार्य, अतिथि, स्त्री के लिये विवाहित पुरुष और पुरुष के लिये विवाहित स्त्री की मूर्ति से भिन्न किसी की मूर्ति को पूज्य न समझावे, किन्तु वैदिकमत की उन्नति और वेदविरुद्ध पाखण्ड मतों के खण्डन करने में सदा तत्पर रहे।

वेदादि शास्त्रों में श्रद्धा और तद्विरुद्ध ग्रन्थों वा मतों में अश्रद्धा किया कराया करे। आप शुभ गुण कर्म स्वभावयुक्त होकर सब को इसी प्रकार के करने में प्रयत्न किया करे, और जो पूर्वोक्त उपदेश लिखे हैं उन-उन अपने संन्यासाश्रम के कर्त्तव्य कर्मों को किया करे। खण्डनीय कर्मों का खण्डन करना कभी न छोड़े। आसुर अर्थात् अपने को ईश्वर ब्रह्म मानने वालों का भी यथावत् खण्डन करता रहे। परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव और न्याय आदि गुणों का प्रकाश करता रहे। इस प्रकार कर्म करता हुआ स्वयं आनन्द में रह कर सब को आनन्द में रक्खे।

सर्वदा (अहिंसा) निर्वैरिता, (सत्यम्) सत्य बोलना, सत्य मानना, सत्य करना, (अस्तेयम्) मन, कर्म, वचन से अन्याय कर के परपदार्थ का ग्रहण न करना चाहिये, न किसी को करने का उपदेश करे, (ब्रह्मचर्यम्) सदा जितेन्द्रिय होकर अष्टविध मैथुन का त्याग रख के वीर्य की रक्षा और उन्नति कर के चिरञ्जीवी होकर सबका उपकार करता रहे, (अपरिग्रहः) अभिमानादि दोषरहित किसी संसार के धनादि पदार्थों में मोहित होकर कभी न फंसे। इन ५ पाँच यमों का सेवन सदा किया करे। और इन के साथ ५ पाँच नियम अर्थात् (शौच) बाहर भीतर से पवित्र रहना, (सन्तोष) पुरुषार्थ करते जाना और हानि लाभ में प्रसन्न और अप्रसन्न न होना, (तपः) सदा पक्षपातरहित न्यायरूप

धर्म का सेवन प्राणायामादि योगाभ्यास करना, (स्वाध्याय) सदा प्रणव का जप अर्थात् मन में चिन्तन और उस के अर्थ ईश्वर का विचार करते रहना, (ईश्वरप्रणिधान) अर्थात् अपने आत्मा को वेदोक्त परमेश्वर की आज्ञा में समर्पित कर के परमानन्द परमेश्वर के सुख को जीता हुआ भोगकर शरीर छोड़ के सर्वानन्दयुक्त मोक्ष को प्राप्त होना संन्यासियों के मुख्य कर्म हैं।

हे जगदीश्वर सर्वशक्तिमन् सर्वान्तर्यामिन् दयालो न्यायकारिन् सच्चिदानन्दानन्त नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव अजर अमर पवित्र परमात्मन्! आप अपनी कृपा से संन्यासियों को पूर्वोक्त कर्मों में प्रवृत्त रख के परममुक्ति सुख को प्राप्त कराते रहिये।

॥ इति संन्याससंस्कारविधिः समाप्तः ॥

अथान्त्येष्टिकर्मविधिं वक्ष्यामः

अन्त्येष्टि कर्म उसको कहते हैं कि जो शरीर के अन्त का संस्कार है, जिस के आगे उस शरीर के लिये कोई भी अन्य सस्कार नहीं है इसी को नरमेध, पुरुषमेध, नरयाग, पुरुषयाग भी कहते हैं।

भस्मान्तꣳ शरीरम् ॥ यजु० अ० ४० मं० १५ ॥

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ॥ मनु०

इस शरीर का संस्कार (भस्मान्तम्) अर्थात् भस्म करने पर्यन्त है ॥ १ ॥ शरीर का आरम्भ ऋतुदान और अन्त में श्मशान अर्थात् मृतक कर्म है ॥ २ ॥

(प्रश्न) जो गरुड़पुराणादि में दशगात्र, एकादशाह, द्वादशाह, सपिण्डीकर्म मासिक वार्षिक गयाश्राद्ध आदि क्रिया लिखी हैं, क्या ये सब असत्य हैं ?

(उत्तर) हाँ अवश्य मिथ्या हैं। क्योंकि वेदों में इन कर्मों का विधान नहीं है इस लिये अकर्त्तव्य हैं। और मृतक जीव का सम्बन्ध पूर्व सम्बन्धियों के साथ कुछ भी नहीं रहता और न इन जीते हुए सम्बन्धियों का, यह जीव अपने कर्म के अनुसार जन्म पाता है।

(प्रश्न) मरण पीछे जीव कहाँ जाता है ? (उत्तर) यमालय को।

(प्रश्न) यमालय किसको कहते हैं ? (उत्तर) वाय्वालय को।

(प्रश्न) वाय्वालय किसको कहते हैं ?

(उत्तर) अन्तरिक्ष को जो कि यह पोल है।

(प्रश्न) क्या गरुड़ पुराणादि में यमलोक लिखा है वह झूठा है ?

(उत्तर) अवश्य मिथ्या है।

(प्रश्न) पुनः संसार क्यों मानता है ?

(उत्तर) वेद के अज्ञान और उपदेश के न होने से। जो यम की कथा लिख रक्खी है वह सब मिथ्या है, क्योंकि यम इतने पदार्थों का नाम—

षळिद्यमा ऋषयो देवजा इति ॥१॥ ऋ० मं० १। सू० १६४। मं० १५॥

शकेम वाजिनो यमम् ॥ २ ॥ ऋ० मं० २। सू० ५। मं० १॥

यमाय जुहुता हविः। यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः ॥३॥
ऋ० मं० १०। सू० १४। मं० १३॥

यमः सूयमानो विष्णुः सम्भ्रियमाणो वायुः पूयमानः ॥ ४ ॥
यजु० अ० ८। मं० ५७॥

वाजिनं यमम् ॥ ५ ॥ ऋ० मं० ८। सू० २४। मं० २२॥

यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ ६ ॥ ऋ० मं० १। सू० १६४। मं० ४६॥

यहां ऋतुओं का यम नाम ॥ १ ॥ यहाँ परमेश्वर का नाम ॥ २ ॥ यहाँ अग्नि का नाम ॥ ३ ॥ यहाँ वायु, विद्युत, सूर्य के यम नाम हैं ॥ ४ ॥ यहां भी वेग वाला होने से वायु का नाम यम है ॥ ५ ॥ यहां परमेश्वर का नाम यम है ॥ ६ ॥

इत्यादि पदार्थों का नाम 'यम' है इस लिये पुराण आदि की सब कल्पना झूठी हैं।

विधि—संस्थिते भूमिभागं खानयेद्दक्षिणपूर्वस्यां दिशि दक्षिणापरस्यां वा ॥ १ ॥ दक्षिणाप्रवणं प्राग्दक्षिणाप्रवणं वा प्रत्यग्दक्षिणाप्रवणमित्येके ॥ २ ॥ यावानुद्बाहुकः पुरुषस्तावदायामम् ॥ ३ ॥ व्याममात्रं तिर्यक् ॥ ४ ॥ वितस्त्यर्वाक् ॥ ५ ॥ केशश्मश्रुलोमनखानीत्युक्तं पुरस्तात् ॥ ६ ॥ द्विगुल्फं बर्हिराज्यं च ॥ ७ ॥ दधन्यत्र सर्पिरानयन्त्येतत् पित्र्यं पृषदाज्यम् ॥ ८ ॥ अथैतां दिशमग्नीन्नयन्ति यज्ञपात्राणि च ॥ ९ ॥

जब कोई मर जावे तब यदि पुरुष हो तो पुरुष और स्त्री हो तो स्त्रियां उस

को स्नान करावें । चन्दनादि सुगन्धलेपन और नवीन वस्त्र धारण करावें । जितना उस के शरीर का भार हो उतना घृत, यदि अधिक सामर्थ्य हो तो अधिक लेवे, और जो महादरिद्र भिक्षुक हो कि जिसके पास कुछ भी नहीं है उसको कोई श्रीमान् व पंच बन के आध मन से कम घी न देवें । और श्रीमान् लोग शरीर के बराबर तोल के चन्दन, सेर भर घी में एक रत्ती कस्तूरी, एक मासा केसर, एक एक मन घी के साथ सेर-सेर भर अगर तगर और घृत में चन्दन का चूरा भी यथाशक्ति डाल, कपूर पलाश आदि के पूर्ण काष्ठ शरीर के भार से दूनी सामग्री श्मशान में पहुँचावें तत्पश्चात् मृतक को वहाँ श्मशान में ले जाय । यदि प्राचीन वेदी बनी हुई न हो तो नवीन वेदी भूमि में खोदे । वह श्मशान का स्थान बस्ती से दक्षिण तथा आग्नेय अथवा नैर्ऋत्य कोण में हो वहां भूमि को खोदे । मृतक के पग दक्षिण नैर्ऋत्य अथवा आग्नेय कोण में रहें शिर उत्तर ईशान वा वायव्य कोण में रहे ॥ १ ॥

मृतक के पग की ओर वेदी के तले में नीचा और शिर की ओर थोड़ा ऊँचा रहे ॥ २ ॥

उस वेदी का परिमाण, पुरुष खड़ा होकर ऊपर को हाथ उठावे उतनी लम्बी और दोनों हाथों को लम्बे उत्तर दक्षिण और पार्श्व में करने से जितना परिमाण हो, अर्थात् मृतक के साढ़े तीन हाथ अथवा तीन हाथ से ऊपर चौड़ी होवे और छाती के बराबर गहरी होवे ॥ ३ ॥

और नीचे आध हाथ अर्थात् बीता भर रहे ॥ ४ ॥

उस वेदी में थोड़ा-थोड़ा जल छिटकावे । यदि गोमय उपस्थित हो तो लेपन भी कर दे । उस में नीचे से आधी वेदी तक लकड़ियां चिने, जैसे कि भित्ती में इंटें चिनी जाती हैं, अर्थात् बराबर जमाकर लकड़ियां धरे, लकड़ियों के बीच में थोड़ा थोड़ा कपूर थोड़ी-थोड़ी दूर पर रक्खे । उस के ऊपर मध्य में मृतक को रक्खे अर्थात् चारों ओर वेदी बराबर खाली रहे, और पश्चात् चारों ओर और ऊपर चन्दन तथा पलाश आदि के काष्ठ बराबर चिने । वेदी से ऊपर एक बीता भर लकड़ियां चिने ।

जब तक यह क्रिया होवे तब तक अलग चूल्हा बना, अग्नि जला, घृत तपा और छान कर पात्रों में रक्खे, उस में कस्तूरी आदि सब पदार्थ मिलावे, लम्बी-लम्बी

लकड़ियों में चार चमसों को चाहे वे लकड़ी के हों वा चाँदी सोने के अथवा लोहे के हों, जिस चमसा में एक छटाँक भर से अधिक और आधी छटांक भर से न्यून घृत न आवे खूब दृढ़ बन्धनों से डंडों के साथ बांधे।

पश्चात् घृत का दीपक करके, कपूर में लगाकर शिर से आरम्भ कर पाद-पर्यन्त मध्य मध्य में अग्नि प्रवेश करावे। अग्नि प्रवेश कराके—

ओमग्नये स्वाहा ॥ १ ॥ ओं सोमाय स्वाहा ॥ २ ॥
ओं लोकाय स्वाहा ॥ ३ ॥ ओमनुमतये स्वाहा ॥ ४ ॥
ओं स्वर्गाय लोकाय स्वाहा ॥ ५ ॥

इन पांच मन्त्रों से आहुतियां देके अग्नि को प्रदीप्त होने देवे। तत्पश्चात् चार मनुष्य पृथक् पृथक् खड़े रह कर वेदों के मन्त्रों से आहुति देते जायँ, जहां 'स्वाहा' आवे वहां आहुति छोड़ दें—

अथ वेदमन्त्राः

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः स्वाहा ॥१॥
अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकं स्वाहा ॥२॥
अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः।
आयुर्वसान उप वेतु शेषः संगच्छतां तन्वा जातवेदः स्वाहा ॥३॥
अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सम्प्रोर्णुष्व पीवसा मेदसा च।
नेत्त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग्विधक्ष्यन्पर्यङ्खयाते स्वाहा ॥४॥
यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः।
कियाम्ब्वत्र रोहतु पाकदूर्वा व्यल्कशा स्वाहा ॥ ५ ॥

ऋ० मं० १० । सू० १६ । मं० ३, ४, ५, ७, १३ ॥

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम् ।
वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य स्वाहा ॥६॥
यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उं ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या३ अनुस्वाः स्वाहा ॥७॥
मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः ।
यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति स्वाहा ॥८॥
इमं यम प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः ।
आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन्हविषा मादयस्व स्वाहा ।९।
अङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व ।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन्यज्ञे बर्हिष्या निषद्य स्वाहा ॥१०॥
प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः ।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवं स्वाहा ।११।
सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन् ।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः स्वाहा ॥१२॥
अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन् ।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै स्वाहा ॥१३॥
यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः ।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः स्वाहा ॥ १४ ॥
यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत ।
स नो देवेष्वा यमद्दीर्घमायुः प्र जीवसे स्वाहा ॥ १५ ॥

यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन ।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः स्वाहा ॥ १६ ॥

ऋ० मं० १० । सू० १४ । मं० १-५, ७-६, १३-१५ ॥

कृष्णः श्वेतोऽरुषो यामो अस्य ब्रध्न ऋज्र उत शोणो यशस्वान् ।
हिरण्यरूपं जनिता जजान स्वाहा ॥ १७ ॥

ऋ० मं० १० । सू० २०१ मं० ६ ॥

इन ऋग्वेद के मन्त्रों से चारों जने सत्रह-सत्रह आज्याहुति देकर, निम्न-लिखित मन्त्रों से उसी प्रकार आहुति देवें—

प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः स्वाहा ॥ १ ॥
पृथिव्यै स्वाहा ॥२॥ अग्नये स्वाहा ॥ ३ ॥
अन्तरिक्षाय स्वाहा ॥ ४ ॥ वायवे स्वाहा ॥ ५ ॥
दिवे स्वाहा ॥ ६ ॥ सूर्याय स्वाहा ॥ ७ ॥
दिग्भ्यः स्वाहा ॥ ८ ॥ चन्द्राय स्वाहा ॥ ९ ॥
नक्षत्रेभ्यः स्वाहा ॥१०॥ अद्भ्यः स्वाहा ॥११॥
वरुणाय स्वाहा ॥१२॥ नाभ्यै स्वाहा ॥१३॥
पूताय स्वाहा ॥१४॥ वाचे स्वाहा ॥१५॥
प्राणाय स्वाहा ॥१६॥ प्राणाय स्वाहा ॥१७॥
चक्षुषे स्वाहा ॥१८॥ चक्षुषे स्वाहा ॥१९॥
श्रोत्राय स्वाहा ॥२०॥ श्रोत्राय स्वाहा ॥२१॥
लोमभ्यः स्वाहा ॥२२॥ लोमभ्यः स्वाहा ॥२३॥
त्वचे स्वाहा ॥२४॥ त्वचे स्वाहा ॥२५॥
लोहिताय स्वाहा ॥२६॥ लोहिताय स्वाहा ॥२७॥

मेदोभ्यः स्वाहा ॥२८॥ मेदोभ्यः स्वाहा ॥२९॥
माꣳसेभ्यः स्वाहा ॥३०॥ माꣳसेभ्यः स्वाहा ॥३१॥
स्नावभ्यः स्वाहा ॥३२॥ स्नावभ्यः स्वाहा ॥३३॥
अस्थभ्यः स्वाहा ॥३४॥ अस्थभ्यः स्वाहा ॥३५॥
मज्जभ्यः स्वाहा ॥३६॥ मज्जभ्यः स्वाहा ॥३७॥
रेतसे स्वाहा ॥३८॥ पायवे स्वाहा ॥३९॥
आयासाय स्वाहा ॥४०॥ प्रायासाय स्वाहा ॥४१॥
संयासाय स्वाहा ॥४२॥ वियासाय स्वाहा ॥४३॥
उद्यासाय स्वाहा ॥४४॥ शुचे स्वाहा ॥४५॥
शोचते स्वाहा ॥४६॥ शोचमानाय स्वाहा ॥४७॥
शोकाय स्वाहा ॥४८॥ तपसे स्वाहा ॥४९॥
तप्यते स्वाहा ॥५०॥ तप्यमानाय स्वाहा ॥५१॥
तप्ताय स्वाहा ॥५२॥ घर्माय स्वाहा ॥५३॥
निष्कृत्यै स्वाहा ॥५४॥ प्रायश्चित्यै स्वाहा ॥५५॥
भेषजाय स्वाहा ॥५६॥ यमाय स्वाहा ॥५७॥
अन्तकाय स्वाहा ॥५८॥ मृत्यवे स्वाहा ॥५९॥
ब्रह्मणे स्वाहा ॥६०॥ ब्रह्महत्यायै स्वाहा ॥६१॥
विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ६२ द्यावापृथिवीभ्याꣳ स्वाहा ।६३॥

यजु० अ० ३९।

इन ६३ तिरसठ मन्त्रों से तिरसठ आहुति पृथक् पृथक् देके, निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देवें—

सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः ।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः स्वाहा ॥१॥
सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते ।
येभ्यो मधु प्रधावति तांश्चिदेवापि गच्छतात् स्वाहा ॥ २ ॥
ये चित्पूर्व ऋतसाता ऋतजाता ऋतावृधः ।
ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् स्वाहा ॥ ३ ॥
तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः ।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् स्वाहा ॥ ४ ॥
ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् स्वाहा ॥ ५ ॥
स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी ।
यच्छास्मै शर्म सप्रथाः स्वाहा ॥ ६ ॥
अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तन्निर्वहत परि ग्रामादितः ।
मृत्युर्यमस्यासीद्दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयांचकार स्वाहा ॥७॥
यमः परोऽवरो विवस्वान ततः परं नाति पश्यामि किञ्चन ।
यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान स्वाहा ॥८॥
अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा सवर्णामदधुर्विवस्वते ।
उताश्विनावभरद् यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना संरण्यूः स्वाहा ॥९॥
इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे ।
ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात् स्वाहा ॥ १० ॥
अथर्व० कां० १८ । सू० २ ॥

इन दश मन्त्रों से दश आहुति देकर—

अग्नये रयिमते स्वाहा ॥ १ ॥

पुरुषस्य सयावर्यपेदघानि मृज्महे ।
यथा नो अत्र नापरः पुरा जरस आयति स्वाहा ॥ २ ॥

य एतस्य पथो गोप्तारस्तेभ्यः स्वाहा ॥ ३ ॥

य एतस्य पथो रक्षितारस्तेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥

य एतस्य पथोऽभिरक्षितारस्तेभ्यः स्वाहा ॥ ५ ॥ ख्यात्रे स्वाहा ॥ ६ ॥
अपाख्यात्रे स्वाहा ॥ ७ ॥ अभिलालपते स्वाहा ॥ ८ ॥
अपलालपते स्वाहा ॥ ९ ॥ अग्नये कर्मकृते स्वाहा ॥ १० ॥
यमत्र नाधीमस्तस्मै स्वाहा ॥ ११ ॥
अग्नये वैश्वानराय सुवर्गाय लोकाय स्वाहा ॥ १२ ॥
आयातु देवः सुमनाभिरूतिभिर्यमो ह वेह प्रयताभिरक्ता ।
आसीदताꣳ सुप्रयते ह बर्हिष्यूर्जाय जात्यै मम शत्रुहत्यै स्वाहा ॥१३॥
योऽस्य कौष्ठ्य जगतः पार्थिवस्यैक इद्वशी ।
यमं भङ्ग्यश्रवो गाय यो राजाऽनपरोध्यः स्वाहा ॥ १४ ॥
यमं गाय भङ्ग्यश्रवो यो राजाऽनपरोध्यः ।
येनाऽऽपो नद्यो धन्वानि येन द्यौः पृथिवी दृढा स्वाहा ॥ १५ ॥
हिरण्यकक्ष्यान्त्सुधुरान् हिरण्याक्षानयःशफान् ।
अश्वाननश्शतो दानं यमो राजाभितिष्ठति स्वाहा ॥ १६ ॥
यमो दाधार पृथिवीं यमो विश्वमिदं जगत् ।
यमाय सर्वमित्तस्थे यत् प्राणद्वायुरक्षितं स्वाहा ॥ १७ ॥
यथा पञ्च यथा षड् यथा पञ्चदशर्षयः ।
यमं यो विद्यात् स ब्रूयाद्यथैक ऋषिर्विजानते स्वाहा ॥ १८ ॥
त्रिकद्रुकेभिः पतति षडुर्वीरेकमिद् बृहत् ।
गायत्रीत्रिष्टुप्छन्दाꣳसि सर्वा ता यम आहिता स्वाहा ॥ १९ ॥

अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं जगत् ।
वैवस्वतो न तृप्यति पञ्चभिर्मानवैर्यमः स्वाहा ॥ २० ॥
वैवस्वते विविच्यन्ते यमे राजनि ते जनाः ।
ये चेह सत्येनेच्छन्ते य उ चानृतवादिनः स्वाहा ॥ २१ ॥
ते राजन्निह विविच्यन्तेऽथा यन्ति त्वामुप ।
देवांश्च ये नमस्यन्ति ब्राह्मणांश्चापचित्यति स्वाहा ॥ २२ ॥
यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः ।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणा अनुवेनति स्वाहा ॥ २३ ॥

उत्ते तभ्नोमि पृथिवीं त्वत्परीमं लोकं निदधन्मो अहꣳरिषम् । एताꣳ स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादनात्ते मिनोतु स्वाहा ॥ २४ ॥

यथाऽहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथर्त्तव ऋतुभिर्यन्ति क्लृप्ताः ।
यथा नः पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूꣳषि कल्पयैषां स्वाहा ॥ २५ ॥

नहि ते अग्ने तनु वै क्रूरं चकार मर्त्यः । कपिर्बभस्ति तेजनं पुनर्जरायुर्गौरिव । अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुध्या रयिम् । अप नः शोशुचदघं मृत्यवे स्वाहा ॥ २६ ॥ तैत्ति० प्रपा० ६ । अनु० १–१० ॥

इन छब्बीस आहुतियों को करके, ये सब (ओम् अग्नये स्वाहा) इस मन्त्र से लेके (मृत्यवे स्वाहा) तक १२१ एक सौ इक्कीस आहुति हुईं। अर्थात् ४ जनों की मिल के ४८४ चार सौ चौरासी, और जो दो जने आहुति देवें तो २४२ दो सौ बयालीस, यदि घृत विशेष हो तो पुनः इन्हीं एक सौ इक्कीस मन्त्रों से आहुति देते जायं यावत् शरीर भस्म न हो जाय तावत् देवें।

जब शरीर भस्म हो जावे पुनः सब जने वस्त्र प्रक्षालन स्नान करके जिस घर में मृत्यु हुआ हो उस घर की मार्जन, लेपन, प्रक्षालनादि से शुद्धि कर के, पृष्ठ ८–१४ में लिखे प्रमाणे स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण का पाठ और पृष्ठ ५–७ में लि० ईश्वरोपासना करके, इन्हीं स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण के मन्त्रों से जहां अङ्क अर्थात् मन्त्र पूरा हो वहां 'स्वाहा' शब्द का उच्चारण करके,

सुगन्ध्यादि मिले हुए घृत की आहुति घर में देवें कि जिस से मृतक का वायु घर से निकल जाय और शुद्ध वायु घर में प्रवेश करे और सब का चित्त प्रसन्न रहै। यदि उस दिन रात्रि हो जाय तो थोड़ी सी देकर दूसरे दिन प्रातःकाल उसी प्रकार स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण के मन्त्रों से आहुति देवें।

तत्पश्चात् जब तीसरा दिन हो, तब मृतक का कोई सम्बन्धी श्मशान में जाकर, चिता से अस्थि उठा के, उस श्मशानभूमि में कहीं पृथक् रख देवे। बस इस के आगे मृतक के लिये कुछ भी कर्म कर्त्तव्य नहीं है, क्योंकि पूर्व 'भस्मान्तꣳशरीरम्' यजुर्वेद के मन्त्र के प्रमाण से स्पष्ट हो चुका है कि दाहकर्म और अस्थिसंचन से पृथक् मृतक के लिये दूसरा कोई कर्म कर्त्तव्य नहीं है। हां यदि वह सम्पन्न हो तो अपने जीते जी वा मरे पीछे उन के सम्बन्धी वेदविद्या वेदोक्तधर्म का प्रचार, अनाथपालन, वेदोक्त धर्मोपदेश की प्रवृत्ति के लिए चाहे जितना धन प्रदान करें, बहुत अच्छी बात है।

इति मृतकसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीयुतविरजानन्द-
सरस्वतीस्वामिनां महाविदुषां शिष्यस्य वेदविहिताचार-
धर्मनिरूपकस्य श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनः
कृतौ संस्कारविधिर्ग्रन्थः पूर्त्तिमगात् ॥

विधुयुगनवचन्द्रे वत्सरे विक्रमस्या-
सितदलबुधयुक्तानङ्गतिथ्यामिषस्य ।
निगमपथशरण्ये भूय एवात्र यन्त्रे-
विधिविहितकृतीनां पद्धतिर्मुद्रिताभूत् ॥ १ ॥

❀ ओ३म् ❀

आर्य्य-समाज के नियम

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र, और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार, अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिये।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्त्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट न रहना चाहिये, किं सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये, और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें॥

ओ३म्

आर्याभिविनयः

प्राकृतभाषानुवादसहितः

श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना निर्मितः

।। सर्वलोकहिताय ।।

स च—

अन्वय-पदार्थ-प्रदोपटीकोपेतः

टीकाकारौ :—

श्रीयुतपण्डितसुदर्शनदेवाचार्यः
श्रीयुतपण्डितराजवीराचार्यश्च

प्रकाशक :—

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

४५५ खारी बावली दिल्ली-६

१९६०८५३०७९ सृष्टि-संवत्

पूर्व प्रकाशित	११००	२०३५ वि०	अजिल्द ४-००
तृतीय संस्करण	३३००	१९७९ ई०	सजिल्द ४-५०
योग	४४००	१५४ दयानन्दाब्द	

मुद्रक- रविन्द्रा आफसैट प्रैस दिल्ली

आर्याभिविनय के प्रस्तुत संस्करण की प्रमुख विशेषताएँ

१. परोपकारिणी-सभा के प्रामाणिक तथा प्राचीनतम संस्करणों से पाठ मिलाने के कारण शुद्ध तथा प्रामाणिक संस्करण ।

२. उपासकों एवं स्वाध्यायशील पुरुषों को मन्त्रार्थ हृदयंगम कराने के लिए महर्षि-व्याख्यानुसार 'पदार्थ-प्रदीप' टीका सहित होने से अपूर्व संस्करण।

३. समस्त वेद-मन्त्रों का सस्वर तथा शुद्ध प्रकाशन ।

४. समस्त वेद-मन्त्रों का महर्षि के भाष्य से और महर्षि की व्याख्या के अनुसार अन्वय-सहित प्रकाशन ।

५. प्रकाशकों के कल्पित संसोधनों से रहित होने से मन्त्रार्थद्रष्टा महर्षि-व्याख्यात अर्थों का ही प्रकाशन ।

६. मैपलीथो के चिकने सफेद उत्तम कागज पर मोटे टाईप में सुन्दर प्रकाशन ।

७. कागज की महंगाई होने पर भी लागतमात्र से भी कम मूल्य होने से पाठकों को सुलभ ।

प्रकाशकीय

ईश्वर के साक्षात्-द्रष्टा महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद और यजुर्वेद इन दो वेदों से ईश्वर-भक्ति विषयक मन्त्रों को चुनकर इस ग्रन्थ में उनकी अनुपम व्याख्या लिखी है। जो पाठक साधारण शिक्षित हैं, वे इस ग्रन्थ को पढ़ते समय यह जानना चाहते हैं कि महर्षि ने मन्त्र के प्रत्येक पद का क्या अर्थ किया है ? किन्तु संस्कृत और हिन्दी भाषा का साधारण ज्ञान रखने वाले पाठकों को मन्त्र के प्रत्येक पद का अर्थ महर्षिकृत मन्त्र-व्याख्यान से समझ में नहीं आता। विद्वानों को भी अनेक-स्थलों पर महर्षि-कृत व्याख्यान से मन्त्र के प्रत्येक पदार्थ को पकड़ने में कठिनाई अनुभव होती है। कारण यह है कि महर्षि ने वेदभाष्य की भाँति प्रत्येक पद का निर्देश करके उसका अर्थ इस ग्रन्थ में नहीं दर्शाया है। जिस पद को उन्होंने मन्त्र-व्याख्यान में लिखना उचित समझा उसका उल्लेख कर दिया और शेष को भाषा में लिख दिया। इतना होने पर भी मन्त्र के प्रत्येक पद का अर्थ महर्षि के मन्त्र-व्याख्यान में निहित है।

आजकल स्वाध्यायशील आर्य लोग ईश्वर-भक्ति विषयक उन्हीं ग्रन्थों का स्वाध्याय करते हैं, जिनमें मन्त्र के प्रत्येक पद का अर्थ भी दिखाया गया हो। प्राय: पाठक इस ग्रन्थ में यह बात न होने से इस आर्ष ग्रन्थ की उपेक्षा करके आर्य-विद्वानों के किये अनार्ष मन्त्रार्थों का स्वाध्याय करते हैं। ये अनार्ष मन्त्रार्थ संदिग्ध ही होते हैं क्योंकि ऋषियों का किया वेदार्थ (मन्त्रार्थ) ही सन्देह-रहित और प्रामाणिक होता है। आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट का मुख्य उद्देश्य आर्ष साहित्य का प्रचार एवं प्रसार है। इसी उद्देश्य से ट्रस्ट ने अपूर्व भक्ति से पूर्ण इस आर्ष ग्रन्थ का प्रकाशन किया है। स्वाध्यायशील पाठकों की उक्त कठिनाई को भी सरल कर दिया है। इस संस्करण में मन्त्र के प्रत्येक

पदार्थंत था अन्वय को महर्षिकृत व्याख्यान से ही चुनकर पाठकों की सुविधा के लिये पृथक् सन्दर्भ में छाप दिया है।

विरजानन्द वैदिक संस्थान गाजियाबाद (मेरठ) से भी इस ग्रन्थ का एक संस्करण प्रकाशित हुआ है, जिस में पाठकों की पदार्थ-सम्बन्धी इस कठिनाई को दूर करने का प्रयास किया गया है किन्तु हमारे और उनके दृष्टिकोण में महान् अन्तर यह है कि उन्होंने आर्ष-अनार्ष मन्त्रार्थ में कुछ भी भेद नहीं समझा है। उन्होंने अन्य-अन्य आर्य-विद्वानों द्वारा किये उन-उन मन्त्रों के पदार्थ इस ग्रन्थ में दे दिये हैं। बहुत से स्थलों पर वे पदार्थ महर्षिकृत मन्त्र-व्याख्यान से मेल ही नहीं खाते हैं। मन्त्र का व्याख्यान महर्षि का और पदार्थ किसी आर्य-विद्वान् का, ऐसा करना सर्वथा असङ्गत है, और इससे अनार्ष मन्त्रार्थ का प्रचार और आर्ष-मन्त्रार्थ का तिरस्कार होता है। हमने आर्ष मन्त्रार्थ के प्रचार एवं सत्कार में महर्षिकृत व्याख्यान से ही पदार्थ तथा अन्वय को चुनकर आर्ष-पदार्थ पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया है।

श्री पण्डित सुदर्शनदेव आचार्य ने बहुत पुरुषार्थ और योग्यता से इस ग्रन्थ के 'पदार्थ-प्रदीप' को तैयार किया है तथा श्री राजवीर शास्त्री ने प्रत्येक मन्त्र का अन्वय महर्षि की व्याख्यानुसार किया है, जिसके लिये हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।

इस ग्रन्थ की विशेषता का अनुभव करते हुए प्रचार की दृष्टि से इसका मूल्य लागत मात्र से भी न्यून रखा है। आशा है आर्य सज्जन महर्षि के इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का अधिकाधिक प्रचार करके आर्ष ग्रन्थों का मान बढ़ायेंगे।

फाल्गुन कृष्णा द्वादशी
सं० २०३५ वि०
सन् २३-२-१९७९ ई०

ऋषिचरणों का अनुचर—
दीपचन्द आर्य
प्रधान—आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट
कमलानगर (दिल्ली-७)

प्राक्कथन

[लेखकः—सुदर्शनदेव आचार्य, एम० ए०]

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इस 'आर्याभिविनय' ग्रन्थ की रचना किस लिये की ? इस प्रश्न के उत्तर में वे स्वयं उपक्रमणिका में लिखते हैं—"इस ग्रन्थ से तो केवल मनुष्यों को ईश्वर का स्वरूप-ज्ञान और भक्ति, धर्मनिष्ठा, व्यवहारशुद्धि इत्यादि प्रयोजन सिद्ध होंगे"। महर्षि का यह लेख हमें बतला रहा है कि उन्होंने आर्याभिविनय ग्रन्थ इसलिये लिखा है कि जिससे आर्य लोगों को ईश्वर के सच्चे स्वरूप का ज्ञान हो, स्वरूप-ज्ञान से ईश्वर के प्रति अगाध भक्तिभाव बढ़े, ईश्वर की भक्ति से धर्म में श्रद्धा एवं दृढ़-विश्वास बद्धमूल हो जाये, धर्माचरण से लौकिक-व्यवहार भी सर्वथा विशुद्ध एवं निर्मल हो जाये। इन सबका मूल ईश्वर का स्वरूप-ज्ञान है। इस आर्याभिविनय में ईश्वर के स्वरूप ज्ञान का विस्तृत वर्णन महर्षि ने वेदमन्त्रों के अधार पर बड़ी सरल भाषा में किया है।

महर्षि इसी ग्रन्थ की उपक्रमणिका में लिखते हैं कि जो लोग ईश्वर को पहचान लेते हैं वे बड़े भाग्यशाली हैं और वे सब-दुखों से छूट जाते हैं और जो ईश्वर को नहीं जानते वे सदा दुःख-सागर में पड़े रहते हैं। महर्षि के अपने शब्द इस प्रकार हैं—"जो नर इस संसार में अत्यन्त प्रेम, धर्मात्मता, विद्या, सत्सङ्ग, सुविचारता, निर्वैरता, जितेन्द्रियता, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परमात्मा का स्वीकार (आश्रय) करता है वही जन अतीव भाग्यशाली है, क्योंकि वह मनुष्य यथार्थ सत्य विद्या से सम्पूर्ण दुःखों से छूट के परमानन्द में परमात्मा की

प्राप्ति रूप जो मोक्ष है उसको प्राप्त होता है, और दुःख-सागर से छूट जाता है"।

महर्षि ने परमात्मा की प्राप्ति अर्थात् मोक्ष के लिए आठ बातों का वर्णन किया है—१. अत्यन्त प्रेम—संसार के जितने भी प्राणी हैं उन सब से अत्यन्त प्रेमभाव रखे, सबके कल्याण एवं उपकार की कामना करे। २. धर्मात्मता—अपनी आत्मा को सदा धर्म की ओर लगाये रखे, अधर्म की ओर न जाने दे। ३. विद्या—यथार्थ विद्या के लिये वेदादि-शास्त्रों का अध्ययन करे, विद्या और अविद्या के स्वरूप को पहचानें। विद्या अर्थात् चेतन जगत् अविद्या अर्थात् जड़ जगत् को समझे। विद्या और अविद्या को अच्छे प्रकार जानने के लिये सत्यार्थप्रकाश का नवम--समुल्लास तथा महर्षिकृत यजुर्वेदभाष्य का ४०वाँ अध्याय पाठक मननपूर्वक अध्ययन करें तथा महर्षिकृत इस आर्याभिविनय ग्रन्थ का वार-वार पारायण करें। ४. सत्सङ्ग—वेद के विद्वान् ईश्वरभक्त महा-पुरुषों के सङ्ग में रहें, उनसे प्रश्न-उत्तर करके शंकाओं का समाधान करें, कुसङ्ग से सदा दूर रहें। ५. सुविचारता—मन में सदा अच्छे विचार रखें, इसके लिये ऋषिकृत ग्रन्थों का अध्ययन करते रहें। आर्ष ग्रन्थों के अध्ययन से विचारों में उत्तमता एवं निर्मलता बढ़ती है, विचारों को दूषित करने वाली पुस्तकों को न पढ़ें। ६. निर्वैरता—किसी से वैर-भाव न रखें, अहिंसा को प्रतिष्ठित करें। ७. जितेन्द्रियता पांच ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेन्द्रियों तथा ग्यारहवें मन को भी अपने वश में रखें, इन्द्रियों के दास न बनें, इनके स्वामी बनकर रहें। ८. प्रत्यक्षादि प्रमाण—ईश्वर को जानने के लिये प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का समझना आवश्यक है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव ये प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण हैं। ये आठ प्रमाण सत्यासत्य की परीक्षा के लिये कसौटी हैं। इनकी विशेष व्याख्या महर्षिकृत सत्यार्थप्रकाश के तृतीयसमुल्लास में देख लें।

जो लोग ईश्वर-भक्ति से रहित हैं, वे सदा दुःखसागर में पड़े रहते हैं। महर्षि इसी ग्रन्थ की उपक्रमणिका में लिखते हैं—"जो विषय-लम्पट, विचार-रहित, विद्या-धर्म-जितेन्द्रियता-सत्सङ्ग-रहित, छल-कपट-अभिमान-दुराग्रहादि दुष्टता-युक्त है सो वह मोक्ष-सुख को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वह ईश्वरभक्ति से विमुख है, इसलिये जन्म, मरण, ज्वरादि पीडारूपों से पीड़ित होके सदा दुःख-सागर में ही पड़ा रहता है।"

महर्षि के इस लेख से स्पष्ट हो रहा है कि उन्होंने ईश्वर-भक्ति से विमुख लोगों को ईश्वराभिमुख करने के लिये एवं ईश्वराभिमुख लोगों को मोक्ष-प्राप्ति कराने के लिये यह आर्याभिविनय ग्रन्थ रचा है। यही तात्पर्य ग्रन्थ के नाम से भी स्पष्ट है। अभि+वि+नयः=अभिविनयः। अभि=आर्यों को ईश्वराभिमुख करके, वि=विशेष परमात्मा एवं मोक्ष की नयः=प्राप्ति कराना ॥

पदार्थ-प्रदीप-टीका—महर्षि ने जिन ऊँची भावनाओं को लेकर इस ग्रन्थ की रचना की है, उन्हीं भावनाओं से बहुत से आर्य-भाई इस ग्रन्थ की स्वाध्याय करते हैं। बहुत से आर्य-बन्धु इसका दैनिक-पाठ भी करते हैं। आर्याभिविनय के पाठक जहाँ श्रद्धा भक्ति से वेदमन्त्रों का पाठ करते हैं एवं महर्षि के व्याख्यान को भी प्रेम से पढ़ते हैं वहाँ मन्त्र के प्रत्येक पद का अर्थ भी समझना चाहते हैं। महर्षि ने अपने व्याख्यान में बहुत से मन्त्र-पद तो दे दिये हैं, कुछ एक नहीं भी दिये हैं। विद्वान् लोग तो प्रायः उनको समझ लेते हैं और कहीं-कहीं तो विद्वानों को भी कठिनाई होती है, साधारण स्वाध्यायशील आर्यों को तो कठिनाई है ही। इस कठिनाई को दूर करने के लिये 'पदार्थप्रदीपटीका' सहित यह आर्याभिविनय ग्रन्थ पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया गया है।

इस 'पदार्थ-प्रदीप-टीका' में प्रत्येक पद का अर्थ महर्षि के किये मन्त्र-व्याख्यान से ही लिया गया है। अपना अर्थ नहीं दिया है।

साथ ही मन्त्रों का अन्वय भी दिया गया है। मन्त्रों का अन्वय भी महर्षि दयानन्द के भाष्य से ही संगृहीत किया गया है। जिन मन्त्रों पर महर्षि का भाष्य नहीं है, उनका अन्वय महर्षि के इस ग्रन्थ की व्याख्या के अनुसार लिखा है। अन्वय तथा पदार्थ दोनों से महर्षि के व्याख्यान को पाठक लोग भली-भाँति समझ सकेंगे और मन्त्र के अर्थ को भी अधिक हृदयङ्गम कर सकेंगे।

महर्षि-मन्त्रार्थ महिमा—पाठकों को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि क्या हम यह वेदार्थ एवं मन्त्रार्थ किसी मनुष्य का किया पढ़ रहे हैं अथवा किसी ऋषि का किया हुआ ? मनुष्यकृत वेदार्थ को सन्देह की दृष्टि से और ऋषिकृत वेदार्थ को श्रद्धा की दृष्टि से पढ़ा करें। क्योंकि मनुष्यकृत वेदार्थ में त्रुटि एवं दोषों की सम्भावना बनी रहती है जबकि ऋषिकृत वेदार्थ सर्वथा दोष-रहित होता है। स्वयं महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी प्राचीन महर्षियों के किये वेदार्थ का बड़ा सम्मान किया है और उन्हीं को पढ़ने-पढ़ाने के लिये उपदेश किया है। महर्षि निरुक्त का प्रमाण देते हुए लिखते हैं—

"इन मन्त्रों के अर्थ का प्रत्यक्ष वे लोग कभी नहीं कर सकते, जो ऋषि नहीं और तपस्वी नहीं अर्थात् जिनका अन्तःकरण अशुद्ध है तथा जो अविद्वान् हैं।......वेदार्थज्ञ मनुष्यों में भी अधिक विद्यावान् मनुष्य ही प्रशस्त होता है और वही वेदाविरोधी सुतर्क के द्वारा ही मन्त्रों का उपयुक्त अर्थ कर सकता है।...... यदि कोई पूर्ण विद्वान् मनुष्य वेदार्थ का प्रकाश करता है तो वही ऋषि-प्रोक्त व्याख्यान समझना चाहिये और जो अल्पबुद्धि पुरुष करता है वह अनार्ष होता है। उसका किसी को आदर नहीं करना चाहिये क्योंकि वह अनर्थ-युक्त है। उसका आदर करने से मनुष्यों को भी अनर्थापत्ति होगी"।

(ऋग्वेदादि० वेदविषय०)।

महर्षि के वेदार्थविषयक महत्त्वपूर्ण लेख से स्पष्ट है कि मन्त्रार्थ

करने का अधिकार तपस्वी, शुद्ध अन्त:करण वाले पूर्ण-विद्वान् महर्षियों को ही है। तपस्या से रहित, मलिन अन्तःकरण वाले, अल्पविद्या वाले पक्षपाती मनुष्य वेदार्थ करने का अधिकार नहीं रखते। उनके किये मन्त्रार्थ दोष-रहित न होने से जनता के लिये अनर्थ का कारण बनते हैं। अतः महर्षि ने चेतावनी दी है कि इस प्रकार के अनार्ष मन्त्रार्थों का कदापि सत्कार न करें अपितु महर्षियों के किये मन्त्र-व्याख्यानों का श्रद्धापूर्वक अध्ययन करें। वेदार्थ करने के लिए कितनी विद्या आवश्यक है, इसका उल्लेख महर्षि ने (ऋग्वेदादि० पठन-पाठन विषय में) इस प्रकार किया है—"मनुष्य लोग वेदार्थ जानने के लिये अर्थ-योजना सहित 'व्याकरण-अष्टाध्यायी, धातुपाठ, उणादिगण, गणपाठ और महाभाष्य' शिक्षा, कल्प, निघण्टु, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः वेदों के अङ्ग, मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त ये छः शास्त्र जो वेदों के उपाङ्ग अर्थात् जिनसे वेदार्थ ठीक-ठीक जाना जाता है तथा 'ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ये चार ब्राह्मण' इन सब ग्रन्थों को क्रम से पढ़ के अथवा जिन्होंने इन सम्पूर्ण ग्रन्थों को पढ़ के जो सत्य-सत्य वेद-व्याख्यान किये हों उनको देख के वेद का अर्थ यथावत् जान लेवें"। अतः सबको ऋषि व्याख्या का ही अध्ययन करना चाहिए।

एक तुलना—ऋषिकृत मन्त्रार्थ और मनुष्यकृत मन्त्रार्थ की क्या तुलना की जा सकती है। किन्तु पाठकों के परिचय के लिये कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं। विरजानन्द वैदिक संस्थान से प्रकाशित आर्याभिविनय में महर्षि का शब्दार्थ न देकर, अपना शब्दार्थ दिया है। अब उक्त संस्थान के शब्दार्थ और महर्षि के शब्दार्थ को बुद्धि की तुला पर तोलकर देखिये—

भद्रम् ॥ प्रथम प्रकाश के छठे मन्त्र में संस्थान के शब्दार्थ में 'भद्रम्' पद का अर्थ 'भलाई' किया है, जबकि महर्षि ने 'व्यावहारिक

और पारमार्थिक सुख' अर्थ किया है। 'भद्रम्' पद 'भदि कल्याणे सुखे च' धातु से बनता है। महर्षि ने धातु के अर्थ के अनुसार कल्याण= व्यावहारिक सुख एवं पारमार्थिक सुख अर्थ सर्वथा सुसंगत किया है। संस्थान का किया अर्थ गोल है।

रन्धय (१।१४)।। संस्थान ने रन्धय पद का अर्थ किया है—सीधा करो। महर्षि का अर्थ है—रन्धय=समूलान् विनाशय, मूल सहित नष्ट कर दीजिये। यह पद 'रध हिंसासंराध्योः' से बना है अतः महर्षि का अर्थ शुद्ध है। दोनों अर्थों में दिन-रात का भेद है।

सजोषाः (१।१८)।। इस पद का संस्थान ने 'भगवान्' अर्थ किया है जो निराधार है। महर्षि का अर्थ है—उत्तम प्रीतियुक्त आप में रमण और आपका सेवन करने वाले हम लोग। यह पद 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' धातु से बना है। महर्षि के अर्थ में प्रीति और सेवन दोनों अर्थ विद्यमान हैं।

पाठकगण इन अर्थों पर भी विचार करें—गोभिः (१।३५) गौओं से (सं०)। गाय, उत्तम इन्द्रिय, श्रेष्ठ पशु (ऋषि)।। अश्वैः (१।३५) घोड़ों से (सं०)। सर्वोतम अश्व विद्या (विज्ञानादि युक्त) तथा अश्व अर्थात् श्रेष्ठ घोड़ा आदि पशुओं और चक्रवर्ती राज्यैश्वर्य से (ऋषि)।। मरुत्वन्तम् (१।४४) बल वाले तीव्र गति वाले परमात्मा को (सं०) यहाँ संस्थान ने परमात्मा को तीव्र गति स्वीकार की है और उसे परमात्मा का बल माना है। सर्वव्यापक परमात्मा में गति मानना सिद्धान्त-विरुद्ध है। महर्षि का अर्थ देखिये—"परमानन्द बल वाले इन्द्र परमात्मा को" (ऋषि)। महर्षि ने यहाँ परमात्मा में परमानन्द-बल माना है जो सर्वथा संगत है।। तोके-तनये (१।५१) बाल बच्चों पर (सं०)। तोक और तनय दोनों पद निघण्टु में अपत्य अर्थ में पढ़े गये हैं। संस्थान ने गोल अर्थ में लिखा है, दोनों के अर्थ-भेद को नहीं समझा सका। महर्षि का अर्थ देखिये—तोके=

कनिष्ठ पुत्र में, तनये=मध्यम और ज्येष्ठ पुत्र में (ऋषि)। महर्षि का पृथक्-पृथक् अर्थ स्पष्ट है।

संस्थान के अर्थ ऐसे भी हैं जहाँ मक्खी पर मक्खी मारी गई है। जबकि महर्षि के अर्थ बड़े सारगर्भित एवं महत्त्वपूर्ण हैं। जैसे—आदित्यः (२।४) आदित्य हैं (सं०)। जिसका कभी नाश न हो और जो स्वप्रकाश स्वरूप हो (ऋषि)॥ शुक्रम् (२।४) शुक्र है (सं०)। चेतनस्वरूप ब्रह्म जगत् का कर्त्ता (ऋषि)॥ वायुः (२।४) वायु है (सं०)। सब जगत् का धारण करने वाला, अनन्त बलवान्, प्राणों से भी प्रियस्वरूप (ऋषि)॥ बन्धुः (२।६) बन्धु (सं०)। दुःखनाशक और सहायक (ऋषि)॥

इस प्रस्तुत तुलना से पाठक बड़ी सरलता से अनुमान लगा सकते हैं कि ऋषिकृत मन्त्रार्थ और मनुष्यकृत मन्त्रार्थ में कितना महान् अन्तर है। ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित प्रथम संस्करण के १३ पृष्ठों में विस्तार से इस नूतन संस्करण की समीक्षा की गई थी जिसका अभी तक कोई उत्तर नहीं दिया गया। हम आर्य बन्धुओं का बड़ा सौभाग्य है कि महर्षि ने इस आर्याभिविनय ग्रन्थ में वेदमन्त्रों का व्याख्यान बड़ी सरल आर्यभाषा में हमारे लिये प्रदान किया है। मन्त्रों का ऋषिकृत, सब दोषों से रहित विशुद्ध अर्थ अपनी सरल भाषा में पढ़ने को मिल जाये इससे बड़ा सौभाग्य और क्या हो सकता है।

आर्य जगत् का कर्त्तव्य है कि इस आर्याभिविनय पुस्तक को दैनिक स्वाध्याय का ग्रन्थ समझें और इसके एक मन्त्र का प्रतिदिन पाठ एवं मनन किया करें। महर्षि की इच्छा के अनुसार हम इस आर्याभिविनय ग्रन्थ के स्वाध्याय से अवश्य ईश्वराभिमुख होंगे एवं मोक्ष-मार्ग की ओर बढ़ेंगे।

●

ऋषि-ग्रन्थों के संशोधकों की योग्यता ॥

महर्षि-ग्रन्थों के सम्पादक एवं संशोधकों की योग्यता का उनके द्वारा रचा एक श्लोक यहां प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया जाता है । आर्याभिविनय के नूतन संस्करण की भूमिका के लेखक श्री सत्यानन्द शास्त्री ने भूमिका के अन्त में एक अनुष्टुप् छन्द इस प्रकार लिखा है :—

नम ऋषिभ्यः पूर्वेभ्यः नूतनेभ्यश्च सर्वदा ।
यैरादिवागद्यावधि रक्षितोऽभून्निरन्तरम् ॥

इस साधारण से श्लोक में अनेक त्रुटियाँ एवं अशुद्धियाँ प्रत्यक्ष हैं । पूर्वेभ्यः नूतनेभ्यः, यहाँ विसर्ग-सन्धि होकर 'पूर्वेभ्यो नूतनेभ्यः' ऐसा पाठ चाहिये। और पर्वताकार अशुद्धि इसमें यह है कि 'आदिवाक्' पद स्त्रीलिङ्ग है और उसके लिये प्रयुक्त क्तान्त क्रिया 'रक्षितः' को पुल्लिङ्ग में रखा गया है। एक साधारण संस्कृत ज्ञान रखने वाला व्यक्ति भी इस प्रकार की अशुद्धि को भली-भांति समझता है । यह है योग्यता ऋषि ग्रन्थों के संशोधकों की !!

भावार्थ की दृष्टि से भी उक्त श्लोक में असंगति पाई जाती है। इस पद्य में 'अद्यावधि' पद का प्रयोग करके 'अभूत्' क्रिया का प्रयोग किया गया है। जिसका अर्थ यह है कि आज तक जिन्होंने आदिवाक् = वेदवाणी की रक्षा की थी, यह भाव असंगत है। भाव यह होना चाहिये कि आज तक जिन्होंने रक्षा की है, अतः इस भाव के अनुसार अद्यावधि प्रयोग के पश्चात् 'रक्षिताऽस्ति' प्रयोग होना चाहिये ।

इसी प्रकार 'वेदवाणीविलासीनां वशंवदः' यहाँ विलासी पद में 'नाम्' से पूर्व दीर्घ इकार का प्रयोग सर्वथा अशुद्ध है ।

पाठक अनुमान लगा सकते हैं कि जब ऐसी योग्यता वाले ऋषि-ग्रन्थों के संशोधन के लिये लेखनी उठायेंगे तब कैसे कैसे अनर्थ होने की सम्भवना है । अतः ऋषिभक्त आर्य विद्वानों को इस भयावह संशोधन की धारा को तत्काल बन्द करने के लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये ॥

॥ ओ३म् ॥

अथार्याभिविनयोपक्रमणिकाविचारः

सर्वात्मा सच्चिदानन्दोऽनन्तो यो न्यायकृच्छुचिः ॥
भूयात्तमां सहायो नो दयालुः सर्वशक्तिमान् ॥ १ ॥
चक्षूरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे चैत्रे मासि सिते दले ।
दशम्यां गुरुवारेऽयं ग्रन्थारम्भः कृतो मया ॥ २ ॥
बहुभिः प्रार्थितः सम्यग्ग्रन्थारम्भः कृतोऽधुना ।
हिताय सर्वलोकानां ज्ञानाय परमात्मनः ॥ ३ ॥
वेदस्य मूलमन्त्राणां व्याख्यानं लोकभाषया ।
क्रियते सुखबोधाय ब्रह्मज्ञानाय सम्प्रति ॥ ४ ॥
स्तुत्युपासनयोः सम्यक् प्रार्थनायाश्च वर्णितः ।
विषयो वेदमन्त्रैश्च सर्वेषां सुखवर्द्धनः ॥ ५ ॥
विमलं सुखदं सततं सुहितं,
जगति प्रततं तदु वेदगतम् ।
मनसि प्रकटं यदि यस्य सुखी,
स नरोऽस्ति सदेश्वरभागधिकः ॥ ६ ॥
विशेषभागी ह वृणोति यो हितं,

नरः परात्मानमतीवमानतः ।
अशेषदुःखात्तु विमुच्य विद्यया,
स मोक्षमाप्नोति न कामकामुकः ॥ ७ ॥

व्याख्यान--जो परमात्मा, सब का आत्मा, सत् चित्, आनन्दस्वरूप, अनन्त, अज, न्यायकारी, निर्मल, सदा पवित्र, दयालु, सब सामर्थ्यवाला हमारा इष्टदेव है वह हमको सहाय नित्य देवे, जिससे महाकठिन काम भी हम लोग सहज से करने को समर्थ हों। हे कृपा-निधे! यह काम हमारा आप ही सिद्ध करने वाले हो, हम आशा करते हैं कि आप अवश्य हमारी कामना सिद्ध करेंगे ॥ १ ॥

संवत् १९३२ मिती चैत्र सुदी १० गुरुवार के दिन इस ग्रन्थ का आरम्भ किया है ॥ २ ॥

बहुत सज्जन लोग, सब के हितकारक धर्मात्मा विद्वान् विचारशील जनों ने मुझ से प्रीति से कहा, तब सब लोगों के हित और यथार्थ परमेश्वर का ज्ञान तथा प्रेम भक्ति यथावत् हो, इसलिये, इस ग्रन्थ का आरम्भ किया है ॥ ३ ॥

इस ग्रन्थ में केवल दो वेदों के मूल मन्त्रों का प्राकृतभाषा में व्याख्यान किया है, जिसमें सब लोगों को सुखपूर्वक बोध हो और ब्रह्मज्ञान यथार्थ हो ॥ ४ ॥

इस ग्रन्थ में वेदमन्त्रों से सब सुखों की बढ़ानेवाली परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना व उपासना तथा धर्मादि विषय का वर्णन किया है ॥ ५ ॥

जो ब्रह्म विमलसुखकारक, पूर्णकाम, तृप्त, जगत् में व्याप्त, वही सब वेदों से प्राप्य है, जिसके मन में इस ब्रह्म की प्रकटता (यथार्थ विज्ञान) है वही मनुष्य ईश्वर के आनन्द का भागी है और वही सब से सदैव अधिक सुखी है। ऐसे मनुष्य को धन्य है ॥ ६ ॥

जो नर इस संसार में अत्यन्त प्रेम, धर्मात्मता, विद्या, सत्सङ्ग, सुविचारता, निर्वैरता, जितेन्द्रियता, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परमात्मा का स्वीकार (आश्रय) करता है वही जन अतीव भाग्यशाली है, क्योंकि वह मनुष्य यथार्थ सत्यविद्या से सम्पूर्ण दुःखों से छूट के परमानन्द परमात्मा की प्राप्तिरूप जो मोक्ष उसको प्राप्त होता है और दुःखसागर से छूट जाता है, परन्तु जो विषय-लम्पट, विचाररहित, विद्या-धर्म-जितेन्द्रियता-सत्संगरहित, छल-कपट-अभिमान-दुराग्रहादि-दुष्टतायुक्त है सो वह मोक्ष-सुख को प्राप्त नहीं होता क्योंकि वह ईश्वरभक्ति से विमुख है ॥ ७ ॥

और वह मनुष्य जन्म-मरण-ज्वरादि-पीड़ाओं से पीड़ित हो के सदा दुःखसागर में ही पड़ा रहता है। इससे सब मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर और उसकी आज्ञा से विरुद्ध कभी नहीं हों, किन्तु ईश्वर तथा उसकी आज्ञा में तत्पर हो के इस लोक (संसार-व्यवहार) और परलोक (जो पूर्वोक्त मोक्ष) इनकी सिद्धि यथावत् करें, यही मनुष्य की कृतकृत्यता है।

इस आर्य्याभिविनय ग्रन्थ में मुख्यता से वेदमन्त्रों का परमेश्वर-सम्बन्धी एक ही अर्थ संक्षेप से किया गया है। दोनों अर्थ करने से ग्रन्थ बढ़ जाता इससे व्यवहार विद्यासम्बन्धी अर्थ नहीं किया गया, परन्तु वेदों के भाष्य में यथावत् विस्तारपूर्वक परमार्थ और व्यवहारार्थ ये दोनों अर्थ सप्रमाण किये जायंगे। जैसे—(तदेवाऽग्निस्तदादित्यस्तद्वायुरित्यादि य० संहिता प्र०, इन्द्रं मित्रं वरुणमित्यादि० ऋ० सं० प्र०, बृहस्पतिर्वै ब्रह्म गणपतिर्वै ब्रह्म, प्राणो वै ब्रह्म, आपो वै ब्रह्म ब्रह्मह्यग्निरित्यादि शतपथ, ऐतरेय ब्राह्मणादि० प्र०। और—महान्तमेवात्मानमित्यादि०) निरुक्तादि प्रमाणों से परब्रह्म ही अर्थ लिया जाता है। तथा मुखादग्निरजायतेत्यादि० य० सं० प्र०, वायोरग्निरित्यादि० ब्राह्मण प्र०, तथा अग्निरग्रणीर्भवतीत्यादि निरुक्त प्रमाणों

से यह प्रत्यक्ष जो रूप गुणवाला दाह प्रकाशयुक्त भौतिक अग्नि वह लिया जाता है इत्यादि दृढ़ प्रमाण, युक्ति और प्रत्यक्ष व्यवहार से दोनों अर्थ वेदभाष्य में लिखे जायँगे। जिससे सायणादिकृत भाष्य-दोष और उसके अनुसार अंग्रेजी कृतार्थ दोषरूप वेदों के कलंक निवृत्त हो जायँगे। और वेदों के सत्यार्थ का प्रकाश होने से, वेदों का महत्त्व तथा वेदों का अनन्तार्थ जानने से मनुष्यों को महालाभ और वेदों में यथावत् प्रीति होगी।

इस ग्रन्थ से तो केवल मनुष्यों को ईश्वर का स्वरूप ज्ञान और भक्ति, धर्मनिष्ठा, व्यवहारशुद्धि इत्यादि प्रयोजन सिद्ध होंगे, जिससे नास्तिक और पाखण्ड मतादि अधर्म में मनुष्य न फसें। किञ्च—सब प्रकार के मनुष्य अति उत्तम हों और सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर की कृपा सब मनुष्यों पर हो। जिससे सब मनुष्य दुष्टता को छोड़ के श्रेष्ठता को स्वीकार करें। यह मेरी परमात्मा से प्रार्थना है सो परमेश्वर अवश्य पूरी करेगा॥

इत्युपक्रमणिका संक्षेपतः सम्पूर्णा॥

॥ ओ३म् ॥

तत् सत् परब्रह्मणे नमः ॥

अथार्याभिविनयः प्रारम्भः ॥

ओं शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्य्यमा ।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः ॥ १ ॥
❀ ऋ० अ० १ । अ० ६ । व० १८ । मं० ९ ॥

व्याख्यान—हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप, हे नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव, हे अद्वितीयानुपमजगदादिकारण, हे अज, निराकार, सर्वशक्तिमन्, न्यायकारिन्; हे जगदीश, सर्वजगदुत्पादकाधार; हे सनातन, सर्वमंगलमय, सर्वस्वामिन्, हे करुणाकरास्मत्पितः, परमसहायक; हे सर्वानन्दप्रद, सकलदुःखविनाशक; हे अविद्यान्धकारनिर्मूलक, विद्यार्कप्रकाशक; हे परमैश्वर्यदायक, साम्राज्यप्रसारक; हे अधर्मोद्धारक, पतितपावन, मान्यप्रद; हे विश्वविनोदक, विनयविधिप्रद; हे विश्वासविलासक, हे निरञ्जन, नायक, शर्मद, नरेश, निर्विकार; हे सर्वान्तर्यामिन्, सदुपदेशक, मोक्षप्रद; हे सत्यगुणाकर, निर्मल, निरीह, निरामय निरुपद्रव, दीनदयाकर, परमसुखदायक; हे दारिद्र्यविनाशक, निर्वैरविधायक, सुनीतिवर्द्धक; हे प्रीतिसाधक, राज्यविधायक, शत्रुविनाशक; हे सर्वबलदायक, निर्बलपालक; हे सुधर्मसुप्रापक, हे अर्थसुसाधक, सुकामवर्द्धक, ज्ञानप्रद; हे सन्ततिपालक, धर्म्मसुशिक्षक, रोगविनाशक; हे पुरुषार्थप्रापक, दुर्गुणनाशक, सिद्धिप्रद; हे सज्जनसुखद, दुष्टसुताडन, गर्वकुक्रोधकुलोभविदारक; हे परमेश, परेश, परमात्मन्, परब्रह्मन्; हे जगदानन्दक, परमेश्वर, व्यापक सूक्ष्माच्छेद्य, हे अजरामृताभयनिर्बन्धनादे, हे अप्रतिमप्रभाव, निर्गुणातुल विश्वाद्य, विश्ववन्द्य, विद्वद्विलासक,

---

❀ यह संख्या इस भाग में सर्वत्र यथावत् जान लेना, क्योंकि आगे केवल अंक संख्या लिखी जायगी ।

ऋ० १ । ६ । १८ । ९ ॥ इनमे अष्टक, अध्याय, वर्ग, मन्त्र जान लेना ।

इत्याद्यनन्तविशेषणवाच्य; हे मंगलप्रदेश्वर ! आप सर्वथा सब के निश्चित मित्र हो। हमको सत्यसुखदायक सर्वदा हो। हे सर्वोत्कृष्ट, स्वीकरणीय, वरेश्वर ! आप वरुण अर्थात् सब से परमोत्तम हो, सो आप हमको परम सुखदायक हो। हे पक्षपातरहित, धर्म्मन्यायकारिन्! आप अर्य्यमा (यमराज) हो इससे हमारे लिये न्याययुक्त सुख देने वाले आप ही हो। परमैश्वर्य्यवन् इन्द्रेश्वर ! आप हम को परमैश्वर्य-युक्त शीघ्र स्थिर सुख दीजिये।

हे महाविद्यावाचोधिपते, बृहस्पते, परमात्मन् ! हम लोगों को (बृहत्) सब से बड़े सुख को देने वाले आप ही हो। हे सर्वव्यापक, अनन्तपराक्रमेश्वर विष्णो ! आप हमको अनन्त सुख देओ। जो कुछ माँगेंगे सो आप से ही हम लोग मांगेंगे। सब सुखों को देनेवाला आप के विना कोई नहीं है। सर्वथा हम लोगों को आप का ही आश्रय है; अन्य किसी का नहीं, क्योंकि सर्वशक्तिमान् न्यायकारी दयामय सब से बड़े पिता को छोड़ के नीचे का आश्रय हम कभी न करेंगे। आप का तो स्वभाव ही है कि अङ्गीकृत को कभी नहीं छोड़ते सो आप सदैव हम को सुख देंगे, यह हमको दृढ़ निश्चय है॥ १॥

पदार्थः—(शम्) सत्यसुखदायक (नः) हमको (मित्रः) मंगल-प्रदेश्वर / सर्वथा सबका निश्चित मित्र (शम्) परमसुखदायक (वरुण) सर्वोत्कृष्ट, स्वीकरणीय, वरेश्वर / सबसे परमोत्तम (शम्) न्याययुक्त सुख (नः) हमारे लिये (भवतु) हो (अर्यमा) पक्षपातरहित धर्मन्याय-कारी / यमराज (शम्) परमैश्वर्ययुक्त स्थिर सुख (नः) हमको (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् इन्द्रेश्वर (बृहस्पतिः) महाविद्यावाचोऽधिपति, बृहस्पति परमात्मा / सबसे बड़े सुख का देने वाला (शम्) अनन्त सुख (नः) हमको (विष्णुः) सर्वव्यापक (उरुक्रमः) अनन्तपराक्रमेश्वर॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथाऽस्मदर्थमुरुक्रमो मित्रो नः शमुरुक्रमो वरुणो नः शमुरुक्रमोऽर्यमा नः शमुरुक्रमो बृहस्पतिरिन्द्रो नः शमुरुक्रमो विष्णुर्नः शं च भवतु तथा युष्मदर्थमपि भवतु॥

मूलमन्त्र स्तुति विषय

अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म् ।
होता॑रं रत्न॒धात॑मम् ॥ २ ॥ ऋ० १ । १ । १ । १ ॥

व्याख्यान—हे वन्द्येश्वराग्ने ! आप ज्ञानस्वरूप हो, आप की मैं स्तुति करता हूँ। सब मनुष्यों के प्रति परमात्मा का यह उपदेश है—हे मनुष्यो ! तुम लोग इस प्रकार से मेरी स्तुति, प्रार्थना और उपासनादि करो जैसे पिता वा गुरु अपने पुत्र वा शिष्य को शिक्षा करता है कि तुम पिता वा गुरु के विषय में इस प्रकार से स्तुति आदि का वर्त्तमान करना। वैसे सबके पिता और परम गुरु ईश्वर ने हमको कृपा से सब व्यवहार और विद्यादि पदार्थों का उपदेश किया है, जिससे हमको व्यवहार-ज्ञान और परमार्थ ज्ञान होने से अत्यन्त सुख हो। जैसे सब का आदिकारण ईश्वर है, वैसे परम विद्या वेद का भी आदिकारण ईश्वर है।

हे सर्वहितोपकारक ! आप "पुरोहितम्" सब जगत् के हितसाधक हो ! हे यज्ञदेव ! सब मनुष्यों के पूज्यतम और ज्ञान यज्ञादि के लिये कमनीयतम हो। "ऋत्विजम्" सब ऋतु वसन्त आदि के रचक, अर्थात् जिस समय जैसा सुख चाहिये उस सुख के सम्पादक आप ही हो। "होतारम्" सब जगत् को समस्त योग और क्षेम के देनेवाले हो और प्रलय समय में कारण में सब जगत् का होम करने वाले हो। "रत्नधातमम्" रत्न अर्थात् रमणीय पृथिव्यादिकों के धारण रचन करने वाले तथा अपने सेवकों के लिये रत्नों के धारण करने वाले एक आप ही हो।

सर्वशक्तिमन् परमात्मन् ! इसलिये मैं वारंवार आपकी स्तुति करता हूँ इसको आप स्वीकार कीजिये जिससे हम लोग आप के कृपा-पात्र होके सदैव आनन्द में रहें ॥ २ ॥

पदार्थः—(अग्निम्) हे वन्द्येश्वर, ज्ञानस्वरूप अग्ने ! आपकी (ईळे) मैं स्तुति करता हूँ (पुरोहितम्) सर्वहितोपकारक, सब जगत् के हितसाधक की (यज्ञस्य) सब मनुष्यों के/ज्ञान यज्ञादि के लिये (देवम्) पूज्यतम/कमनीयतम की (ऋत्विजम्) सब ऋतु—वसन्त आदि के रचक अर्थात् जिस समय जैसा सुख चाहिये उस सुख के सम्पादक की (होतारम्) समस्त जगत् को सब योग और क्षेम के देने वाले की/ प्रलय समय में कारण में सब जगत् का होम करने वाले की (रत्नधातमम्) रत्न अर्थात् रमणीय पृथिव्यादिकों के धारण, रचन करने वाले की / अपने सेवकों के लिये रत्नों को धारण करने वाले की ॥

अन्वयः—हे वन्द्येश्वर ज्ञानस्वरूपाग्ने ! अहं यज्ञस्य पुरोहितमृत्विजं होतारं रत्नधातमं देवमग्निमीळे ॥

मूल प्रार्थना

अ॒ग्निना॑ र॒यिम॑श्नव॒त्पोष॑मे॒व दि॒वेदि॑वे । य॒शसं॑ वी॒रव॑त्तमम् ॥ ३ ॥
ऋ० १ । १ । १ । ३ ॥

व्याख्यान—हे महादातः, ईश्वराग्ने ! आपकी कृपा से स्तुति करने वाला मनुष्य "रयिम्" उस विद्यादि धन तथा सुवर्णादि धन को अवश्य प्राप्त होता है कि जो धन प्रतिदिन "पोषमेव" महा-पुष्टि करने और सत्कीर्ति को बढ़ानेवाला तथा जिससे विद्या, शौर्य्य, धैर्य्य, चातुर्य, बल, पराक्रम और दृढांग धर्मात्मा, न्याययुक्त, अत्यन्त वीरपुरुष प्राप्त हों, वैसे सुवर्ण रत्नादि तथा चक्रवर्त्ती राज्य और विज्ञानरूप धन को मैं प्राप्त होऊँ तथा आप की कृपा से सदैव धर्मात्मा होके अत्यन्त सुखी रहूँ ॥ ३ ॥

पदार्थः—(अग्निना) हे महादातः ! ईश्वराग्ने ! आपकी कृपा से (रयिम्) विद्यादिधन तथा सुवर्ण रत्न आदि तथा चक्रवर्त्ती राज्य और विज्ञान रूप धन को (अश्नवत्) प्राप्त होता (पोषम्) महापुष्टि करने वाले धन को (एव) अवश्य (दिवेदिवे) प्रतिदिन (यशसम्) सत्कीर्ति को बढ़ाने वाले धन को (वीरवत्तमम्) विद्या, शौर्य, धैर्य, चातुर्य, बल, पराक्रम और दृढाङ्ग, धर्मात्मा, न्याययुक्त अत्यन्त वीर पुरुष को ॥

अन्वयः—मनुष्यः अग्निनैव दिवेदिवे पोषं यशसं वीरवत्तमं रयिमश्नवत् प्राप्नोति ।

मूल स्तुति

अ॒ग्निः पूर्वे॑भि॒र्ऋषि॑भि॒रीड्यो॒ नूत॑नैरु॒त । स दे॒वाँ एह व॑क्षति ॥ ४ ॥ ऋ० १ । १ । १ । २ ॥

व्याख्यान—हे सब मनुष्यों के स्तुति करने योग्य ! ईश्वराग्ने ! "पूर्वेभिः" विद्या पढ़े हुए प्राचीन "ऋषिभिः" मन्त्रार्थ देखने वाले विद्वान् और "नूतनैः" वेदार्थ पढ़नेवाले नवीन ब्रह्मचारियों से "ईड्यः" स्तुति के योग्य "उत" और जो हम लोग मनुष्य विद्वान् वा मूर्ख हैं उनसे भी अवश्य आप ही स्तुति के योग्य हो। सो स्तुति को प्राप्त हुए आप हमारे और सब संसार के सुख के लिये दिव्यगुण अर्थात् विद्यादि को कृपा से प्राप्त करो। आप ही सब के इष्टदेव हो ॥ ४ ॥

पदार्थः—(अग्निः) सब मनुष्यों के स्तुति करने योग्य ईश्वर (पूर्वेभिः) विद्या पढ़े हुये प्राचीन (ऋषिभिः) मन्त्रार्थ देखने वाले विद्वानों से (ईड्यः) स्तुति के योग्य (नूतनैः) वेदार्थ पढ़ने वाले नवीन ब्रह्मचारियों से (उत) और (सः) स्तुति को प्राप्त हुये आप (देवान्) दिव्य गुण अर्थात् विद्यादि को (इह) सब संसार के सुख के लिये (आवक्षति) कृपा से प्राप्त करो ॥

अन्वयः—योऽयमग्निः पूर्वेभिरुत नूतनैर्ऋषिभिरीड्योऽस्ति स एह देवान् वक्षति समन्तात् प्रापयतु ॥

मूल स्तुति

अ॒ग्निर्होता॑ क॒विक्र॑तुः स॒त्यश्चि॒त्रश्र॑वस्तमः । दे॒वो दे॒वेभि॒-रागम॑त् ॥ ५ ॥ ऋ० १ । १ । १ । ५ ॥

व्याख्यान—हे सर्वदृक्=सब को देखनेवाले ! "क्रतुः" सब जगत् के जनक "सत्यः" अविनाशी अर्थात् कभी जिसका नाश नहीं होता "चित्रश्रवस्तमः" आश्चर्य्यश्रवणादि, आश्चर्य्यगुण, आश्चर्य्यशक्ति, आश्चर्य्यरूपवान् और अत्यन्त उत्तम आप हो। जिन आपके तुल्य या आप से बड़ा कोई नहीं है। हे जगदीश ! "देवेभिः" दिव्यगुणों के सह वर्त्तमान हमारे हृदय में आप प्रकट हों, सब जगत् में भी प्रकाशित हों, जिससे हम और हमारा राज्य दिव्यगुणयुक्त हो। वह राज्य आपका ही है, हम तो केवल आप के पुत्र तथा भृत्यवत् हैं ॥ ५ ॥

पदार्थः—(अग्निः) हे जगदीश/सब जगत् में प्रकाशित (होता) [जगत् की उत्पत्ति-प्रलय करने वाले] (कविक्रतुः) कविः= हे सर्वदृक् ! सबको देखने वाले ! क्रतुः=सब जगत् के जनक ! (सत्यः) अविनाशी (चित्रश्रवस्तमः) आश्चर्य श्रवणादि, आश्चर्यगुण आश्चर्यशक्ति, आश्चर्यरूपवान् और अत्यन्त उत्तम (देवः) हम और हमारा राज्य दिव्यगुण युक्त (देवेभिः) दिव्यगुणों के सह वर्त्तमान (आगमत्) हमारे हृदय में आप प्रकट हो ॥

अन्वयः—यः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः कविक्रतुः होता देवोऽग्निः परमेश्वरो भौतिकश्चास्ति स देवेभिः सहागमत् ॥

मूल प्रार्थना

यदु॒ङ्ग दा॒शुषे॒ त्वमग्ने॑ भ॒द्रं क॑रि॒ष्यसि॑ । तवेत्तत्स॒त्यम॑ङ्गिरः ॥६॥

ऋ० १ । १ । १ । ६ ॥

व्याख्यान—हे "अङ्ग" मित्र ! जो आपको आत्मादि दान करता है, उसको "भद्र" व्यावहारिक और पारमार्थिक सुख अवश्य देते हो। हे "अंगिर:" प्राणप्रिय ! यह आपका सत्यव्रत है कि स्वभक्तों को परमानन्द देना, यही आपका स्वभाव हम को अत्यन्त सुखकारक है। आप मुझ को ऐहिक और पारमार्थिक इन दोनों सुखों का दान शीघ्र दीजिये, जिससे सब दुःख दूर हों। हमको सदा सुख ही रहे ॥ ६ ॥

पदार्थः—(यद्) जो (अङ्ग) हे मित्र ! (दाशुषे) आपको आत्मादि दान करता है उसको (त्वम्) आप (अग्ने) [हे जगदीश्वर !] (भद्रम्) व्यावहारिक और पारमार्थिक सुख (करिष्यसि) देते हो (तव) आपका (इत्) अवश्य (तत्) यह (सत्यम्) सत्य व्रत है (अङ्गिरः) हे प्राण प्रिय ! ॥

अन्वयः— हे अङ्गिरोऽङ्गाग्ने त्वं यस्मात् दाशुषे भद्रं करिष्यसि करोषि। तस्मात् तवेत् तवैवेदं सत्यं व्रतमस्ति ॥

मूल स्तुति

वाय॒वा या॑हि दर्शते॒मे सोमा॒ अरं॑कृताः । तेषां॑ पाहि श्रुधी हवं॑म् ॥ ७ ॥ ऋ० १ । १ । ३ । १ ॥

व्याख्यान—हे अनन्तबल परेश वायो दर्शनीय ! आप अपनी कृपा से ही हम को प्राप्त हो । हम लोगों ने अपनी अल्पशक्ति से सोम (सोमवल्ल्यादि) ओषधियों का उत्तम रस सम्पादन किया है, और जो कुछ भी हमारे श्रेष्ठ पदार्थ हैं वे आपके लिये "अरङ्कृताः" अलङ्कृत अर्थात् उत्तम रीति से हमने बनाये हैं, और वे सब आपके समर्पण किये गये हैं । उनको आप स्वीकार करो (सर्वात्मा से पान करो) ।

हम दीनों की दीनता सुनकर जैसे पिता को पुत्र छोटी चीज समर्पण करता है, उस पर पिता अत्यन्त प्रसन्न होता है, वैसे आप हम पर होओ ॥ ७ ॥

पदार्थः—(वायो) हे अनन्तबलपरेश ! (आयाहि) अपनी कृपा से ही हम को प्राप्त हो (दर्शत) हे दर्शनीय ! (इमे) वे (सोमाः) सोम (सोमवल्ल्यादि) ओषधियों का उत्तम रस/श्रेष्ठ पदार्थ (अरङ्-कृताः) अलंकृत अर्थात् उत्तम रीति से बनाये पदार्थ (तेषाम्) उनको (पाहि) स्वीकार करो (सर्वात्मा से पान करो) (श्रुधी) सुनकर प्रसन्न होओ (हवम) पुकार को ॥

अन्वयः—हे दर्शत वायो जगदीश्वर त्वमायाहि येन त्वये मे सोमा अरङ्कृताः अलंकृताः सन्ति तेषां तान् पदार्थान् पाहि । अस्माक हवं श्रधि ॥

मूल प्रार्थना

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती । यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥ ८ ॥ ऋ० १ । १ । ६ । १० ॥

व्याख्यान—हे वाक्पते, सर्व विद्यामय! हमको आपकी कृपा से "सरस्वती" सर्वशास्त्रविज्ञानयुक्त वाणी प्राप्त हो, "वाजेभिः" तथा उत्कृष्ट, अन्नादि के साथ वर्त्तमान, "वाजिनीवती" सर्वोत्तम क्रिया विज्ञानयुक्त, "पावका" पवित्रस्वरूप और पवित्र करनेवाली सत्यभाषणमय, मङ्गलकारक वाणी आपकी प्रेरणा से प्राप्त होके आप के अनुग्रह से परमोत्तम बुद्धि के साथ वर्त्तमान "वसुः" निधिस्वरूप यह वाणी "यज्ञं वष्टु" सर्वशास्त्रबोध और पूजनीयतम आप के विज्ञान की कामनायुक्त सदैव हो। जिससे हमारी सब मूर्खता नष्ट हो और हम महापाण्डित्ययुक्त हों ॥ ८ ॥

पदार्थः—(पावका) पवित्र स्वरूप और पवित्र करने वाली सत्यभाषणमय मङ्गलकारक वाणी (नः) हम को (सरस्वती) सर्वशास्त्र विज्ञानयुक्त वाणी (वाजेभिः) सर्वोत्कृष्ट अन्नादि के साथ (वाजिनीवती) सर्वोत्तम क्रिया विज्ञानयुक्त वाणी (यज्ञम्) सर्वशास्त्र बोध और पूजनीयतम आपके विज्ञान की (वष्टु) कामनायुक्त सदैव हो (धिया) परमोत्तम बुद्धि के साथ (वसुः) निधिस्वरूप वाणी ॥

अन्वयः—या वाजेभिर्वाजिनीवती धियावसुः पावका सरस्वती वागस्ति साऽस्माकं शिल्पविद्यामहिमानं कर्म च यज्ञं वष्टु तत्प्रकाशयित्री भवतु ॥

मूल स्तुति

पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्य्याणाम् । इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥ ९ ॥ ऋ० १ । १ । ९ । २ ॥

व्याख्यान—हे परात्पर परमात्मन् ! आप "पुरूतमम्" अत्यन्तोत्तम और सर्वशत्रुविनाशक हो तथा बहुविध जगत् के पदार्थों के ईशान (स्वामी) और उत्पादक हो । "वार्य्याणाम्" वर, वरणीय परमानन्द मोक्षादि पदार्थों के भी ईशान हो, "सोमे" और उत्पत्ति-स्थान संसार आप से उत्पन्न होने से "इन्द्रम्" परमैश्वर्यवान् आप को (अभिप्रगायत) हृदय में अत्यन्त प्रेम से गावें (यथावत्) स्तुति करें। जिससे आप की कृपा से हम लोगों का भी परमैश्वर्य बढ़ता जाय और परमानन्द को प्राप्त हों ॥ ९ ॥

पदार्थः—(पुरूतमम्) अत्यन्तोत्तम और सर्वशत्रुविनाशक परमात्मा को (पुरूणाम्) बहुविध जगत् के पदार्थों के (ईशानम्) स्वामी और उत्पादक को (वार्याणाम्) वर, वरणीय, परमानन्द मोक्षादि पदार्थों के (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवान् परमात्मा को (सोमे) उत्पत्ति स्थान संसार (सचा) अत्यन्त प्रेम से (सुते) आप से उत्पन्न होने से [अनु०—अभिप्रगायत] हृदय में गावें ॥

अन्वयः—हे सखायो विद्वांसो वार्याणां पुरूतममीशानं पुरूणामिन्द्रमभिप्रगायत ये सुते सोमे सचाः सन्ति तान् सर्वोपकाराय यथायोग्यमभिप्रगायत ॥

मूल प्रार्थना

तमीशा॑नं॒ जग॑तस्त॒स्थुष॒स्पतिं॑ धियं जि॒न्वमव॑से हूमहे व॒यम् । पू॒षा नो॒ यथा॒ वेद॑सा॒मस॑द्वृ॒धे र॑क्षि॒ता पा॒युरद॑ब्धः स्व॒स्तये॑ ॥ १० ॥ ऋ० १ । ६ । १५ । ५ ॥

व्याख्यान—हे सर्वाधिस्वामिन् ! आप ही चर और अचर जगत् के ईशान (रचनेवाले) हो, "धियं जिन्वम्" सर्वविद्यामय विज्ञान-स्वरूप बुद्धि को प्रकाशित करने वाले प्रीणनीयस्वरूप "पूषा" सब के पोषक हो, उन आप का हम "नः अवसे" अपनी रक्षा के लिये "हूमहे" आह्वान करते हैं। "यथा" जिस प्रकार से आप हमारे विद्यादि धनों की वृद्धि वा रक्षा के लिये "अदब्धः, रक्षिता" निरालस रक्षा करने में तत्पर हो वैसे ही कृपा करके आप "स्वस्तये" हमारी स्वस्थता के लिये "पायुः" निरन्तर रक्षक (विनाशनिवारक) हो। आप से पालित हम लोग सदैव उत्तम कामों में उन्नति और आनन्द को प्राप्त हों ॥१०॥

पदार्थः—(तम्) उन आपका (ईशानम्) रचने वाले का (जगतः) चर जगत् के (तस्थुषः) अचर जगत् के (पतिम्) सर्वाधि-स्वामी का (धियम्) सर्वविद्यामय, विज्ञानस्वरूप बुद्धि को प्रकाशित करने वाले को (जिन्वम्) प्रीणनीय स्वरूप का (अवसे) अपनी रक्षा के लिये (हूमहे) आह्वान करते हैं। (वयम्) हम (पूषा) सबके पोषक (नः) हमारे (यथा) जिस प्रकार से (वेदसाम्) विद्यादि धनों की (असद्) हो (वृधे) वृद्धि वा रक्षा के लिये (रक्षिता) रक्षा करने में तत्पर (पायुः) निरन्तर रक्षक (पाप-निवारक) (अदब्धः) निरालस (स्वस्तये) हमारी स्वस्थता के लिये ॥

अन्वयः—हे विद्वन् ! यथा पूषा नोऽस्माकं वेदसां वृधे यो रक्षिता स्वस्तयेऽदब्धः पूषा पायुरसत्तथा त्वं भव यथा वयमवसे तं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियं जिन्वमीशानं परमात्मानं हूमहे तथैतं-त्वमप्याह्वय ॥ ●

मूल स्तुति

अतो॑ दे॒वा अ॑वन्तु॒ नो॒ यतो॒ विष्णु॑र्विचक्र॒मे। पृ॒थि॒व्याः स॒प्त धाम॑भिः॥ ११॥ ऋ० १। २। ७। १६॥

व्याख्यान—हे "देवाः" विद्वानो! "विष्णुः" सर्वत्र व्यापक परमेश्वर ने सब जीवों को पाप तथा पुण्य का फल भोगने और सब पदार्थों के स्थित होने के लिये, पृथिवी से लेके सप्तविध लोक "धामभिः" अर्थात् ऊँचे नीचे स्थानों से संयुक्त बनाये तथा गायत्र्यादि सात छन्दों से विस्तृत विद्यायुक्त वेद को भी बनाया उन लोकों के साथ वर्त्तमान व्यापक ईश्वर ने "यतः" जिस सामर्थ्य से सब लोकों को रचा है "अतः" (सामर्थ्यात्) उस सामर्थ्य से हम लोगों की रक्षा करे।

हे विद्वानो! तुम लोग भी उसी विष्णु के उपदेश से हमारी रक्षा करो। कैसा है वह विष्णु? जिस ने इस सब जगत् को "त्रिचक्रमे" विविध प्रकार से रचा है उसकी नित्य भक्ति करो॥ ११॥

पदार्थः—(अतः) उस सामर्थ्य से (देवाः) हे विद्वानो! (अवन्तु) रक्षा करें (नः) हम लोगों की (यतः) जिस सामर्थ्य से (विष्णुः) सर्वत्र व्यापक परमेश्वर ने (विचक्रमे) विस्तृत विद्यायुक्त वेद को बनाया/लोकों को रचा है/सब जगत् को विविध प्रकार से रचा है (पृथिव्याः) पृथिवी से ले के (सप्त) सप्तविध/सात (धामभिः) लोक, ऊँचे नीचे स्थानों से संयुक्त/गायत्री आदि (सात) छन्दों से॥

अन्वयः—यतोऽयं विष्णुर्जगदीश्वरः पृथिवीमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तैः सप्तभिर्धामभिः सह वर्त्तमानाँल्लोकान् विचक्रमे रचितवान् अत एतेभ्यो देवा विद्वांसो नोऽस्मान् अवन्तु=एतद्विद्यामवगम[illegible]न्तु॥

मूल प्रार्थना

पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्त्तेरराव्णः । पाहि रीषत उत वा जिघांसतो बृहद्भानो यविष्ठ्य ॥ १२ ॥ ऋ० १ । ३ । १० । १९ ॥

व्याख्यान—हे सर्वशत्रुदाहकाग्ने परमेश्वर ! राक्षस, हिंसाशील, दुष्टस्वभाव देहधारियों से "नः" हमारी "पाहि" पालना करो। "धूर्तेरराव्णः" कृपण जो धूर्त्त उस मनुष्य से भी हमारी रक्षा करो। जो हम को मारने लगे तथा जो मारने की इच्छा करता है, हे महातेज बलवत्तम ! उन सब से हमारी रक्षा करो ॥ १२ ॥

पदार्थः—(पाहि) पालन करो (नः) हमारी (अग्ने) हे सर्वशत्रुदाहकाग्ने ! परमेश्वर ! (रक्षसः) राक्षस, हिंसाशील, दुष्टस्वभाव देहधारियों से (पाहि) रक्षा करो (धूर्तेः) धूर्त मनुष्य से (अराव्णः) कृपण मनुष्य से (पाहि) रक्षा करो (रीषतः) मारने वाले मनुष्य से (उत+वा) तथा (जिघांसतः) जो मारने की इच्छा करता है उस मनुष्य से (बृहद्भानो) हे महातेज ! (यविष्ठच) हे बलवत्तम ! ॥

अन्वयः—हे बृहद्भानो यविष्ठयाग्ने सर्वशत्रुदाहकाग्ने परमेश्वर ! त्वं धूर्त्तेरराव्णो रक्षसो नः पाहि । रिषतः पापाचाराज्जनात् पाहि । उत वा जिघांसतः पाहि ॥
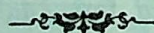
मूल स्तुति

त्वम॒स्य पा॒रे रज॑सो॒ व्यो॑मन॒: स्व॒भू॑त्योजा॒ अव॑से धृषन्मनः ।
च॒कृ॒षे भूमिं॑ प्र॒ति॒मान॒मोज॑सो॒पः स्वः॑ परि॒भूरे॒ष्या दिव॑म् ॥ १३ ॥
ऋ० १ । ४ । १४ । १२ ॥

व्याख्यान—हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् ! आकाश लोक के पार में तथा भीतर, अपने ऐश्वर्य और बल से विराजमान होके दुष्टों के मन को धर्षण=तिरस्कार करते हुए सब जगत् तथा विशेष हम लोगों के "अवसे" सम्यक् रक्षण के लिये "त्वम्" आप सावधान हो रहे हो। इससे हम निर्भय होके आनन्द कर रहे हैं। किञ्च—

"दिवम्" परमाकाश "भूमिम्" भूमि तथा "स्वः" सुख विशेष मध्यस्थ लोक इन सबों को अपने सामर्थ्य से ही रच के यथावत् धारण कर रहे हो। "परिभूः एषि" सब पर वर्त्तमान और सब को प्राप्त हो रहे हो। "आदिवम्" द्योतनात्मक सूर्यादि लोक "अपः" अन्तरिक्ष-लोक और जल इन सब के प्रतिमान (परिमाण) कर्त्ता आप ही हो, तथा आप अपरिमेय हो। कृपा करके हमको अपना तथा सृष्टि का विज्ञान दीजिये ॥ १३ ॥

पदार्थः—(त्वम्) आप (अस्य) सब जगत् के तथा विशेष हम लागों के (पारे) पार में तथा भीतर (रजसः) लोक के (व्योमनः) आकाश के (स्वभूत्योजाः) अपने ऐश्वर्य और बल से (अवसे) सम्यक् रक्षण के लिये (धृषत्) धर्षण करते हुये (मनः) दुष्टों के मन को (चकृषे) रचके (यथावत्) धारण कर रहे हो (भूमिम्) भूमि को (प्रतिमानम्) प्रतिमान (परिमाण) कर्त्ता (ओजसः) अपने सामर्थ्य से (अपः) अन्तरिक्ष लोक और जल के (स्वः) सुख विशेष, मध्यस्थ

लोक को (परिभूः) सब पर वर्त्तमान (एषि) सबको प्राप्त हो रहे हो (आदिवम्) द्योतनात्मक सूर्यादि लोक के (दिवम्) परमाकाश को ॥

अन्वयः—हे धृषन्मनो जगदीश्वर! यः परिभूः स्वभूत्योजास्त्वमवसेऽस्य संसारस्य रजसो व्योमनः पारेऽप्येषि त्वं सर्वेषामोजसः पराक्रमस्य स्वभूमिं चाप्रतिमानमाचकृषे समन्तात् कृतवानसि तं (सर्वे) वयमुपास्महे ॥

मूल प्रार्थना

विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्। शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन ॥ १४ ॥ ऋ० १।४।१०।८ ॥

व्याख्यान—हे यथायोग्य सब को जानने वाले ईश्वर! आप "आर्यान्" विद्या धर्मादि उत्कृष्ट स्वभावाचरणयुक्त आर्यों को जानो "ये च दस्यवः" और जो नास्तिक, डाकू, चोर, विश्वासघाती, मूर्ख, विषयलम्पट, हिंसादि दोषयुक्त, उत्तम कर्म्म में विघ्न करनेवाले, स्वार्थी, स्वार्थसाधन में तत्पर, वेदविद्याविरोधी, अनार्य (अनाड़ी) मनुष्य "बर्हिष्मते" सर्वोपकारक यज्ञ के विध्वंस करनेवाले हैं; इन सब दुष्टों को आप "रन्धय" (समूलान् विनाशय) मूलसहित नष्ट कर दीजिये; और "शासदव्रतान्" ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासादि धर्म्मानुष्ठानव्रतरहित वेदमार्गोच्छेदक अनाचारियों का यथायोग्य शासन करो (शीघ्र उन पर दण्ड निपातन करो); जिससे वे भी शिक्षा-युक्त होके शिष्ट हों; अथवा उनका प्राणान्त हो जाय, किंवा हमारे वश में ही रहें।

"शाकी" तथा जीव को परम शक्तियुक्त शक्ति देने और उत्तम कामों में प्रेरणा करने वाले हो; आप हमारे दुष्ट कामों से निरोधक हो; मैं भी "सधमा०" उत्कृष्ट स्थानों में निवास करता हुआ "विश्वेत्ता-ते" तुम्हारी आज्ञानुकूल सब उत्तम कर्म्मों की "चाकन" कामना करता हूँ; सो आप पूरी करें ॥ १४ ॥

पदार्थः—(विजानीहि) जानो (आर्यान्) विद्या धर्मादि उत्कृष्ट स्वभावाचरण युक्त आर्यों को (ये) जो (च) और (दस्यवः) नास्तिक, डाकू, चोर आदि को (बर्हिष्मते) सर्वोपकारक यज्ञ के विध्वंस करने वाले को (रन्धय) मूल सहित नष्ट कर दीजिये (शासद्) यथायोग्य

शासन करो (शीघ्र उन पर दण्डनिपातन करो) (अव्रतान्) ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास आदि धर्मानुष्ठान, व्रतरहित, वेद-मार्गोच्छेदक, अनाचारी इनका, (शाकी) परमशक्तियुक्त, शक्ति देने वाला (भव) हो (यजमानस्य) जीव को (चोदिता) उत्तम कामों में प्रेरणा करने वाला (विश्वा+इत्+ता) सब उत्तम कर्मों की (ते) तुम्हारी आज्ञानुकूल (सधमादेषु) उत्कृष्ट स्थानों में (चाकन) कामना करता हूँ ।।

अन्वयः—हे मनुष्य ! त्वं बर्हिष्मत आर्यान् विजानीहि ये दस्यवः सन्ति तांश्च विदित्वा रन्धयाऽव्रतान् शासत् यजमानस्य चोदिता सन् शाकी भव यतस्ते तवोपदेशेन सङ्गेन वा सधमादेषु ता तानि विश्वा विश्वान्येतानि सर्वाणि कर्माणीदेवाहं चाकन ।।

मूल स्तुति

न यस्य द्यावापृथिवी अनु व्यचो न सिन्धवो रजसो अन्तमानशुः । नोत स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यत एको अन्यच्चकृषे विश्वमानुषक् ॥ १५ ॥ ऋ० १ । ४ । १४ । १४ ॥

व्याख्यान—हे परमैश्वर्य्ययुक्तेश्वर ! आप इन्द्र हो । हे मनुष्यो ! जिस परमात्मा का अन्त इतना है यह न हो, उसकी व्याप्ति का परिच्छेद (इयत्ता) परिमाण कोई नहीं कर सकता, तथा दिव अर्थात् सूर्य्यादिलोक सर्वोपरि आकाश तथा पृथिवी मध्य निकृष्टलोक ये कोई उसके आदि अन्त को नहीं पाते क्योंकि "अनुव्यचः" वह सब के बीच में अनुस्यूत (परिपूर्ण) हो रहा है, तथा "न सिन्धवः" अन्तरिक्ष में जो दिव्यजल तथा सब लोक सो भी अन्त नहीं पा सकते । "नोत स्ववृष्टिं मदे" वृष्टिप्रहार से युद्ध करता हुआ वृत्र (मेघ) तथा बिजुली गर्जन आदि भी ईश्वर का पार नहीं पा सकते* ।

हे परमात्मन् ! आप का पार कौन पा सके ? क्योंकि "एकः" एक (अपने से भिन्न सहाय रहित) स्वसामर्थ्य से ही "विश्वम्" सब जगत् को "आनुषक्" आनुषक्त अर्थात् उसमें व्याप्त होते और "चकृषे" (कृतवान्) आप ने ही उत्पन्न किया है; फिर जगत् के पदार्थ आपका पार कैसे पासकें; तथा (अन्यत्) आप जगत्रूप कभी नहीं बनते, न अपने में से जगत् को रचते हो किन्तु अनन्त अपने सामर्थ्य से ही जगत् का रचन, धारण और प्रलय यथाकाल में करते हो । इससे आपका सहाय हम लोगों को सदैव है ॥ १५ ॥

पदार्थः—(न) नहीं (यस्य) जिस परमात्मा का (द्यावा-

---

* जैसे कोई मद में मग्न होके रणभूमि में युद्ध करे, वैसे मेघ का दृष्टान्त जानना ।

पृथिवी) दिव अर्थात् सूर्यादि लोक, सर्वोपरि आकाश तथा पृथिवी, मध्य निकृष्ट लोक (अनुव्यचः) सबके बीच में अनुस्यूत (परिपूर्ण) (न) नहीं (सिन्धवः) अन्तरिक्ष में जो दिव्य जल (रजसः) सब लोक (अन्तम्) अन्त, व्याप्ति का परिच्छेद (इयत्ता) परिमाण को/आदि अन्त को/पार को (आनशुः) पा सकते हैं (न) नहीं (उत) और (स्ववृष्टिम्) वृष्टिप्रहार से (मदे) मेघ, तथा बिजुली गर्जन आदि (अस्य) ईश्वर का (युध्यतः) युद्ध करता हुआ (एकः) सहाय रहित (अन्यत्) अपने से भिन्न (चकृषे) उत्पन्न किया है (विश्वम्) सब जगत् को (आनुषक्) अनुषक्त अर्थात् व्याप्त ॥

अन्वयः—यस्य रजसः परमेश्वरस्याऽनुव्यचोऽनुगताया अनन्ताया व्याप्तेर्द्यावापृथिवीचन्द्रादयश्चान्तं नानशुः न व्याप्नुवन्ति नोतापि सिन्धवो व्याप्नुवन्ति । हे परमात्मँस्त्वं यथा स्ववृष्टिं प्रतिमदे युध्यतो मेघस्य सूर्यस्याग्रे विजयो न भवति तथैकोऽसहायोऽद्वितीयः सन्नन्यद् विश्वमानुषक् चकृषे कृतवानसि तस्माद् भवान् उपास्यो ऽस्ति ॥

मूल प्रार्थना

ऊ॒र्ध्वो नः॑ पा॒ह्यंह॑सो॒ नि के॒तुना॒ विश्वं॒ सम॒त्रिणं॑ दह। कृ॒धी न॑ ऊ॒र्ध्वाञ्च॒रथा॑य जी॒वसे॑ वि॒दा दे॒वेषु॑ नो॒ दुवः॑ ॥ १६ ॥

ऋ० १ । ३ । १० । १४ ॥

व्याख्यान—हे सर्वोपरि विराजमान परब्रह्म ! आप ऊर्ध्वं सब से उत्कृष्ट हो, हम को कृपा से उत्कृष्ट गुणवाले करो तथा ऊर्ध्व-देश में हमारी रक्षा करो।

हे सर्वपापप्रणाशकेश्वर ! हमको "केतुना" विज्ञान अर्थात् विविध विद्यादान देके "अंहसः" अविद्यादि महापाप से "नि पाहि" (नितरां पाहि) सदैव अलग रक्खो तथा "विश्वम्" इस सकल संसार का भी नित्य पालन करो।

हे सत्यमित्र न्यायकारिन् ! जो कोई प्राणी "अत्रिणम्" हम से शत्रुता करता है उसको और काम क्रोधादि शत्रुओं को आप "सन्दह" सम्यक् भस्मीभूत करो (अच्छे प्रकार जलाओ)।

"कृधी न ऊर्ध्वान्" हे कृपानिधे ! हम को विद्या, शौर्य्य, धैर्य, बल, पराक्रम, चातुर्य, विविधधन, ऐश्वर्य, विनय, साम्राज्य, सम्मति, सम्प्रीति, स्वदेशसुखसंपादनादि गुणों में सब नर देहधारियों से अधिक उत्तम करो तथा "चरथाय, जीवसे" सब से अधिक आनन्द, भोग, सब देशों में अव्याहतगमन (इच्छानुकूल जाना आना), आरोग्य, देह, शुद्ध मानसबल और विज्ञान इत्यादि के लिये हम को उत्तमता और अपनी पालनायुक्त करो। "विदा" विद्यादि उत्तमोत्तम धन "देवेषु" विद्वानों के बीच में प्राप्त करो अर्थात् विद्वानों के मध्य में भी उत्तम प्रतिष्ठायुक्त सदैव हम को रक्खो ॥ १६ ॥

पदार्थः—(ऊर्ध्वः) हे सर्वोपरि विराजमान परब्रह्म ! सब से

उत्कृष्ट/उत्कृष्ट गुणवाला/ऊर्ध्व देश (नः) हमको/हमारी (पाहि) रक्षा करो (अंहसः) अविद्यादि महापाप से (केतुना) विज्ञान अर्थात् विद्या-दान देके (निपाहि) सदैव अलग रखो/नित्यपालन करो (विश्वम्) सकल संसार का (अत्रिणम्) जो कोई प्राणी हमसे शत्रुता करता है उसको/काम क्रोध आदि शत्रुओं को (सन्दह) सम्यक् भस्मीभूत करो/अच्छे प्रकार जलाओ (कृधी) करो (नः) हम को (ऊर्ध्वान्) विद्यादि गुणों में सब नरदेहधारियों में अधिक उत्तम (चरथाय) सब से अधिक आनन्द भोग, सब देशों में अव्याहतगमन (इच्छानुकूल जाना आना) के लिये (जीवसे) आरोग्य, देह, शुद्ध-मानस बल और विज्ञान इत्यादि के लिये (विदा) विद्यादि उत्तमोत्तम धन (देवेषु) विद्वानों के बीच में (नः) हम को (दुवः) प्राप्त करो/उत्तम प्रतिष्ठायुक्त सदैव रखो।

अन्वयः—हे सर्वोपरि विराजमान परब्रह्म। त्वमूर्ध्वोऽसि, नोऽस्मानपि चरथायोर्ध्वान् कृधि। हे सर्वपापप्रणाशकेश्वर! त्वं केतुना विज्ञानदानेन नोंऽहसो निपाहि। हे सत्यमित्र न्यायकारिन्! त्वं विश्वमत्रिणं शत्रुं सन्दह। देवेषु जीवसे नो दुवो विदाः॥

मूल स्तुति

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः। विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः पञ्च॒जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम् ॥ १७ ॥ ऋ० १ । ६ । १६ । १० ॥

व्याख्यान—हे त्रैकाल्याबाधेश्वर! "अदितिर्द्यौः" आप सदैव विनाश रहित तथा स्वप्रकाशस्वरूप हो "अदितिरन्तरिक्षम्" अविकृत (विकार को न प्राप्त) और सब के अधिष्ठाता हो "अदितिर्माता" आप प्राप्त मोक्ष जीवों को अविनश्वर (विनाश रहित) सुख देने और अत्यन्त मान करने वाले हो "स पिता" सो अविनाशीस्वरूप हम सब लोगों के पिता (जनक) और पालक हो और "स पुत्रः" सो ईश्वर आप मुमुक्षु धर्मात्मा विद्वानों को नरकादि दुःखों से पवित्र और त्राण (रक्षण) करने वाले हो "विश्वे देवा अदितिः" सब दिव्यगुण (विश्व का धारण, रचन, मारण, पालन आदि कार्यों को करनेवाले) आप अविनाशी परमात्मा ही हैं "पञ्चजना अदितिः" पंचप्राण जो जगत् के जीवन हेतु वे भी आप के रचे और आप के नाम भी हैं "जातमदितिः" वही एक चेतन ब्रह्म आप सदा प्रादुर्भूत हैं, और सब कभी प्रादुर्भूत कभी अप्रादुर्भूत (अविनाशभूत) भी हो जाते हैं "अदितिर्जनित्वम्" वे ही अविनाशी स्वरूप ईश्वर आप सब जगत् के (जनित्वम्) जन्म का हेतु हैं और कोई नहीं❀ ॥ १७ ॥

पदार्थः—(अदितिः) सदैव विनाश रहित (द्यौः) सदैव स्वप्रकाश स्वरूप (अदितिः) अविकृत=विकार को न प्राप्त (अन्तरिक्षम्) सब का अधिष्ठाता (अदितिः) अविनश्वर=विनाशरहित (माता)

❀ ये सब नाम दिव आदि अन्य वस्तुओं के भी होते हैं परन्तु यहां ईश्वराभिप्रेत से अर्थ किया, सो सप्रमाण जानना चाहिये।

सुख देने और मान करने वाला (सः) सो (पिता) सब का पिता=जनक और पालक (सः) सो (पुत्रः) नरकादि दुःखों से पवित्र और त्राण=रक्षा करने वाला (विश्वे) सब (देवाः) दिव्य गुणों वाला (विश्व का धारण, रचन, मारण, पालन आदि कार्य करने वाला (अदितिः) अविनाशी (पञ्च) पांच प्राण (जनाः) जगत् के जीवनहेतु (अदितिः) ईश्वर के रचे और ईश्वर के नाम (जातम्) प्रादुर्भूत (अदितिः) चेतन ब्रह्म (जनित्वम्) जन्म का हेतु ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! युष्माभिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माताऽदितिः स पिता स पुत्रश्चादितिर्विश्वे देवा अदितिः पञ्चेन्द्रियाणि जनाश्च तथा एवं जातमात्रं कार्यं जनित्वं जन्यञ्च सर्वमदितिरेवेति वेदितव्यम् ॥

मूल प्रार्थना

ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयतु विद्वान्। अर्यमा देवैः सजोषाः ॥ १८ ॥ ऋ० १।६।१७।१॥

व्याख्यान—हे महाराजाधिराज परमेश्वर ! आप हमको "ऋजु०" सरल (शुद्ध) कोमलत्वादिगुणविशिष्ट चक्रवर्त्ती राजाओं की नीति को "नयतु" कृपादृष्टि से प्राप्त करो। आप "वरुणः" सर्वोत्कृष्ट होने से वरुण हो, सो हमको वरराज्य, वरविद्या, वरनीति देओ तथा सब के मित्र शत्रुतारहित हो, हम को भी आप मित्रगुणयुक्त न्यायाधीश कीजिये; तथा आप सर्वोत्कृष्ट विद्वान् हो हम को भी सत्यविद्या से युक्त सुनीति देके साम्राज्याधिकारी सद्यः कीजिये; तथा आप "अर्य्यमा" (यमराज) प्रियाप्रिय को छोड़ के न्याय में वर्त्तमान हो, सब संसार के जीवों के पाप और पुण्यों की यथायोग्य व्यवस्था करने वाले हो, सो हम को भी आप तादृश करें। जिससे "देवैः, सजोषाः" आपकी कृपा से विद्वानों वा दिव्यगुणों के साथ उत्तम प्रीतियुक्त आप में रमण और आपका सेवन करने वाले हों।

हे कृपासिन्धो भगवन् ! हम पर सहायता करो जिससे सुनीतियुक्त होके हमारा स्वराज्य अत्यन्त बढ़े ॥ १८ ॥

पदार्थः—(ऋजुनीती) सरल=शुद्ध, कोमलत्वादि गुणविशिष्ट चक्रवर्ती राजाओं की नीति (नः) हमको (वरुणः) सर्वोत्कृष्ट (मित्रः) सबका मित्र शत्रुतारहित (नयतु) प्राप्त करो (विद्वान्) सर्वोत्कृष्ट विद्वान् (अर्यमा) यमराज्य=प्रियाप्रिय को छोड़कर न्याय में वर्त्तमान (देवैः) विद्वानों वा दिव्यगुणों के साथ वर्त्तमान (सजोषाः) उत्तम प्रीति युक्त, परमेश्वर में रमण और ईश्वर का सेवन करने वाले ॥

अन्वयः—यथेश्वरो धार्मिकमनुष्यान् धर्मं नयति तथा देवैः सजोषा वरुणो मित्रोऽर्यमा विद्वान् ऋजुनीती नोऽस्मान् धर्मविद्या-मार्गं नयतु ॥

——

मूल प्रार्थना

त्वं सो॑मासि॒ सत्प॑ति॒स्त्वं राजो॒त वृ॑त्र॒हा । त्वं भ॒द्रो अ॑सि॒ क्रतुः॑ ॥ १९ ॥ ऋ० १ । ६ । १९ । ५ ॥

व्याख्यान—हे सोम, राजन् सत्पते परमेश्वर ! तुम सोम= सब का सार निकालनेहारे, प्राप्तस्वरूप, शान्तात्मा हो; तथा सत्पुरुषों का प्रतिपालन करनेवाले हो। तुम्हीं सब के राजा "उत" और "वृत्रहा" मेघ के रचक, धारक और मारक हो। भद्रस्वरूप, भद्र करने वाले और "क्रतुः" सब जगत् के कर्त्ता आप ही हो ॥ १९ ॥

पदार्थः—(त्वम्) तुम (सोम) सब का सार निकालने हारे प्राप्त स्वरूप, शान्तात्मा (असि) हो (सत्पतिः) सत्पुरुषों का पालन करने वाले (त्वम्) तुम ही (राजा) सब के राजा (उत) और (वृत्रहा) मेघ के रचक, धारक और मारक (त्वम्) आप ही (भद्रः) भद्रस्वरूप, भद्र करने वाले (असि) हो (क्रतुः) सब जगत् के कर्त्ता ॥

अन्वयः—हे सोम ! यतस्त्वमयं सोमो वा सत्पतिरस्युतापि त्वमयं च वृत्रहा राजासि। अस्ति वा यतस्त्वमयं च भद्रोऽसि भवति वा तस्मात्त्वमयं च विद्वद्भिः सेव्यः ॥

——

मूल प्रार्थना

त्वं नः सोम विश्वतो रक्षा राजन्नघायतः । न रिष्येत्त्वावतः सखा ॥ २० ॥ ऋ० १ । ६ । २० । ८ ॥

व्याख्यान—हे सोम राजन्नीश्वर ! तुम "अघायतः" जो कोई प्राणी हम में पापी और पाप करने की इच्छा करने वाले हों "विश्वतः" उन सब प्राणियों से हमारी "रक्ष" रक्षा करो । जिसके आप सगे मित्र हो "न, रिष्येत्" वह कभी विनष्ट नहीं होता, किन्तु हम को आप की सहयता से तिलमात्र भी दुःख वा भय कभी नहीं होगा । जो आप का मित्र और जिसके आप मित्र हो उसको दुःख क्योंकर हो ॥ २० ॥

पदार्थः—(त्वम्) तुम (नः) हमारी (सोम) हे सोम राजन् ईश्वर ! (विश्वतः) सब प्राणियों से (रक्ष) रक्षा करो (राजन्) हे राजन् ईश्वर ! (अघायतः) पापी और पाप करने की इच्छा करने वालों से (न) कभी नहीं (रिष्येत्) विनष्ट होता (त्वावतः) जिसके आप सगे (सखा) मित्र ॥

अन्वयः—हे सोम ! त्वमयं च विश्वतोऽघायतो नोऽस्मान् रक्ष रक्षति वा । हे राजन् ! त्वावतः सखा न रिष्येद् विनष्टो न भवेत् ॥

मूल प्रार्थना

तद्विष्णोः पर॒मं प॒दं सदा॑ पश्यन्ति सू॒रयः॑ । दि॒वीव॒ चक्षु॒रात॑तम् ॥ २१ ॥ ऋ० १ । २ । ७ । २० ॥

व्याख्यान—हे विद्वानो और मुमुक्षु जीवो ! विष्णु का जो परम अत्यन्तोत्कृष्ट पद=(पदनीय) सब के जानने योग्य, जिसको प्राप्त हो के पूर्णानन्द में रहते हैं, फिर वहाँ से शीघ्र दुःख में नहीं गिरते, उस पद को "सूरयः" धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, सब के हितकारक विद्वान् लोग यथावत् अच्छे विचार से देखते हैं, वह परमेश्वर का पद है। किस दृष्टान्त से कि जैसे आकाश में चक्षु=नेत्र की व्याप्ति वा सूर्य का प्रकाश सब ओर से व्याप्त है, वैसे ही "दिवीव, चक्षुराततम्" परब्रह्म सब जगह में परिपूर्ण एकरस भर रहा है। वही परमपदस्वरूप परमात्मा परमपद है। इसी की प्राप्ति होने से जीव सब दुःखों से छूटता है, अन्यथा जीव को कभी परम सुख नहीं मिलता। इससे सब प्रकार परमेश्वर की प्राप्ति में यथावत् प्रयत्न करना चाहिये ।। २१ ।।

पदार्थः—(तद) उस (विष्णोः) विष्णु के (परमम्) परम, अत्यन्तोत्कृष्ट (पदम्) पद=पदनीय, जानने योग्य पूर्णानन्द पद को (सदा) यथावत् अच्छे विचार से (पश्यन्ति) देखते हैं (सूरयः) धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, सब के हितकारक विद्वान् लोग (दिवि) आकाश में (इव) जैसे (चक्षुः) नेत्र की व्याप्ति वा सूर्य का प्रकाश/परब्रह्म (आततम्) सब ओर से व्याप्त है / सब जगह में परिपूर्ण एक रस भर रहा है ।।

अन्वयः—सूरयो विद्वांसो दिव्याततं चक्षुरिव यद्विष्णोराततं परमं पदमस्ति तत् स्वात्मनि सदा पश्यन्ति ।।

मूल प्रार्थना

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे ।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥ २२ ॥
ऋ० १ । ३ । १८ । २ ॥

व्याख्यान—(परमेश्वरो हि सर्वजीवेभ्यः आशीर्ददाति) ईश्वर सब जीवों को आशीर्वाद देता है कि हे जीवो ! "वः" (युष्माकम्) तुम्हारे लिये आयुध अर्थात् शतघ्नी (तोप), भुशुण्डी (बन्दूक), धनुष्, बाण, करवाल (तलवार), शक्ति (बरछी) आदि शस्त्र स्थिर और "वीळू" दृढ़ हों । किस प्रयोजन के लिये ? "पराणुदे" तुम्हारे शत्रुओं के पराजय के लिये, जिससे तुम्हारे कोई दुष्ट शत्रु लोग कभी दुःख न दे सकें, "उत, प्रतिष्कभे" शत्रुओं के वेग को थांभने के लिये । "युष्माकमस्तु, तविषी पनीयसी" तुम्हारी बलरूप उत्तम सेना सब संसार में प्रशंसित हो, जिस से तुम से लड़ने को शत्रु का कोई संकल्प भी न हो, परन्तु "मा मर्त्यस्य मायिनः" जो अन्यायकारी मनुष्य है उसको हम आशीर्वाद नहीं देते । दुष्ट, पापी, ईश्वरभक्तिरहित मनुष्य का बल और राज्यैश्वर्यादि कभी मत बढ़ो । उस का पराज्य ही सदा हो ।

हे बन्धुवर्गो ! आओ अपने सब मिल के सर्व दुःखों का विनाश और विजय के लिये ईश्वर को प्रसन्न करें । जो अपने को वह ईश्वर आशीर्वाद देवे, जिससे अपने शत्रु कभी न बढ़ें ॥ २२ ॥

पदार्थः—(स्थिराः) स्थिर (वः) तुम्हारे लिये (सन्तु) हों (आयुधा) शतघ्नी=तोप, भुशुण्डी=बंदूक, धनुष-बाण, करवाल=तलवार, शक्ति=बरछी आदि शस्त्र (पराणुदे) शत्रुओं के पराजय के लिये (वीळू) दृढ़ (उत) और (प्रतिष्कभे) शत्रुओं के वेग को

थामने के लिये (युष्माकम्) तुम्हारी (अस्तु) हो (तविषी) बलरूप उत्तम सेना (पनीयसी) प्रशंसित (मा) नहीं (मर्त्यस्य) मनुष्य का (मायिनः) अन्यायकारी । दुष्ट, पापी, ईश्वरभक्तिरहित का ॥

अन्वयः—हे धार्मिकमनुष्याः । व आयुधा शत्रूणां पराणुदे उत प्रतिष्कभे स्थिरा वीळू सन्तु । युष्माकं तविषी सेना पनीयस्यस्तु मायिनो मर्त्यस्य मा सन्तु ॥
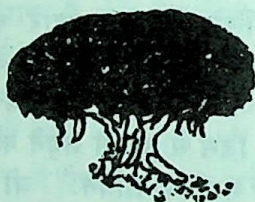
मूल स्तुति

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ २३ ॥ ऋ० १ । २ । ७ । १९ ॥

व्याख्यान—हे जीवो ! "विष्णोः" व्यापकेश्वर के किये दिव्य जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आदि कर्मों को तुम देखो । (प्रश्न) किस हेतु से हम लोग जानें कि व्यापक विष्णु के कर्म्म हैं ? (उत्तर) "यतो व्रतानि पस्पशे" जिससे हम लोग ब्रह्मचर्यादि व्रत तथा सत्यभाषणादि व्रत और ईश्वर के नियमों का अनुष्ठान करने को जीव सुशरीरधारी हो के समर्थ हुए हैं । यह काम उसी के सामर्थ्य से है, क्योंकि—"इन्द्रस्य, युज्यः, सखा" इन्द्रियों के साथ वर्त्तमान कर्मों का कर्त्ता, भोक्ता जो जीव इस का वही एक-योग्य मित्र है, अन्य कोई नहीं, क्योंकि ईश्वर जीव का अन्तर्यामी है । उससे परे जीव का हितकारी कोई और नहीं हो सकता, इससे परमात्मा से सदा मित्रता रखनी चाहिये ॥ २३ ॥

पदार्थः—(विष्णोः) व्यापक ईश्वर के (कर्माणि) जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आदि कर्मों को (पश्यत) तुम देखो (यतः) जिससे (व्रतानि) ब्रह्मचर्यादिव्रत तथा सत्यभाषणादि व्रत और ईश्वर के नियमों के अनुष्ठान करने को (पस्पशे) समर्थ हुये हैं (इन्द्रस्य) इन्द्रियों के साथ वर्त्तमान कर्मों के कर्त्ता, भोक्ता जीव का (युज्यः) योग्य (सखा) मित्र ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यूयं य इन्द्रस्य युज्यः सखास्ति यतो जीवो व्रतानि पस्पशे स्पृशति तस्य विष्णोः कर्माणि पश्यत ॥

मूल प्रार्थना

पराणुदस्व मघवन्नमित्रान्त्सुवेदा नो वसू कृधि । अस्माकं बोध्यविता महाधने भवा वृधः सखीनाम् ।। २४ ।।

ऋ० ५ । ३ । २१ । २२ ।।

व्याख्यान—हे मघवन् परमैश्वर्यवन् इन्द्र परमात्मन् ! "अमित्रान्" हमारे सब शत्रुओं को "पराणुदस्व" परास्त कर दे । हे दातः ! "सुवेदाः, नो, वसू, कृधि" "अस्माकं, बोध्यविता" हमारे लिये सब पृथिवी के धन सुलभ कर । "महाधने" युद्ध में हमारे और हमारे मित्र तथा सेनादि के "अविता" रक्षक "वृधः" वर्द्धक "भव" आप ही हो, तथा "बोधि" हम को अपने ही जानो ।

हे भगवन् ! जब आप हमारे रक्षक योद्धा होंगे, तभी हमारा सर्वत्र विजय होगा; इसमें संदेह नहीं ।। २४ ।।

पदार्थः—(पराणुदस्व) परास्त कर दे (मघवन्) हे परमैश्वर्यवन् इन्द्र परमात्मन् ! (अमित्रान्) सब शत्रुओं को (सुवेदाः) सुलभ (नः) हमारे लिये (वसू) सब पृथिवी के धन (कृधि) कर (अस्माकम्) हमारे (बोधि) हमको अपने ही जानो (अविता) रक्षक (महाधने) युद्ध में (भव) आप ही हो (वृधः) वर्द्धक (सखीनाम्) हमारे मित्र और सेनादि के ।।

अन्वयः—हे मघवन् राजन् ! सुवेदास्त्वं नोऽस्माकममित्रान् पराणुदस्व नो वसु कृधि । महाधनेऽस्माकं सखीनामविता बोधि वृधो भव ।।

मूल प्रार्थना

शं नो भगः शमु नः शंसो अस्तु शं नः पुरंन्धिः शमु सन्तु रायः। शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शं नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु ॥ २५ ॥ ऋ० ५ । ३ । २८ । २ ॥

व्याख्यान—हे ईश्वर ! "भगः" आप और आप का दिया हुआ ऐश्वर्य्य "शं नः" हमारे लिये सुखकारक हो और "शमु, नः, शंसो अस्तु" आप की कृपा से हमारी सुखकारक प्रशंसा सदैव हो। "पुरन्धिः, शमु, सन्तु, रायः" संसार के धारण करने वाले आप तथा वायु प्राण और सब धन आनन्ददायक हों। "शन्नः, सत्यस्य" सत्य यथार्थ धर्म सुसंयम और जिनेन्द्रियादि लक्षणयुक्त जो प्रशंसा (पुण्यस्तुति) सब संसार में प्रसिद्ध है, वह परमानन्द और शान्तियुक्त हमारे लिये हो। "शं, नो, अर्यमा" न्यायकारी आप "पुरुजातः" अनन्तसामर्थ्ययुक्त हमारे कल्याणकारक होओ ॥ २५ ॥

पदार्थः—(शम्) सुखकारक (नः) हमारे लिये (भगः) ईश्वर और उसका दिया ऐश्वर्य (शमु) सुखकारक (नः) हमारी (शंसः) प्रशंसा (अस्तु) सदैव हो (शम्) आनन्ददायक (नः) हमारे लिये (पुरन्धिः) संसार को धारण करने वाला ईश्वर/वायु प्राण (शमु) आनन्ददायक (सन्तु) हों (रायः) सब धन (शम्) शान्तियुक्त (नः) हमारे लिये (सत्यस्य) सत्य यथार्थ धर्म की (सुयमस्य) सुसंयम और जितेन्द्रियादिलक्षणयुक्त की (शंसः) प्रशंसा=पुण्यस्तुति (शम्) कल्याण कारक (नः) हमारे लिये (अर्यमा) न्यायकारी (पुरुजातः) अनन्तसामर्थ्य-युक्त (अस्तु) होओ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा नो भगः शं नः शंसः शमु पुरन्धिः शमस्तु नः रायः शमु सन्तु नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शं पुरुजातोऽर्यमा नः शमस्तु तथा वयं प्रयतेमहि ॥ ●

मूल स्तुति

त्वमसि प्रशस्यो विदथेषु सहन्त्य । अग्ने रथीरध्वराणाम्
॥ २६ ॥ ऋ० ५ । ८ । ३५ । २ ॥

व्याख्यान—हे "अग्ने" सर्वज्ञ ! तू ही सर्वत्र "प्रशस्यः" स्तुति करने के योग्य है; अन्य कोई नहीं । "विदथेषु" यज्ञ और युद्धों में आप ही स्तोतव्य हो । जो तुम्हारी स्तुति को छोड़ के अन्य जड़ादि की स्तुति करता है, उसके यज्ञ तथा युद्धों में विजय कभी सिद्ध नहीं होता है । "सहन्त्य" शत्रुओं के सभहों के आप ही घातक हो । "रथीः" अध्वरों अर्थात् यज्ञ और युद्धों में आप ही रथी हो । हमारे शत्रुओं के योद्धाओं को जीतने वाले हो, इस कारण से हमारा पराजय कभी नहीं हो सकता ॥ २६ ॥

पदार्थः—(त्वम्) तू ही (असि) है (प्रशस्यः) सर्वत्र स्तुति करने योग्य (विदथेषु) यज्ञ और युद्धों में (सहन्त्य) शत्रुओं के समूहों के घातक (अग्ने) हे सर्वज्ञ ! (रथीः) रथी, शत्रुओं के योद्धाओं को जीतने वाले (अध्वराणाम्) यज्ञ और युद्धों में ॥

अन्वयः—हे अग्ने सर्वज्ञ परमेश्वर ! विदथेषु त्वं प्रशस्योऽसि । हे सहन्त्य ! त्वमध्वराणां रथीरसि ॥

मूल प्रार्थना

तन्न इन्द्रो वरुणो मित्रो अग्निराप ओषधीर्वनिनों जुषन्त ।
शर्मन्त्स्याम मरुतामुपस्थे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ २७॥
ऋ० ५ । ३ । २७ । २५ ॥

व्याख्यान—हे भगवन् ! "तन्न इन्द्रः" सूर्य "वरुणः" चन्द्रमा "मित्रः" वायु "अग्निः" अग्नि "आपः" जल "ओषधीः" वृक्षादि वनस्थ सब पदार्थ आप की आज्ञा से सुखरूप होकर हमारा सेवन करें ।

हे रक्षक ! "मरुतामुपस्थे" प्राणादि पवनों के गोद में बैठे हुए हम आप की कृपा से "शर्मन्त्स्याम" सुखयुक्त सदा रहें । "स्वस्तिभिः" सब प्रकार के रक्षणों से "यूयं, पात" (आदरार्थं बहुवचनम्) आप हमारी रक्षा करो । किसी प्रकार से हमारी हानि न हो ॥ २७ ॥

पदार्थः—(तत्) वह (नः) हमारा (इन्द्रः) सूर्य (वरुणः) चन्द्रमा (मित्रः) वायु (अग्निः) अग्नि (आपः) जल (ओषधीः) वृक्षादि, (वनिनः) वनस्थ सब पदार्थ (जुषन्त) सेवन करें (मरुताम्) प्राणादि पवनों के (उपस्थे) गोद में (शर्मन्) सुखयुक्त (स्याम) हम सदा रहें (यूयम्) आप (पात) रक्षा करो (स्वस्तिभिः) सब प्रकार के रक्षणों से (सदा) सदा (नः) हमारी ॥

अन्वयः—हे विद्वांसः ! ये वनिन इन्द्रो वरुणो मित्रोऽग्निराप ओषधीश्च नस्सञ्जुषन्त येन यूयं स्वस्तिभिर्नः सदा पात तेषां युष्माकं मरुतामुपस्थे शर्मन् वयं स्थिराः स्याम ॥

मूल स्तुति

ऋषिर्हि पूर्वजा अस्येक ईशान ओजसा। इन्द्रं चोष्कूयसे वसुं ॥ २८ ॥ ऋ० ५।८।१७।४१ ॥

व्याख्यान—हे ईश्वर ! "ऋषिः" सर्वज्ञ "पूर्वजाः" और सब के पूर्वजों के अद्वितीय "ईशानः" ईशनकर्त्ता अर्थात् ईश्वरता करनेहारे ईश्वर, तथा सबसे बड़े प्रलयोत्तरकाल में आप ही रहने वाले "ओजसा" अनन्त पराक्रम से युक्त हो।

हे इन्द्र महाराजाधिराज ! "चोष्कूयसे वसु" सब धन के दाता शीघ्र कृपा का प्रवाह अपने सेवकों पर कर रहे हो। आप अत्यन्त आर्द्रस्वभाव हो ॥ २८ ॥

पदार्थः—(ऋषिः) सर्वज्ञ (हि) निश्चय से (पूर्वजाः) सबके पूर्वजों के (असि) हो (एकः) अद्वितीय (ईशानः) ईशनकर्त्ता, सब से बड़े, प्रलयोत्तर काल में रहने वाले (ओजसा) अनन्तपराक्रम से युक्त (इन्द्र) हे इन्द्र महाराजाधिराज ! (चोष्कूयसे) दाता हो/अपने सेवकों पर कृपा कर रहे हो (वसु) सब धन के/कृपा का प्रवाह ॥

अन्वयः—हे ईश्वर ! त्वम् हि ऋषिः पूर्वजा असि। ओजसा एक ईशानोऽसि। हे इन्द्र महाराजाधिराज ! त्वं स्वसेवकेभ्यो वसु चोष्कूयसे ॥

मूल प्रार्थना

नेह भ॒द्रं र॑क्ष॒स्विने॒ नाव॒यै नोप॒या उ॒त । गवे॑ च भ॒द्रं धे॒नवे॑ वी॒राय॑ च श्रवस्य॒तेऽने॒हसो॑ व ऊ॒तयः॑ सु ऊ॒तयो॑ व ऊ॒तयः॑ ॥२९॥

ऋ० ६ । ४ । ९ । १२ ॥

व्याख्यान—हे भगवन् ! "रक्षस्विने, भद्रं, नेह" पापी, हिंसक, दुष्टात्मा को इस संसार में सुख मत देना । "नावयै" धर्म से विपरीत चलनेवाले को सुख कभी मत हो, तथा "नोपया, उत" अधर्मी के समीप रहने वाले उसके सहायक को भी सुख नहीं हो । ऐसी प्रार्थना आप से हमारी है कि दुष्ट को सुख कभी न होना चाहिये, नहीं तो कोई जन धर्म में रुचि नहीं करेगा, किन्तु इस संसार में धर्मात्माओं को ही सुख सदा दीजिये । तथा—

हमारी शमदमादियुक्त इन्द्रियाँ, दुग्ध देनेवाली गौ आदि वीरपुत्र और शूरवीर भृत्य, "श्रवस्यते" विद्या, विज्ञान और अन्नाद्यैश्वर्ययुक्त हमारे देश के राजा और धनाढ्य जन तथा इनके लिये "अनेहसः" निष्पाप निरुपद्रव स्थिर दृढ़ सुख हो ।

"व ऊतयो व ऊतयः" (व युष्माकं बहुवचनमादरार्थम्) हे सर्व-रक्षकेश्वर ! आप सर्वरक्षण अर्थात् पूर्वोक्त सब धर्मात्माओं की रक्षा करनेहारे हैं । जिन पर आप रक्षक हो उनको सदैव भद्र कल्याण (परमसुख) प्राप्त होता है; अन्य को नहीं ॥ २९ ॥

पदार्थः—(न) मत (इह) इस संसार में (भद्रम्) सुख (रक्षस्विने) पापी, हिंसक, दुष्टात्मा को (न) मत (अवयै) धर्म से विपरीत चलने वाले को (न) नहीं (उपयै) अधर्मी के समीप रहने वाले, और उसके सहायक को भी (उत) तथा (गवे) शमदमादियुक्त इन्द्रियों के लिए (च) और (भद्रम्) सुख/कल्याण (परमसुख) (धेनवे)

दुग्ध देने वाली गौ आदि के लिये (वीराय) वीरपुत्र के लिए (च) और शूरवीर भृत्य के लिये (श्रवस्यते) विद्या विज्ञान अन्नाद्यैश्वर्य-युक्त हमारे देश के राजा और धनाढ्य जन के लिये (अनेहसः) निष्पाप निरुपद्रव स्थिर दृढ़ सुख (वः) आप (ऊतयः) सर्वरक्षकेश्वर ! (सु ऊतयः) सर्वरक्षण (वः) पूर्वोक्त धर्मात्माओं की (ऊतयः) रक्षा करने हारे हैं ॥

अन्वयः—हे भगवन् ! इह रक्षस्विने भद्रं न, अवयै भद्रं न, उत उपयै भद्रं न भवतु । अस्माकं गवे धेनवे वीराय श्रवस्यते च भद्रमनेहसश्च भवतु । हे ऊतयः ! सर्वरक्षकेश्वर ! व ऊतयश्च सु ऊतयः सन्तु ॥

मूल स्तुति

वसुर्वसुपतिर्हि कमस्यग्ने विभावसुः । स्याम ते सुमतावपि
॥ ३० ॥ ऋ० ६ । ३ । ४० । २४ ॥

व्याख्यान—हे परमात्मन् ! आप वसु अर्थात् सब को अपने में वसानेवाले और सब में आप वसनेवाले हो, तथा "वसुपतिः" पृथिव्यादि वास हेतुभूतों के पति हो । "कमसि" हे अग्ने विज्ञानानन्द स्वप्रकाशस्वरूप ! आप ही सब के सुखकारक और सुखस्वरूप हो, तथा "विभावसुः" सत्यस्वप्रकाशैकधनमय हो ।

हे भगवन् ! ऐसे जो आप उन "ते" आपकी "सुमतौ', अत्यन्तोत्कृष्टज्ञान और परस्पर प्रीति में हम लोग स्थिर हों ॥ ३० ॥

पदार्थः—(वसुः) सबको अपने में बसाने वाले और सब में आप बसने वाले (वसुपतिः) पृथिवी आदि वास-हेतु-भूतों के पति (हि) निश्चय से (कम्) सबके सुखकारक और सुखस्वरूप (असि) हो (अग्ने) हे विज्ञानानन्द स्वप्रकाशस्वरूप (विभावसुः) सत्यस्वप्रकाशैकघनमय (स्याम) हम लोग स्थिर हों (ते) आपकी (सुमतौ) अत्यन्तोत्कृष्ट ज्ञान में (अपि) और परस्पर प्रीति में ॥

अन्वयः—हे परमात्मन् ! त्वं हि वसुर्वसुपतिश्चासि । हे अग्ने विज्ञानानन्दस्वंप्रकाशस्वरूप ! त्वं कं विभावसुश्चासि । हे भगवन् ! ते सुमतावपि स्याम ॥

मूल प्रार्थना

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः ।
इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण ।। ३१ ।।
ऋ० १ । ७ । ६ । १ ।।

व्याख्यान—हे मनुष्यो ! जो हमारा तथा सब जगत् का राजा, सब भुवनों का स्वामी "कम्" सब का सुखदाता और "अभिश्रीः" सब का निधि (शोभाकारक) है. "वैश्वानरो, यतते, सूर्येण" संसारस्थ सब नरों का नेता (नायक) और सूर्य के साथ वही प्रकाशक है, अर्थात् सब प्रकाशक पदार्थ उसके रचे हैं। "इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे" इसी ईश्वर के सामर्थ्य से ही यह संसार उत्पन्न हुआ है, अर्थात् उसने रचा है। वैश्वानरस्य सुमतौ, स्याम" उस वैश्वानर परमेश्वर की सुमतौ अर्थात् सुशोभन (उत्कृष्ट ज्ञान में) हम निश्चित सुखस्वरूप और विज्ञानवाले हों।

हे महाराजाधिराजेश्वर ! आप इस हमारी आशा को कृपा से पूरी करो ।। ३१ ।।

पदार्थः—(वैश्वानरस्य) वैश्वानर परमेश्वर की (सुमतौ) सुशोभन=उत्कृष्ट ज्ञान में (स्याम) हम निश्चित सुखस्वरूप और विज्ञान वाले हों (राजा) हमारा तथा सब जगत् का राजा/स्वामी (हि) और/ही/निश्चित (कम्) सबका सुखदाता (भुवनानाम्) सब भुवनों का (अभिश्रीः) सब का निधि (शोभाकारक) (इतः) इसी ईश्वर के सामर्थ्य से (जातः) उत्पन्न हुआ (विश्वम्) संसार (इदम्) यह (विचष्टे) उसने रचा है (वैश्वानरः) संसारस्थ सब नरों का नेता= नायक (यतते) प्रकाशक है=अर्थात् सब प्रकाशक पदार्थ उसके रचे हैं (सूर्येण) सूर्य के साथ ।।

अन्वयः—यो वैश्वानर इतो जात इदं कं विश्वं जगद् विचष्टे यः सूर्येण सह यतते यो भुवनानामभिश्री राजास्ति तस्य वैश्वानरस्य सुमतौ हि वयं स्याम ।। ●

मूल स्तुति

न यस्य॑ दे॒वा दे॒वता॒ न मर्त्ता॒ आप॑श्च॒ न शव॑सो॒ अन्त॑मा॒पुः ।
स प्र॒रिक्वा॒ त्वक्ष॑सा क्ष्मो दि॒वश्च॑ म॒रुत्वा॑न्नो भव॒त्विन्द्र॑ ऊ॒ती ॥३२॥
ऋ० १ । ७ । १० । १५ ॥

व्याख्यान—हे अनन्तबल ! "न यस्य" जिस परमात्मा का और उसके बलादि सामर्थ्य का "देवाः" इन्द्रिय "देवता" विद्वान्, सूर्यादि, बुद्धयादि "न, मर्त्ताः" साधारण मनुष्य "आपश्च न" आप= प्राण, वायु, समुद्र इत्यादि सब अन्त (पार) कभी नहीं पा सकते. किन्तु "प्ररिक्वा" प्रकृष्टता से इनमें व्यापक हो के अतिरिक्त (इन से विलक्षण) भिन्न ही परिपूर्ण हो रहा है, सो "मरुत्वान्" अत्यन्त बलवान् इन्द्र परमात्मा "त्वक्षसा" शत्रुओं के बल का छेदक बल से "क्ष्मः" पृथिवी को "दिवश्च" स्वर्ग को धारण करता है, सो "इन्द्रः" परमात्मा "ऊती" हमारी रक्षा के लिये "भवतु" तत्पर हो ॥ ३२ ॥

पदार्थः—(न) कभी नहीं (यस्य) जिस परमात्मा के (शवसः) बलादि सामर्थ्य का (देवाः) इन्द्रियां (देवताः) अविद्वान्, सूर्यादि, बुद्धि-आदि (न) कभी नहीं (मर्त्ताः) साधारण मनुष्य (आपः) प्राण, वायु, समुद्र इत्यादि (च) और (न) कभी नहीं (अन्तम्) अन्त=पार (आपुः) पा सकते (सः) सो (प्ररिक्वा) प्रकृष्टता से इनमें व्यापक हो के अतिरिक्त=इनसे विलक्षण भिन्न ही परिपूर्ण हो रहा है (त्वक्षसा) शत्रुओं के बल के छेदक बल से (क्ष्मः) पृथिवी (दिवः) स्वर्ग का (च) और (मरुत्वान्) अत्यन्त बलवान् इन्द्र परमात्मा (नः) हमारी (भवतु) तत्पर हो (इन्द्रः) परमात्मा (ऊती) रक्षा के लिये ॥

अन्वयः—यस्येन्द्रस्य जगदीश्वरस्य शवसोऽन्तं देवता देवा न मर्त्ता नापश्च नापुः । यस्त्वक्षसा क्ष्मो दिवश्चान्यांश्च लोकान् प्ररिक्वा स मरुत्वान् इन्द्रो न ऊती भवतु ॥ ●

मूल प्रार्थना

जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः । स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः ॥३३॥
ऋ० १ । ७ । ७ । १ ॥

व्याख्यान—हे "जातवेदः" परब्रह्मन् ! आप जातवेद हो, उत्पन्नमात्र सब जगत् को जाननेवाले हो, सर्वत्र प्राप्त हो, जो विद्वानों से ज्ञात सब में विद्यमान (जात अर्थात् प्रादुर्भूत अनन्त धनवान् वा अनन्त ज्ञानवान् हो इससे आपका नाम जातवेद है) उन आपके लिये "वयं, सोमं, सुनवाम" जितने सोम प्रिय गुणविशिष्टादि हमारे पदार्थ हैं, वे सब अर्पित हैं। सो आप हे कृपालो ! "अरातीयतः" दुष्ट शत्रु जो हम धर्मात्माओं का विरोधी उसके "वेद" धनैश्वर्यादि का "निदहाति' नित्य दहन करो जिससे वह दुष्टता को छोड़ के श्रेष्ठता को स्वीकार करे, तथा "नः" हमको "दुर्गाणि, विश्वा" सम्पूर्ण दुस्सह दुःखों से "पर्षदति" पार करके आप नित्य सुख को प्राप्त करो। "नावेव, सिन्धुम्" जैसे अति कठिन नदी वा समुद्र से पार होने के लिए नौका होती है, "दुरितात्यग्निः" वैसे ही हम को सब पापजनित अत्यन्त पीड़ाओं से पृथक् (भिन्न) करके संसार में और मुक्ति में ही परमसुख को शीघ्र प्राप्त करो ॥ ३३ ॥

पदार्थः—(जातवेदसे) उत्पन्नमात्र सब जगत् को जानने वाले के लिये सर्वत्र प्राप्त के लिये/सब में विद्यमान के लिये अर्पित करते हैं (सोमम्) जितने सोम=प्रिय गुण विशिष्ट आदि पदार्थों को (अरातीयतः) धर्मातमाओं के विरोधी दुष्ट शत्रु के (निदहाति) नित्य दहन करो (वेदः) धन ऐश्वर्य आदि का (सः) आप (नः) हम को (पर्षदति) पार करके नित्य सुख को प्राप्त करो (दुर्गाणि) दुःसह

दुःखों से (विश्वा) सम्पूर्ण (नावा) नौका से (इव) जैसे (सिन्धुम्) अति कठिन नदी वा समुद्र को (दुरिताति) सब पाप जनित अत्यन्त पीड़ाओं से पृथक् कर (अग्निः) परम सुख ॥

अन्वयः—यस्मै जातवेदसे जगदीश्वराय वयं सोमं सुनवाम यश्चारातीयतो वेदो निदहाति सोऽग्निर्नावेव सिन्धुं नोऽतिदुर्गाण्यति-दुरिता विश्वा पर्षत् सोऽस्मान्वेषणीयः ॥

मूल स्तुति

स वज्रभृद्दस्युहा भीम उग्रः सहस्रचेताः शतनीथ ऋभ्वा। चम्रीषो न शवसा पाञ्चजन्यो मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ।। ३४ ।। ऋ० १ । ७ । १० । १२ ।।

व्याख्यान—हे दुष्टनाशक परमात्मन् ! आप "वज्रभृत्" अच्छेद्य (दुष्टों के छेदक) सामर्थ्य से सर्वशिष्टहितकारक, दुष्टविनाशक जो न्याय, उसको धारण कर रहे हो। "प्राणो वा वज्रः" इत्यादि शतपथादि का प्रमाण है, अतएव "दस्युहा" दुष्ट पापी लोगों का हनन करने वाले हो। "भीमः" आप की न्याय आज्ञा को छोड़नेवालों पर भयङ्कर भय देनेवाले हो। "सहस्रचेताः" सहस्रों विज्ञानादि गुण वाले आप ही हो। "शतनीथः" सैकड़ों असंख्यात पदार्थों की प्राप्ति करानेवाले हो। "ऋभ्वा" अत्यन्त विज्ञानादि प्रकाशवाले हो और सब के प्रकाशक हो, तथा महान् वा महाबलवाले हो। "न, चम्रीषः" किसी की चमू (सेना) में वश को प्राप्त नहीं होते हो। "शवसा, पाञ्चजन्यः" स्वबल से आप पाञ्चजन्य (पाँच प्राणों के) जनक हो। "मरुत्वान्" सब प्रकार के वायुओं के आधार तथा चालक हो, सो आप "इन्द्रः" हमारी रक्षा के लिये प्रवृत्त हों, जिससे हमारा कोई काम न बिगड़े ।। ३४ ।।

पदार्थः—(सः) सो आप (वज्र भृत्) सर्वशिष्टहितकारक दुष्टविनाशक न्याय को धारण करने वाले (दस्युहा) दुष्ट पापी लोगों का हनन करने वाले (भीमः) आप की न्याय-आज्ञा को छोड़ने वालों पर भय देने वाले (उग्रः) भयङ्कर (सहस्रचेताः) सहस्रों विज्ञानादि गुण वाले (शतनीथः) सैंकड़ों असंख्यात पदार्थों की प्राप्ति कराने वाले

(ऋभ्वा) अत्यन्त विज्ञानादि प्रकाश वाले, सब के प्रकाशक, महान् महाबल, वाले (चम्रीषः) चमू (सेना) में वश को प्राप्त (न) नहीं (शवसा) स्वबल से (पाञ्चजन्यः) पाँच प्राणों के जनक (मरुत्वान्) सब प्रकार के वायुओं के आधार तथा चालक (नः) हमारी (भवतु) प्रवृत्त हों (इन्द्र) इन्द्र (ऊती) रक्षा के लिए ।।

अन्वयः—हे दुष्टनाशक परमात्मन् ! यस्त्वं वज्रभृद् दस्युहा भीम उग्रः सहस्रचेताः शतनीथ ऋभ्वा न चम्रीषः शवसा पाञ्चजन्यो मरुत्वान्, स इन्द्रो नोऽस्माकमूती भवतु ।।
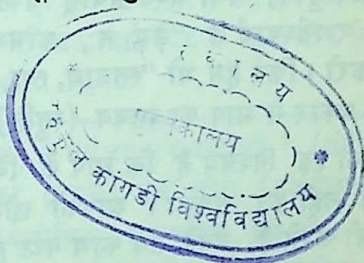
मूल प्रार्थना

सेमं नः काममापृण गोभिरश्वैः शतक्रतो ।
स्तवाम त्वा स्वाध्यः ॥ ३५ ॥ ऋ० १ । १ । ३१ । ९ ॥

व्याख्यान—हे "शतक्रतो" अनन्त क्रियेश्वर ! आप असंख्यात विज्ञानादि यज्ञों से प्राप्य हो तथा अनन्तक्रियायुक्त हो, सो आप "गोभिरश्वैः" गाय, उत्तम इन्द्रिय, श्रेष्ठ पशु, सर्वोत्तम अश्वविद्या (विज्ञानादि युक्त) तथा अश्व अर्थात् श्रेष्ठ घोड़ा आदि पशुओं और चक्रवर्ती राज्यैश्वर्य्य से "सेमं, नः, काममापृण" हमारे काम को परिपूर्ण करो । फिर हम भी "स्तवाम, त्वा, स्वाध्यः" सुबुद्धियुक्त हो के उत्तम प्रकार से आप का स्तवन (स्तुति) करें ।

हम को दृढ़ निश्चय है कि आप के बिना दूसरा कोई किसी का काम पूर्ण नहीं कर सकता । आपको छोड़ के दूसरे का ध्यान वा याचना जो करते हैं, उनके सब काम नष्ट हो जाते हैं ॥ ३५ ॥

पदार्थः—(सः) सो आप (इमम्) इस (नः) हमारे (कामम्) काम को (आपृण) परिपूर्ण करो (गोभिः) गाय, उत्तम इन्द्रिय, श्रेऽठ पशुओं से (अश्वैः) सर्वोत्तम अश्वविद्या और चक्रवर्त्ती राज्यैश्वर्य से (शतक्रतो) हे अनन्त क्रियेश्वर ! (स्तवाम) हम स्तवन (स्तुति) करें (त्वा) आपका (स्वाध्यः) सुबुद्धियुक्त हो के ॥

अन्वयः—हे शतक्रतो जगदीश्वर ! यं त्वा स्वाध्यो वयं त्वां स्तवामः स्तुवेम स त्वं गोभिरश्वैर्नोऽस्माकं काममापृण समन्तात् प्रपूरय ॥

मूल स्तुति

सोमं गीर्भिष्ट्वा वयं वर्द्धयामो वचोविदः । सुमृळीको न आविश ॥ ३६ ॥ ऋ० १ । ६ । २१ । ११ ॥

व्याख्यान—हे "सोम" सर्वजगदुत्पादकेश्वर ! आप को "वचोविदः" शास्त्रवित् हम लोग स्तुतिसमूह से "वर्द्धयामः" सर्वोपरि विराजमान मानते हैं, "सुमृळीको, नः, आविश" क्योंकि हम को सुन्दर सुख देनेवाले आप ही हो, सो कृपा करके हम को आप आवेश करो, जिससे हम लोग अविद्या अन्धकार से छूट और विद्यासूर्य को प्राप्त हो के आनन्दित हों ॥ ३६ ॥

पदार्थः—(सोम) हे सर्वजगदुत्पादकेश्वर ! (गीर्भिः) स्तुतिसमूह से (त्वा) आपको (वयम्) हम लोग (वर्द्धयामः) सर्वोपरि विराजमान मानते हैं (वचोविदः) शास्त्रवित् हम लोग (सुमृळीकः) सुन्दर सुख देने वाले (नः) हमको (आविश) आप आवेश करो ॥

अन्वयः—हे सोम ! यतः सुमृळीको वैद्यस्त्वं नोऽस्मानाविश, तस्मात् त्वा त्वां वचोविदो वयं गीर्भिर्नित्यं वर्द्धयामः ॥

मूल प्रार्थना

सोम रारन्धिनो हृदि गावो न यवसेष्वा । मर्य इव स्व ओक्ये ॥ ३७ ॥ ऋ० १ । ६ । २१ । १३ ॥

व्याख्यान—हे "सोम" सोम्य सौख्यप्रदेश्वर ! आप कृपा करके "रारन्धि, नो, हृदि" हमारे हृदय में यथावत् रमण करो। (दृष्टान्त)—जैसे सूर्य्य की किरण, विद्वानों का मन और गाय-पशु अपने-अपने विषय और घासादि में रमण करते हैं,* वा जैसे 'मर्य्य, इव. स्व, ओक्ये" मनुष्य अपने घर में रमण करता है, वैसे ही आप सदा स्वप्रकाशयुक्त हमारे हृदय (आत्मा) में रमण कीजिये । जिससे हमको यथार्थ सर्वज्ञान और आनन्द हो ॥ ३७ ॥

पदार्थः—(सोम) हे सोम्य सौख्यप्रदेश्वर (रारन्धि) रमण करो (नः) हमारे (हृदि) हृदय में (गावः) सूर्य की किरण, विद्वानों का मन, और गाय पशु (न) जैसे (यवसेषु) अपने-अपने विषय और घास आदि में (आ) यथावत् (मर्य) मनुष्य (इव) जैसे (स्वे) अपने (ओक्ये) घर में ॥

अन्वयः—हे सोम ! यतस्त्वमयं च नो हृदि नेव यवसेषु गावो स्व ओक्ये मर्य इवारारन्धि समनाद् रमस्व रमते वा । तस्मात् सर्वैः सदा सेवनीयः ॥

---

* दृष्टान्त का एकदेश रमणमात्र लेना ।

मूल स्तुति

गयस्फानों अमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्द्धनः । सुमित्रः सोम नो भव ॥ ३८ ॥ ऋ० १ । ६ । २१ । १२ ॥

व्याख्यान—हे परमात्मभक्त जीवो ! अपना इष्ट जो परमेश्वर, सो "गयस्फानः" प्रजा, धन, जनपद और सुराज्य का बढ़ानेवाला है, तथा "अमीवहा" शरीर, इन्द्रियजन्य और मानस रोगों का हनन=विनाश करनेवाला है । "वसुवित्" सब पृथिव्यादि वसुओं का जाननेवाला है, अर्थात् सर्वज्ञ और विद्यादि धन का दाता है । "पुष्टिवर्धनः" अपने शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा की पुष्टि को बढ़ानेवाला है । "सुमित्रः, सोम, नो, भव" सुन्दर यथावत् सब का परममित्र वही है, सो अपने उससे यह मांगें कि हे सोम=सर्वजगदुत्पादक ! आप ही कृपा करके हमारे सुमित्र हो, और हम भी सब जीवों के मित्र हों, तथा अत्यन्त मित्रता आप से भी रक्खें ॥ ३८ ॥

पदार्थः—(गयस्फानः) प्रजा, धन, जनपद और सुराज्य का बढ़ाने वाला (अमीवहा) शरीर, इन्द्रियजन्य और मानस रोगों का हनन=विनाश करनेवाला (वसुवित्) सब पृथिवी आदि वसुओं का जानने वाला/ सर्वज्ञ/ विद्यादि धन का दाता (पुष्टिवर्द्धनः) शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा की पुष्टि का बढ़ाने वाला (सुमित्रः) सबका परम मित्र (सोम) हे सर्वजगदुत्पादक ! (नः) हमारे (भव) हो ॥

अन्वयः—हे सोम ! यतस्त्वं नोऽस्माकं गयस्फानोऽमीवहा-वसुवित् सुमित्रः पुष्टिवर्धनो भव भवसि वा तस्माद् अस्माभिः सेव्यः ॥

मूल प्रार्थना।

त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि। अप नः शोशुचदघम् ॥ ३९ ॥ ऋ० । १ । ७ । ५ । ६ ॥

व्याख्यान—हे अग्ने परमात्मन्! "त्वं हि" तू ही "विश्वतः परिभूरसि" सब जगत्, सब ठिकानों में व्याप्त हो, अतएव आप विश्वतोमुख हो। हे सर्वतोमुख अग्ने! आप स्वशक्ति से सब जीवों के हृदय में सत्योपदेश नित्य ही कर रहे हो, वही आप का मुख है। हे कृपालो! "अप, नः, शोशुचदघम्" आप की इच्छा से हमारा पाप सब नष्ट हो जाय, जिससे हम लोग निष्पाप हो के आप की भक्ति और आज्ञापालन में नित्य तत्पर रहें ॥ ३९ ॥

पदार्थः—(त्वम्) तू (हि) ही (विश्वतोमुख) हे सर्वतोमुख अग्ने! (विश्वतः) सब जगत्, सब ठिकानों में (परिभूः) व्याप्त (असि) हो (नः) हमारा (अप-शोशुचत्) सब नष्ट हो जाय (अघम्) पाप ॥

अन्वयः—हे विश्वतोमुख जगदीश्वर! यतस् त्वं हि खलु विश्वतः परिभूरसि तस्माद् भवान् नोऽस्माकमघमपशोशुचद् ॥

मूल स्तुति

तमीळत प्रथमं यज्ञसाधं विश आरीराहुतमृञ्जसानम् ।
ऊर्जः पुत्रं भरतं सृप्रदानुं देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम् ॥४०॥
ऋ० १ । ७ । ३ । ३ ॥

व्याख्यान—हे मनुष्यो ! "तमीळत" उस अग्नि की स्तुति करो, कि जो "प्रथमम्" सब कार्यों से पहिले वर्त्तमान और सब का आदि कारण है, तथा "यज्ञसाधम्" सब संसार और विज्ञानादि यज्ञ का साधक (सिद्ध करने वाला), सब का जनक है ।

हे "विशः" मनुष्यो ! उसी को स्वामी मानकर "आरीः" प्राप्त होओ जिसको अपने दीनता से कहते हैं, विज्ञानादि से विद्वान् लोग सिद्ध करते, और जानते हैं ।

"ऊर्जः पुत्रं, भरतम्" पृथिव्यादि जगत्रूप अन्न का पुत्र अर्थात् पालन करनेवाला, तथा भरत अर्थात् उसी अन्न का पोषण और धारण करनेवाला है "सृप्रदानुम्" सब जगत् को चलने की शक्ति देनेवाला और ज्ञान का दाता है, उसी को "देवा अग्नि धारयन्द्रविणोदाम्" देव (विद्वान् लोग) अग्नि कहते और धारण करते हैं । वही सब जगत् को द्रविण अर्थात् निर्वाह के सब अन्न जलादि पदार्थ और विद्यादि पदार्थों का देनेवाला है ।

उस अग्नि परमात्मा को छोड़ के अन्य किसी की भक्ति, याचना कभी किसी को न करनी चाहिये ॥ ४० ॥

पदार्थः—(तम्) उस अग्नि की (ईळत) स्तुति करो (प्रथमम्) सब कार्यों से पहले वर्तमान और सब का मुख्य कारण (यज्ञसाधम्) सब संसार और विज्ञानादि यज्ञ का साधक, सबका जनक (विशः) हे

मनुष्यो ! (आरीः) प्राप्त हो ओ (आहुतम्) जिसको अपने दीनता से कहते हैं। जिसको अपने पुकारते हैं (ऋञ्जसानम्) जिसको विज्ञान आदि से विद्वान् लोग सिद्ध करते हैं और जानते हैं (ऊर्जः) पृथिवी आदि जगत् रूप अन्न का (पुत्रम्) पालन करने वाले को (भर-तम्) जगत् के पोषण और धारण करने वाले को (सुप्रदानुम्) सब जगत् को चलने की शक्ति देने वाले और ज्ञान के दाता को (देवाः) विद्वान् लोग (अग्निम्) अग्नि (धारयन्) कहते हैं और धारण करते हैं (द्रविणोदाम्) द्रविण अर्थात् निर्वाह के सब अन्न जल आदि और विद्यादि पदार्थों के देने वाले को ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यं प्रथमं यज्ञसाधम् ऋञ्जसानं विद्वद्भिराहुतमारीर्विशो भरतं सुप्रदानुम् ऊर्जः पुत्रं प्राणं च जनयन्तं द्रविणोदामग्निं देवा धारयन् धरन्ति धारयन्ति वा तं परमेश्वरं यूयं नित्यमीळत ॥

मूल प्रार्थना

तमूतयों रणयञ्छूरसातौ तं क्षेमस्य क्षितयः कृण्वत त्राम् ।
स विश्वस्य करुणस्येश एको मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ॥४१॥
ऋ० १ । ७ । ९ । ७ ॥

व्याख्यान—हे मनुष्यो ! "तमूतयः" उसी इन्द्र परमात्मा की प्रार्थना तथा शरणागति से अपने को "ऊतयः" अनन्त रक्षण तथा बलादि गुण प्राप्त होंगे, "शूरसातौ" युद्ध में अपने को यथावत् "रणयन्" रमण और रणभूमि में शूरवीरों के गुण परस्पर प्रीत्यादि प्राप्त करावेगा ।

"तं क्षेमस्य, क्षितयः" हे शूरवीर मनुष्यो ! उसी को क्षेम= कुशलता का "त्राम्" रक्षक "कृण्वत" करो, जिससे अपना पराजय कभी न हो । क्योंकि "सः, विश्वस्य" सो करुणामय सब जगत् पर करुणा करनेवाला "एकः" एक ही है; अन्य कोई नहीं । सो परमात्मा "मरुत्वान्" प्राण, वायु, बल, सेनायुक्त "ऊती" (ऊतये) सम्यक् हम लोगों पर कृपा से रक्षक हो । जिसकी रक्षा से हम लोग कभी पराजय को न प्राप्त हों ॥ ४१ ॥

पदार्थः—(तम्) उसी इन्द्र परमात्मा की प्रार्थनादि से (ऊतयः) अनन्त रक्षण तथा बलादि गुण (शूरसातौ) युद्ध में (रणयन्) रमण और शूरवीरों के गुण परस्पर प्रीति आदि प्राप्त करावेगा (तम्) उसी को (क्षेमस्य) क्षेम कुशलता का (क्षितयेः) हे शूरवीर मनुष्यो ! (त्राम्) रक्षक (कृण्वत) करो (सः) सो (विश्वस्य) सब जगत् पर (करुणस्य) करुणामय, करुणा करने वाला (ईशः) परमात्मा (एकः) एक ही है (मरुत्वान्) प्राण, वायु बल सेना युक्त (नः) हम लोगों पर (भवतु) हो (इन्द्रः) परमात्मा (ऊती) रक्षक ॥

अन्वयः—यमूतयो भजन्तु तं शूरसातौ क्षितयस्त्रां कृण्वन्तु कुर्वन्तु । यः क्षेमस्य कर्त्ता तं त्रां कुर्वन्तो शूरसातौ रणयन् । य एको विश्वस्य करुणस्येशे स मरुत्वानिन्द्रः सेनादिरक्षको न ऊती भवतु ॥

●

मूल स्तुति

स पूर्व॑या नि॒विदा॑ क॒व्यता॒योरि॒माः प्र॒जा अ॑जनय॒न्मनू॑नाम् । वि॒वस्व॑ता॒ चक्ष॑सा॒ द्याम॒पश्च॑ दे॒वा अ॒ग्निं धा॑रयन्द्रवि॒णो॒दाम् ॥ ४२ ॥ ऋ० १ । ७ । ३ । २ ॥

व्याख्यान—हे मनुष्यो ! सो ही "पूर्वया, निविदा" आदि सनातन, सत्यता आदि गुणयुक्त अग्नि परमात्मा था, अन्य कोई नहीं था, तब सृष्टि के आदि में स्वप्रकाशस्वरूप एक ईश्वर ने प्रजा की उत्पत्ति की, ईक्षणता (विचार) करता हुआ "कव्यतायोः" और परस्पर मनुष्य और पश्वादि के व्यवहार चलने के लिए सर्वज्ञता आदि सत्यविद्यायुक्त वेदों को तथा "मनूनाम्" मननशील मनुष्यों की तथा अन्य पशु, वृक्षादि की भी "प्रजाः" प्रजा को "अजनयत्" उत्पन्न किया, इनमें उन मनन शील मनुष्यों को अवश्य स्तुति करने योग्य वही है । "विवस्वता चक्षसा" और उसी ने सूर्यादि तेजस्वी सब पदार्थों के प्रकाशने वाले बल से स्वर्ग (सुख विशेष) सबलोक "अपः" अन्तरिक्ष में पृथिव्यादि मध्यम लोक और निकृष्ट दुःखविशेष नरक और सब दृश्यमान तारे आदि लोकलोकान्तर रचे हैं । जो ऐसा सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर है, उसी "द्रविणोदाम्" विज्ञानादि धन देने वाले को "देवाः" विद्वान् लोग अग्नि जानते हैं । हम लोग उसी को भजें ॥ ४२ ॥

पदार्थः—(सः) सो ही (पूर्वया) आदिसनातन (निविदा) सत्यता आदि गुण युक्त परमात्मा था (कव्यता) अन्य कोई कार्य नहीं था (आयोः) सृष्टि के आदि में (इमाः) इस (प्रजाः) प्रजा की (अजनयत्) उत्पत्ति की (मनूनाम्) ज्ञानस्वरूप (विवस्वता) स्वप्रकाश-स्वरूप एक ईश्वर ने (चक्षसा) ईक्षणता=विचार (द्याम्) सब दृश्य-मान तारे आदि लोकलोकान्तर (अपः) निकृष्ट दुःखविशेष नरक (च) और (देवाः) विद्वान् लोग (अग्निम्) अग्नि (धारयन्) जानते हैं (द्रविणोदाम्) विज्ञानादि धन देने वाले को ॥

अन्वयः—मनुष्यैर्यः पूर्वया निविदा कव्यतामनूनामायोरिमाः प्रजा अजनयज्जनयति विवस्वता चक्षसा द्यामपः पृथिव्योषध्यादिकं च यं द्रविणोदामग्निं परमेश्वरं देवा धारयन् धारयन्ति स नित्यम् उपासनीयः ॥

मूल प्रार्थना

वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंशमुदवा भरें भरे।
अस्मभ्यमिन्द्र वरिवः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन्वृष्ण्या।
रुज ॥ ४३ ॥ ऋ० १ । ७ । १४ । ४ ॥

व्याख्यान—हे इन्द्र परमात्मन् ! "त्वया, युजा, वयं, जयेम" आपके साथ वर्त्तमान आप की सहयता से हम लोग दुष्ट शत्रुजन को जीतें। कैसा वह शत्रु ? कि "आवृतम्" हमारे बल से घेरा हुआ।

हे महाराजाधिराजेश्वर ! "भरे भरे अस्माकमंशमुदवा" युद्ध-युद्ध में हमारे अंश (बल) सेना का "उदवा" उत्तम रीति से कृपा करके रक्षरण करो, जिससे किसी युद्ध में क्षीण होके हम पराजय को न प्राप्त हों, किन्तु जिनको आप की सहयता है उनका सर्वत्र विजय होता ही है।

हे "इन्द्रमघवन्" महाधनेश्वर ! "शत्रूणां, वृष्ण्या" हमारे शत्रुओं के वीर्य्य पराक्रमादि को "प्ररुज" प्रभग्न रुग्ण करके नष्ट कर दे "अस्मभ्यमिन्द्र वरिवः, सुगं, कृधि" हमारे लिये चक्रवर्ती राज्य और साम्राज्य धन को "सुगम्" सुख से प्राप्त कर अर्थात् आपकी करुणा से हमारा राज्य और धन सदा वृद्धि को प्राप्त हो ॥ ४३ ॥

पदार्थः—(वयम्) हम लोग (जयेम) दुष्ट जन को जीतें (त्वया) आपके साथ वर्त्तमान (युजा) आपकी सहायता से (आवृतम्) हमारे बल से घेरा हुआ (अस्माकम्) हमारे (अंशम्) अंश (बल) सेना को (उदवा) उत्तम रीति से रक्षरण करो (भरे भरे) युद्ध-युद्ध में (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (इन्द्र मघवन्) हे महाधनेश्वर ! (वरिवः) चक्रवर्त्ती राज्य और साम्राज्य धन को (सुगम्) सुख से प्राप्त

(कृधि) कर (शत्रूणाम्) हमारे शत्रुओं के (मघवन्) महाधनेश्वर (वृष्ण्या) वीर्य पराक्रमादि को (प्र-रुज) प्रभग्न, रुग्ण करके नष्ट कर दे ॥

अन्वयः—हे इन्द्र परमात्मन् ! वयं त्वया युजा आवृतं शत्रुं जयेम । हे महाराजाधिराजेश्वर ! त्वं भरे भरे अस्माकमंशं सेनाम् उदवा । हे इन्द्र मघवन् महाधनेश्वर ! त्वं शत्रूणां वृष्ण्या प्ररुज । अस्माकं वरिवः सुगं कृधि ॥

मूल स्तुति

यो विश्वस्य जगतः प्राणतस्पतिर्यो ब्रह्मणे प्रथमो गा अविन्दत्। इन्द्रो यो दस्यूँरधराँ अवातिरन् मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे ॥ ४४ ॥ ऋ० १ । ७ । १२ । ५ ॥

व्याख्यान—हे मनुष्यो ! जो सब जगत् (स्थावर) जड़ अप्राणी का और "प्राणतः" चेतनावाले जगत् का "पतिः" अधिष्ठाता और पालक है, तथा जो सब जगत् के प्रथम सदा से है और "ब्रह्मणे, गाः, अविन्दत्" जिसने यही नियम किया है कि ब्रह्म अर्थात् विद्वान् के ही लिये पृथिवी का लाभ और उसका राज्य है। और जो "इन्द्रः" परमैश्वर्यवान् परमात्मा, डाकुओं को "अधरान्" नीचे गिराता है तथा उनको मार ही डालता है।

"मरुत्वन्तं सख्याय, हवामहे" आओ मित्रो भाई लोगो ! अपने सब संप्रीति से मिल के मरुत्वान् अर्थात् परमानन्त बल वाले इन्द्र परमात्मा को सखा होनें के लिये अत्यन्त प्रार्थना से गद्‌गद् हो के बुलावें।

वह शीघ्र ही कृपा करके अपने से सखित्व (परममित्रता) करेगा, इसमें कुछ सन्देह नहीं ॥ ४४ ॥

पदार्थः—(यः) जो (विश्वस्य) सब का (जगतः) जगत् (स्थावर) जड़ अप्राणी का (प्राणतः) चेतना वाले जगत् का (पतिः) अधिष्ठाता और पालक (यः) जो (ब्रह्मणे) ब्रह्म अर्थात् विद्वान् के लिये ही (प्रथमः) प्रथम सदा से है (गाः) पृथिवी का (अविन्दत्) लाभ और उसका (पृथिवी का) राज्य है (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (यः) जो (दस्यून्) डाकुओं को (अधरान्) नीचे (अवातिरत्) गिराता

है । (मरुत्वन्तम्) उस परमानन्द, बलवाले इन्द्र परमात्मा को (सख्याय) सखा होने के लिये (हवामहे) अत्यन्त प्रार्थना से गद्गद् होके बुलावें ॥

अन्वयः—यः प्रथम इन्द्र ब्रह्मणे गा अविन्दत् । यो दस्यूनधरानवातिरत् । यो विश्वस्य जगतः प्राणतस्पतिर्वर्त्तते तं मरुत्वन्तं सख्याय वयं हवामहे ॥

मूल प्रानार्थ

मृळा नों रुद्रोत नो॑ मयंस्कृधि क्षयद्वीराय॒ नम॑सा विधेम ते। यच्छं च॒ योश्च॒ मनु॑राये॒जे पि॒ता तद॑श्याम॒ तव॑ रुद्र॒ प्रणी॑तिषु॥ ४५॥ ऋ० १।८।५।२॥

व्याख्यान—हे दुष्टों को रुलानेहारे रुद्रेश्वर! हमको "मृड" सुखी कर, तथा "मयस्कृधि" हम को मय अर्थात् अत्यन्त सुख का सम्पादन कर "क्षयद्वीराय, नमसा, विधेम, ते" शत्रुओं के वीरों का क्षय करनेवाले, अत्यन्त नमस्कारादि से आपकी परिचर्या करनेवाले, हम लोगों का रक्षण यथावत् कर।

"यच्छम्" हे रुद्र! आप हमारे पिता (पालक) हो, हमारी सब प्रजा को सुखी कर। "योश्च" प्रजा के रोगों का भी नाश कर।

जैसे "मनुः" मान्यकारक पिता "आयेजे" स्वप्रजा को संगत और अनेक विध लाड़न करता है वैसे आप हमारा पालन करो।

हे रुद्र भगवन् "तव, प्रणीतिषु" आपकी आज्ञा का प्रणय अर्थात् उत्तम न्याययुक्त नीतियों में प्रवृत्त होके "तदश्याम" वीरों के चक्रवर्त्ती राज्य को आप के अनुग्रह से प्राप्त हों॥ ४५॥

पदार्थः—(मृळ) सुखी कर (नः) हम को (रुद्र) हे दुष्टों को रुलाने वाले रुद्रेश्वर (उत) तथा (नः) हमको (मयस्कृधि) मय अर्थात् अत्यन्त सुख का सम्पादन कर (क्षयद्वीराय) शत्रुओं के वीरों का क्षय करने वाले (नमसा) अत्यन्त नमस्कार आदि से (विधेम) परिचर्या करें (ते) आपकी (यत्) हमारी सब प्रजा को (शम्) सुखी कर (योः) प्रजा के (च) रोगों का भी (मनुः) मान्यकारक (आयेजे) स्वप्रजा को संगत और अनेकविध लाडन करता है (पिता) पिता (तद्) वीरों के

चक्रवर्त्ती राज्य को (अश्याम) प्राप्त हों (तव) आपकी (रुद्र) हे रुद्र भगवन् (प्रणीतिषु) उत्तम न्याययुक्त नीतियों में ॥

अन्वयः—हे रुद्र ! ये वयं क्षयद्वीराय ते तुभ्यन्नमसा विधेम तान् नो त्वं मृड नोऽस्मभ्यं मयस्कृधि च। हे रुद्र ! मनुः पितेव भवान् यत् शं च योश्चायेजे तदश्याम त उत वयं तव प्रणीतिषु वर्त्तमाना सततं सुखिनः स्याम।

मूल स्तुति

देवो न यः पृ॑थि॒वीं वि॒श्वधा॑या उप॒क्षेति॑ हि॒तमि॑त्रो॒ न राजा॑ ।
पु॒रः॒सदः॑ शर्म॒सदो॒ न वी॒रा अ॑नव॒द्या पति॑जुष्टेव॒ नारी॑ ॥ ४६ ॥
ऋ० १ । ५ । १९ । ३ ॥

व्याख्यान—हे प्रियबन्धु विद्वानो ! "देवो, न" ईश्वर सब जगत् के बाहर और भीतर सूर्य के समान प्रकाश कर रहा है, "यः, पृथिवीम्" जो पृथिव्यादि जगत् को रच के धारण कर रहा है और "विश्वधाया, उपक्षेति" विश्वधारक शक्ति का भी निवास देने और धारण करनेवाला है, तथा जो सब जगत् का परममित्र अर्थात् जैसे "हितमित्रो, न, राजा" प्रियमित्रवान् राजा अपनी प्रजा का यथावत् पालन करता है, वैसे ही हम लोगों का पालनकर्त्ता वही एक है; और कोई भी नहीं।

"पुरः सदः, शर्मसदो न, वीराः" जो जन ईश्वर के पुरःसद हैं (ईश्वराभिमुख ही हैं) वे ही शर्मसदः अर्थात् सुख में सदा स्थिर रहते हैं, वा जैसे "न वीराः" पुत्र लोग अपने पिता के घर में आनन्दपूर्वक निवास करते हैं, वैसे ही जो परमात्मा के भक्त हैं वे सदा सुखी रहते हैं। परन्तु जो अनन्यचित्त होके निराकार सर्वत्र व्याप्त ईश्वर की सत्य श्रद्धा से भक्ति करते हैं।

जैसे कि "अनवद्या, पतिजुष्टेव, नारी" अत्यन्तोत्तमगुणयुक्त पति की सेवा में तत्पर पतिव्रता नारी (स्त्री) रात-दिन तन, मन, धन और अतिप्रेम से अनुकूल रहती है, वैसे प्रेमप्रीतियुक्त होके आओ भाई लोगो ! ईश्वर की भक्ति करें, और अपने सब मिल के परमात्मा से परमसुख लाभ उठावें ॥ ४६ ॥

पदार्थः—(देवः) ईश्वर/सूर्य (न) समान (यः) जो (पृथिवीम्) पृथिव्यादि जगत् को (विश्वधायाः) विश्वधारक शक्ति का (उपक्षेति) निवास देने और धारण करने वाला है (हितमित्रः) प्रियमित्रवान् (न) समान (राजा) राजा (पुरःसदः) ईश्वराभिमुख लोग (शर्मसदः) सुख में सदा स्थिर लोग (न) जैसे (वीराः) पुत्र लोग (अनवद्या) अत्यन्तोत्तमगुणयुक्त (पतिजुष्टा) पति की सेवा में तत्पर पतिव्रता (इव) जैसे (नारी) नारी=स्त्री ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यूयं यो देवः पृथिवीं न विश्वधाया हितमित्रो राजा नोपक्षेति पुरःसदः शर्मसदो वीरा न दुःखानि शत्रून् विनाशयति । अनवद्या नारी पतिजुष्टेव सुखे निवासयति तं सदा समाहिता भूत्वा यथावत् परिचरत ॥

मूल प्रार्थना

सा मा सत्योक्तिः परि पातु विश्वतो द्यावा च यत्र ततनन्नहानि च । विश्वमन्यन्निविशते यदेजति विश्वाहापो विश्वाहोदेति सूर्यः ॥ ४७ ॥ ऋ० ७ । ८ । १२ । २ ॥

व्याख्यान—हे सर्वाभिरक्षकेश्वर ! "सा मा सत्योक्तिः" आप की सत्य आज्ञा जिसका हमने अनुष्ठान किया वह "विश्वतः, परिपातु, नः" हमको सब संसार से सर्वथा पालन और सब दुष्ट कामों से सदा पृथक् रक्खे कि कभी हमको अधर्म करने की इच्छा भी न हो, "द्यावा, च" और दिव्य सुख से सदा युक्त करके यथावत् हमारी रक्षा करे ।

"यत्र" जिस दिव्य सृष्टि में "अहानि" सूर्यादिकों को दिवस आदि के होने के निमित्त "ततनन्" आपने ही विस्तारे हैं, वहाँ भी हमारा सब उपद्रवों से रक्षण करो ।

"विश्व मन्य०" आप से अन्य (भिन्न) विश्व अर्थात् सब जगत् जिस समय आपके सामर्थ्य से (प्रलय में) "नि विशते" प्रवेश करता है (कार्य सब कारणात्मक होता है), उस समय में भी आप हमारी रक्षा करो । "यदेजति" जिस समय यह जगत् आप के सामर्थ्य से चलित होके उत्पन्न होता है, उस समय भी सब पीड़ाओं से आप हमारी रक्षा करें ।

"विश्वाहापो, विश्वाहा" जो-जो विश्व का हन्ता (दुःख देनेवाला) उसको आप नष्ट कर देओ, क्योंकि आप के सामर्थ्य से सब जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय होता है । आपके सामने कोई राक्षस (दुष्टजन) क्या कर सकता है ? क्योंकि आप सब जगत् में उदित (प्रकाशमान) हो रहे हो । परन्तु सूर्य्यवत् हमारे हृदय में कृपा करके

प्रकाशित होओ, जिससे हमारी अविद्यान्धकारता सब नष्ट हो ॥ ४७ ॥

पदार्थः—(सा) वह (मा) हमको/हमारी/हमारा (सत्योक्तिः) सत्य-आज्ञा (परिपातु) सर्वथा पालन और सदा पृथक् रखे/यथावत् रक्षा करे (विश्वतः) सब संसार से और सब दुष्ट कामों से (द्यावा) दिव्य सुख से (च) और (यत्र) जिस दिव्य सृष्टि में (ततनन्) आपने ही विस्तारे हैं (अहानि) सूर्यादिकों को दिवस आदि के होने के निमित्त (च) भी (विश्वम्) सब जगत् (अन्यत्)। आप से अन्य= भिन्न (निविशते) आपके सामर्थ्य से प्रलय में प्रवेश करता है=कार्य सब कारणात्मक होता है (यद्) जिस समय यह जगत् (एजति) चलित होके उत्पन्न होता है (विश्वाहापः) विश्व के हन्ताओं से रक्षा करने वाला (विश्वाहा) जो जो विश्व का हन्ता (दुःख देने वाला) (उदेति) आप सब जगत् में उदित (प्रकाशमान) हो रहे हो (सूर्यः) सूर्यवत् हमारे हृदय में प्रकाशित होओ ॥

अन्वयः—हे सर्वाभिरक्षकेश्वर ! सा सत्योक्तिर्विश्वतो मा पातु द्यावा च पातु। यत्राहानि च ततनन् तत्र पातु। यदा त्वदन्यद् विश्वं निविशते तदा पातु। यदा विश्वमेजति तदा पातु। हे सर्वाभिरक्षकेश्वर ! विश्वाहापो विश्वाहा सन् सूर्यः सूर्यवद् भवान् उदेति ॥

मूल स्तुति

देवो देवानामसि मित्रो अद्भुतो वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे ।
शर्मन्त्स्याम तव सप्रथस्तमेऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥४८॥
ऋ० १ । ६ । ३२ । १३ ॥

व्याख्यान—हे मनुष्यो ! वह परमात्मा कैसा है ? कि हम लोग उसकी स्तुति करें । हे अग्ने परमेश्वर ! आप "देवो, देवानामसि" देवों (परमविद्वानों) के भी देव (परमविद्वान्) हो, तथा उनको परमानन्द देनेवाले हो, तथा "अद्भुतः" अत्यन्त आश्चर्य्यरूप मित्र सर्व-सुखकारक सब के सखा हो, "वसु०" पृथिव्यादि वसुओं के भी वास करानेवाले हो, तथा "अध्वरे" ज्ञानादि यज्ञ में "चारुः" अत्यन्त शोभायमान और शोभा के देनेवाले हो ।

हे परमात्मन् ! "सप्रथस्तमे सख्ये, शर्मणि तव" आप के अति-विस्तीर्ण, आनन्दस्वरूप सखाओं के कर्म में हम लोग स्थिर हों, जिससे हम को कभी दुःख न प्राप्त हो और आपके अनुग्रह से हम लोग परस्पर अप्रीतियुक्त कभी न हों ॥ ४८ ॥

पदार्थः—(देवः) देव=परमविद्वान् तथा परमानन्द देने वाले (देवानाम्) देवों को=परम विद्वानों को (असि) हो (मित्रः) मित्र, सर्वसुखकारक सबके सखा (अद्भुतः) अत्यन्त आश्चर्यरूप (वसुः) वास कराने वाले (वसूनाम्) पृथिवी आदि वसुओं के भी (असि) हो (चारुः) अत्यन्त शोभायमान और शोभा के देने वाले (अध्वरे) ज्ञानादि यज्ञ में (शर्मन्) आनन्दस्वरूप (स्याम) हम लोग स्थिर हों (तव) आपके (सप्रथस्तमे) अतिविस्तीर्ण में (अग्ने) हे अग्ने परमेश्वर !/परमात्मन् (सख्ये) आनन्दस्वरूप सखाओं के कर्म में (मा) कभी न (रिषाम) परस्पर अप्रीतियुक्त हों (वयम्) हम लोग (तव) आपके अनुग्रह से ॥

अन्वयः—हे अग्ने ! यतस्त्वमध्वरे देवानां देवोऽद्भुतश्चारुर्मित्रोऽसि वसूनां वसुरसि तस्मात्तव सप्रथस्तमे शर्मन् शर्मणि वयं सुनिश्चिताः स्याम तव सख्ये कदाचिन्मा रिषाम च ॥ ●

मूल प्रार्थना

मा नो॑ वधीरिन्द्र॒ मा परा॑ दा॒ मा नः॑ प्रि॒या भोज॑नानि॒ प्र मो॑षीः । आ॒ण्डा मा नो॑ मघवञ्छक्र॒ निर्भे॒न्मा न॒ः पात्रा॑ भेत्स॒हजा॑नुषाणि ॥ ४९ ॥ ऋ० १ । ७ । १९ । ८ ॥

व्याख्यान—हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्तेश्वर ! "मा, नो, वधीः' हमारा वध मत कर अर्थात् अपने से अलग हम को मत गिरावै, "मा परा दाः" हम से अलग आप कभी मत हो, "मा नः प्रिया०" हमारे प्रिय भोगों को मत चोर और मत चोरवावै ।

"आण्डा मा०" हमारे गर्भों का विदारण मत कर । हे "मघवन्" सर्वशक्तिमन् "शक्र" समर्थ हमारे पुत्रों का विदारण मत कर, "मा, नः, पात्रा" हमारे भोजनाद्यर्थ सुवर्णादि पात्रों को हम से अलग मत कर, "सहजानुषाणि" जो जो हमारे सहज अनुषक्त, स्वभाव से अनुकूल मित्र हैं, उनको आप नष्ट मत करो अर्थात् कृपा करके पूर्वोक्त सब पदार्थों की यथावत् रक्षा करो ॥ ४९ ॥

पदार्थः—(मा) मत (नः) हमारा/हमको (वधीः) वध कर/अलग गिराओ (इन्द्र) हे परमैश्वर्ययुक्तेश्वर ! (मा) कभी मत (परा) अलग (दाः) हो (मा) मत (नः) हमारे (प्रिया) प्रिय (भोजनानि) भोगों को (प्रमोषीः) चोर और चोरवावो (आण्डा) गर्भों का (मा) मत (नः) हमारे (मघवन्) हे सर्वशक्तिमन् ! (शक्र) समर्थ हमारे

पुत्रों का (निर्भेत्) विदारण कर (मा) मत (नः) हमारे/महत्ते (पात्रा) भोजनाद्यर्थं सुवर्णादि पात्रों को (भेत्) अलग कर/नष्ट करो (सहजानुषाणि) सहज अनुषक्त स्वभाव से अनुकूल मित्र हैं; उनको ।।

अन्वयः—हे मघवन् ! शक्रेन्द्र ! सभाधिपते ! त्वं नो मा वधीः मा परादाः । न सहजानुषाणि प्रिया भोजनानि मा प्रमोषीः । नोऽस्माकमाण्डा मा निर्भेत् । नोऽस्माकं पात्रा मा भेत् ।।

मूल प्रार्थना

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम् । मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः ॥ ५० ॥ ऋ० १ । ८ । ६ । ७ ॥

मा नस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः । वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे ॥ ५१ ॥ ऋ० १ । ८ । ६ । ८ ॥

व्याख्यान--हे "रुद्र" दुष्टविनाशकेश्वर ! आप हम पर कृपा करो, "मा, नो, व०" हमारे ज्ञानवृद्ध वयोवृद्ध पिता इनको आप नष्ट मत करो, तथा "मा नो अर्भकम्" छोटे बालक और "उक्षन्तम्" वीर्यसेचनसमर्थ जवान तथा जो गर्भ में वीर्य को सेचन किया है, उसको मत विनष्ट करो, तथा हमारे पिता, माता और प्रिय तनुओं (शरीरों) का "मा, रीरिषः" हिंसन मत करो, "मा, नस्तोके" कनिष्ठ, मध्यम और ज्येष्ठपुत्र, "आयौ" उमर "गोषु" गाय आदि पशु, अश्वेषु" घोड़ा आदि उत्तम यान हमारी सेना के शूरों में "हविष्मन्तः" यज्ञ के करनेवाले इनमें, "भामितः" क्रोधित और "मा रीरिषः" रोष-युक्त होके कभी प्रवृत्त मत हो। हम लोग आप को "सदमित्त्वा, हवामहे" सर्वदैव आह्वान करते हैं।

हे भगवन् रुद्र परमात्मन् ! आप से यही प्रार्थना है कि हमारी और हमारे पुत्र धनैश्वर्यादि की रक्षा करो ॥ ५० ॥ ५१ ॥

पदार्थः—(मा) मत (नः) हमारे (महान्तम्) ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध (पिता) को (उत) और (मा) मत (नः) हमारे (अर्भकम्) छोटे बालक को (मा) मत (नः) हमारे (उक्षन्तम्) वीर्यसेचनसमर्थ

जवान को (उत) तथा (मा) मत (नः) हमारे (उक्षितम्) जो गर्भ में वीर्य सेचन किया है उसको (मा) मत (नः) हमारे (वधीः) नष्ट करो (पितरम्) पिता को (मा) मत (उत) और (मातरम्) माता को (मा) मत (नः) हमारे (प्रियाः) प्रिय (तन्वः) तनुओं=शरीरों को (रुद्र) हे दुष्ट नाशकेश्वर ! (रीरषः) हिंसन करो ।।

पदार्थः—(मा) मत (नः) हमारे (तोके) कनिष्ठ पुत्र में (तनये) मध्यम और ज्येष्ठ पुत्रों में (मा) मत (नः) हमारी (आयौ) उमर में (मा) मत (नः) हमारी (गोषु) गाय आदि पशुओं में (मा) कभी मत (नः) हमारी (अश्वेषु) घोड़ा आदि उत्तम यानों में (रीरिषः) रोषयुक्त हो के प्रवृत्त हो (वीरान्) सेना के शूरों में (मा) मत (नः) हमारे (रुद्र) हे भगवन् रुद्र परमात्मन् ! (भामितः) क्रोधित (वधीः) नष्ट करो (हविष्मन्तः) यज्ञ करने वाले (सदम्) सदा (इत्) एव (त्वा) आपको (हवामहे) आह्वान करते हैं ।।

अन्वयः—हे रुद्र ! त्वं नोऽस्माकं महान्तं मा वधीरुतापि नोऽर्भकं मा वधीः । न उक्षन्तं मा वधीरुतापि न उक्षितं मा वधीः । न पितरं मा वधीरुत मातरं मा वधीः । नः प्रियास्तन्वस्तनू मा वधीरन्यायकारिणो दुष्टांश्च रीरिषः ।।

अन्वयः—हे रुद्र ! हविष्मन्तो वयं यतस् सदं त्वामिदेव हवामहे तस्माद् भामितस्त्वं नस्तोके तनये मा रीरिषो न आयौ मा रीरिषः । नो गोषु मा रीरिषः । नोऽश्वेषु मा रीरिषः । नो वीरान् मा वधीः ।।

मूल प्रार्थना

उद्गातेव शकुने साम गायसि ब्रह्मपुत्र इव सवनेषु शंससि । वृषेव वाजी शिशुमतीरपीत्या सर्वतो नः शकुने भद्रमा वद विश्वतो नः शकुने पुण्यमा वद ॥ ८२ ॥ ऋ० २।८।१२।२॥

आवदँस्त्वं शकुने भद्रमा वद तूष्णीमासीनः सुमतिं चिकिद्धि नः । यदुत्पतन् वदसि कर्करिर्यथा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ ८३ ॥ ऋ० २ । ८ । १२ । ३ ॥

व्याख्यान—हे "शकुने" सर्वशक्तिमन्नीश्वर ! आप साम-गान को गाते ही हो, वैसे ही हमारे हृदय में सब विद्या का प्रकाशित गान करो, जैसे यज्ञ में महापण्डित सामगान करता है वैसे आप भी हम लोगों के बीच में सामादि विद्या का प्रकाश कीजिये ।

"ब्रह्मपुत्र इव सवनेषु" आप कृपा से सवन (पदार्थविद्याओं) की "शंससि" प्रशंसा करते हो वैसे हमको भी यथावत् प्रशंसित करो । जैसे "ब्रह्मपुत्र इव" वेदों का वेत्ता विज्ञान से सब पदार्थों की प्रशंसा करता है वैसे आप भी हम पर कृपा कीजिये ।

आप "वृषेववाजी" सर्वशक्ति का सेवन करने और अन्नादि पदार्थों के देनेवाले तथा महाबलवान् और वेगवान् होने से वाजी हो, जैसे की वृषभ के समान आप उत्तम गुण और उत्तम पदार्थों की वृष्टि करने-वाले हो वैसे हम पर उनकी वृष्टि करो ।

"शिशुमती:" हम लोग आप की कृपा से उत्तम शिशु (सन्तानादि) को "अपीत्य" प्राप्त होके आप को ही भजें ।

"आसर्वतो नः शकुने" हे शकुने ! सर्व सामर्थ्यवान् ईश्वर ! सब ठिकानों से हमारे लिये "भद्रम्" कल्याण को "आ वद" अच्छे प्रकार

कहो अर्थात् कल्याण की ही आज्ञा और कथन करो, जिससे अकल्याण की बात भी कभी हम न सुनें। "विश्वतो, नः श०" हे सबको सुख देनेवाले ईश्वर! सब जगत् के लिये "पुण्यम्" धर्मात्मा के कर्म करने को "आ वद" उपदेश कर, जिससे कोई मनुष्य अधर्म करने की इच्छा भी न करे, और सब ठिकानों में सत्यधर्म की प्रवृत्ति हो।

"आवदँस्त्वं शकुने" हे शकुने जगदीश्वर! आप सब "भद्रम्" कल्याण का भी कल्याण अर्थात् व्यावहारिक सुख के भी ऊपर मोक्ष-सुख का निरन्तर उपदेश कीजिये। "तूष्णीमासीनः सु०" हे अन्तर्यामिन्! हमारे हृदय में सदा स्थिर हो, मौन से ही "सुमतिम्" सर्वोत्तम ज्ञान देओ। "चिकिद्धि नः" कृपा से हमको अपने रहने के लिये घर ही बनाओ और आपकी परमविद्या को हम प्राप्त हों।

"यदुत्पतन्वद०" उत्तम व्यवहार में पहुँचाते हुए आप का (यथा) जिस प्रकार से "कर्करिर्वदसि" कर्त्तव्य कर्म, धर्म को ही अत्यन्त पुरुषार्थ से करो, अकर्त्तव्य दुष्ट कर्म मत करो, ऐसा उपदेश है कि पुरुषार्थ अर्थात् यथायोग्य उद्यम को कभी कोई मत छोड़ो, वैसे "बृहद्-वदेम विदथे" विज्ञानादि यज्ञ वा धर्मयुक्त युद्धों में "सुवीराः" अत्यन्त शूरवीर हो के बृहत् (सब से बड़े) आप जो परब्रह्म उन "वदेम" आप की स्तुति, आपका उपदेश, आप की प्रार्थना और उपासना तथा आप-का यह बड़ा अखण्ड साम्राज्य और सब मनुष्यों का हित सर्वदा कहें, सुनें और आप के अनुग्रह से परमानन्द को भोगें ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

ओ३म् महाराजाधिराजाय परमात्मने नमो नमः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां महाविदुषां श्रीयुत-
विरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण दयानन्द-
सरस्वतीस्वामिना विरचित आर्य्याभिविनये
प्रथमः प्रकाशः पूर्त्तिमागमत्।
समाप्तोऽयं प्रथमः प्रकाशः ॥

पदार्थः—(उद्गाता) यज्ञ में सामगान करने वाला महापण्डित (इव) जैसे (शकुने) हे सर्वशक्तिमन्नीश्वर ! (साम) सामगान को (गायसि) गाते ही हो (ब्रह्मपुत्रः) वेदों का वेत्ता (इव) जैसे (सवनेषु) विज्ञान सब पदार्थों की (शंससि) प्रशंसा करता है (वृषा) उत्तम गुण और उत्तम पदार्थों की वृष्टि करने वाले (इव) जैसे (वाजी) सर्वशक्ति का सेवन और अन्नादि पदार्थों के देने वाले/महाबलवान् और वेगवान् (शिशुमतीः) उत्तम शिशु=सन्तानादि को (अपीत्य) प्राप्त हो के (सर्वतः) सब ठिकानों से (नः) हमारे लिये (शकुने) हे सर्वसामर्थ्यवान् ईश्वर ! (भद्रम्) कल्याण को (आवद) अच्छे प्रकार कहो (विश्वतः) सब जगत् के लिये (नः) हमारे (शकुने) हे सबको सुख देने वाले ईश्वर ! (पुण्यम्) धर्मात्मा के कर्म करने को (आवद) उपदेश कर ॥

पदार्थः—(आवदन्) निरन्तर उपदेश करते हुए (त्वम्) आप (शकुने) हे जगदीश / हे अन्तर्यामिन् ! (भद्रम्) मोक्ष सुख का (आवद) निरन्तर उपदेश कीजिये (तूष्णीम्) मौन से ही (आसीनः) हमारे हृदय में सदा स्थिर होकर (सुमतिम्) सर्वोत्तम ज्ञान (चिकिद्धि) अपने रहने के लिये घर ही बनाओ (नः) हमको (यद्) जो (उत्पतन्) उत्तम व्यवहार में पहुँचाये हुये (वदसि) उपदेश है (कर्करिः) कर्त्तव्य कर्म धर्म को ही पुरुषार्थ से करो (यथा) जिस प्रकार (बृहद्) सब से बड़े परब्रह्म की (वदेम) स्तुति, उपदेश, प्रार्थना, उपासना, आदि सर्वदा कहें, सुनें (विदथे) विज्ञानादि यज्ञों में (सुवीराः) अत्यन्त शूरवीर होके ॥

अन्वयः—हे शकुने ! यस्त्वमुद्गातेव साम गायसि । ब्रह्मपुत्र इव सवनेषु शंससि स त्वं वृषेव वाजी शिशुमतीरपीत्य नः सर्वतो

भद्रमावद । हे शकुने ! त्वं सर्वतो विद्यामावद । हे शकुने ! त्वं नो विश्वतः पुण्यमावद ॥

अन्वयः—हे शकुने त्वमावदन् सन् भद्रमावद तूष्णीमासीनो योगाभ्यासं कुर्वन् नः सुमतिं चिकिद्धि उत्पतन्निव यद् भद्रं यथा कर्करिस्तथा वदसि अनेनैव सुवीराः सन्तो वयं विदथे बृहद्वदेम ॥

ओ३म्

तत्सत्परमात्मने नमः ॥

अथ द्वितीयः प्रकाशः ॥

ओ३म् सहनांववतु सह नौं भुनक्तु । सह वीर्य्यँ करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विंद्विषावहैं ॥ ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ १ ॥ तैत्तिरीयारण्यके ब्रह्मानन्दवल्ली प्रपाठक १० । प्रथमानुवाकः ॥ १ ॥

व्याख्यान—हे सहनशीलेश्वर ! आप और हम लोग परस्पर प्रसन्नता से रक्षक हों। आप की कृपा से हम लोग सदैव आप की ही स्तुति, प्रार्थना और उपासना करें तथा आप को ही पिता, माता, बन्धु, राजा, स्वामी, सहायक, सुखद, सुहृद, परमगुर्वादि जानें, क्षणमात्र भी आप को भूल के न रहें, आपके तुल्य वा अधिक किसी को कभी न जानें, आप के अनुग्रह से हम सब लोग परस्पर प्रीतिमान्, रक्षक, सहायक, परम पुरुषार्थी हों, एक दूसरे का दुःख न देख सकें, स्वदेशस्थादि मनुष्यों को अत्यन्त परस्पर निर्वैर प्रीतिमान् पाखण्ड रहित करें "सह नौ भुनक्तु" तथा आप और हम लोग परस्पर परमानन्द का भोग करें, हम लोग परस्पर हित से आनन्द भोगें कि आप हम को अपने अनन्त परमानन्द के भागी करें, उस आनन्द से हम

लोगों को क्षण भी अलग न रक्खें। "सह वीर्यं, करवावहै" आप की सहायता से परमवीर्य जो सत्यविद्या उसको परस्पर परमपुरुषार्थ से प्राप्त हों।

"तेजस्विनावधीतमस्तु" हे अनन्त विद्यामय भगवन्! आप की कृपादृष्टि से हम लोगों का पठनपाठन परम विद्यायुक्त हो तथा संसार में सब से अधिक प्रकाशित हों और अन्योन्यप्रीति से परमवीर्य पराक्रम से निष्कण्टक चक्रवर्ती राज्य भोगें, हम में सब नीतिमान् सज्जन पुरुष हों और आप हम लोगों पर अत्यन्त कृपा करें, जिससे कि हम लोग नाना पाखण्ड, असत्य, वेदविरुद्ध मतों को शीघ्र छोड़ के एक सत्यसनातन मतस्थ हों, जिससे समस्त वैरभाव के मूल जो पाखण्ड-मत, वे सब सद्यः प्रलय को प्राप्त हों।

"मा, विद्विषावहै" और हे जगदीश्वर! आप के सामर्थ्य से हम लोगों में परस्पर विद्वेष अर्थात् अप्रीति न रहे, जिससे हम लोग कभी परस्पर विद्वेष न करें, किन्तु सब तन, मन, धन, विद्या इनको परस्पर सब के सुखोपकार में परमप्रीति से लगावें।

"ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः" हे भगवन्! तीन प्रकार के सन्ताप जगत् में हैं एक आध्यात्मिक (शारीरिक) जो ज्वरादि पीड़ा होने से होता है, दूसरा आधिभौतिक जो शत्रु, सर्प, व्याघ्र, चौरादिकों से होता है, और तीसरा आधिदैविक जो मन, इन्द्रिय, अग्नि, वायु, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अतिशीत, अत्युष्णतेत्यादि से होता है। हे कृपा-सागर! आप इन तीनों तापों की शीघ्र निवृत्ति करें, जिससे हम लोग अत्यानन्द में और आपकी अखण्ड उपासना में सदा रहें।

हे विश्वगुरो! मुझ को असत् (मिथ्या) और अनित्य पदार्थ तथा असत् काम से छुड़ा के सत्य तथा नित्य पदार्थ और श्रेष्ठ व्यवहार में स्थिर कर।

हे जगन्मङ्गलमय ! सब दुःखों से मुझको छुड़ा के, सब सुखों को प्राप्त कर ।

(हे प्रजापते ! सुप्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन, परमैश्वर्येण संयोजय) हे प्रजापते ! मुझ को अच्छी प्रजा पुत्रादि, हस्त्यश्व, गवादि, उत्तम पशु, सर्वोत्कृष्ट विद्या और चक्रवर्त्ती राज्यादि परमैश्वर्य जो स्थिर परमसुखकारक उस को शीघ्र प्राप्त कर ।

हे परमवैद्य ! (सर्वरोगात्पृथक्कृत्य नैरोग्यं देहि) सर्वथा मुझ को सब रोगों से छुड़ा के परम नैरोग्य दे । महाराजाधिराज ! जिससे मैं शुद्ध होके आप की सेवा में स्थिर होऊँ ।

(हे न्यायाधीश ! कुकामकुलोभकुमोहभयशोकालस्येर्ष्याद्वेषप्रमादविषयतृष्णानैष्ठुर्याभिमानदुष्टभावाविद्याभ्यो निवारय, एतेभ्यो विरुद्धेषूत्तमेषु गुणेषु संस्थापय माम्) हे ईश्वर ! कुकाम कुलोभादि पूर्वोक्त दुष्ट दोषों को कृपा से छुड़ा के श्रेष्ठ कामों में यथावत् मुझको स्थिर कर । मैं अत्यन्त दीन होके यही माँगता हूँ कि मैं आप और आप की आज्ञा से भिन्न पदार्थ में कभी प्रीति न करूँ ।

हे प्राणपते, प्राणप्रिय, प्राणपितः, प्राणाधार, प्राणजीवन, सुराज्यप्रद ! मेरे प्राणवाले आदि आप ही हो, मेरा सहायक आप के विना कोई नहीं है ।

हे महाराजाधिराज ! जैसा सत्य न्याययुक्त अखण्डित आप का राज्य है, वैसा न्यायराज्य हम लोगों का भी आप की ओर से स्थिर हो । आप के राज्य के अधिकारी किङ्कर अपने कृपाकटाक्ष से हम को शीघ्र ही कर ।

हे न्यायप्रिय ! हम को भी न्यायप्रिय यथावत् कर, हे धर्माधीश ! हम को धर्म में स्थिर रख ।

हे करुणामय पितः ! जैसे माता और पिता अपने सन्तानों का पालन करते हैं वैसे ही आप हमारा पालन करो ॥ १ ॥

पदार्थः—(सह) परस्पर (नौ) आप और हम लोग (अवतु) रक्षक हों (सह) परस्पर (नौ) आप और हम लोग (भुनक्तु) परमानन्द का भोग करें (सह) परस्पर (वीर्यम्) परम वीर्य जो सत्यविद्या उसको (करवावहै) आपकी सहायता से परम पुरुषार्थ करके प्राप्त हों (तेजस्वि) परमविद्यायुक्त तथा संसार में सबसे अधिक प्रकाशित (नौ) हम लोगों का (अधीतम्) पठन-पाठन (अस्तु) हो (मा-विद्विषावहै) हम लोगों में परस्पर विद्वेष अर्थात् अप्रीति न रहे।

(ओ३म्) हे भगवन् कृपासागर (शान्तिः) आध्यात्मिक सन्ताप की शान्ति कीजिये (शान्तिः) आधिभौतिक सन्ताप की शीघ्र निवृत्ति कीजिये (शान्तिः) आधिदैविक सन्ताप की निवृत्ति कीजिये ।।

अन्वयः—हे सह सहनशीलेश्वर ! नावस्मान् अवतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। नावधीतं तेजस्वि अस्तु। मा विद्विषावहै। ओ३म् ! शान्तिः शान्तिः शान्तिरस्तु ।।

———

मूल स्तुति

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ २ ॥ यजुर्वेद । अध्याय ४० । मं० ८ ॥

व्याख्यान—"स, पर्यगात्" वह परमात्मा आकाश के समान सब जगह में परिपूर्ण (व्यापक) है, "शुक्रम्" सब जगत् का करने वाला वही है "अकायम्" और वह कभी शरीर (अवतार) नहीं धारण करता, क्योंकि वह अखण्ड और अनन्त, निर्विकार है, इससे देहधारण कभी नहीं करता, उससे अधिक पदार्थ नहीं है, इससे ईश्वर का शरीर धारण करना कभी नहीं बन सकता। "अव्रगम्" वह अखण्डैकरस अच्छेद्य, अभेद्य, निष्कम्प और अचल है इससे अंशांशी-भाव भी उस में नहीं है, क्योंकि उसमें छिद्र किसी प्रकार से नहीं हो सकता "अस्नाविरम्" नाड़ी आदि का प्रतिबन्ध (निरोध) भी उसका नहीं हो सकता, अतिसूक्ष्म होने से ईश्वर का कोई आवरण नहीं हो सकता, "शुद्धम्" वह परमात्मा सदैव निर्मल अविद्यादि जन्म, मरण, हर्ष, शोक, क्षुधा, तृषादि दोषोपाधियों से रहित है, शुद्ध को उपासना करनेवाला शुद्ध ही होता है और मलिन का उपासक मलिन ही होता है, "अपापविद्धम्" परमात्मा कभी अन्याय नहीं करता क्योंकि वह सदैव न्यायकारी ही है, "कविः" त्रैकालज्ञ (सर्ववित्) महाविद्वान् जिसकी विद्या का अन्त कोई कभी नहीं ले सकता, "मनीषी" सब जीवों के मन (विज्ञान) का साक्षी सब के मन का दमन करनेवाला है, "परिभूः" सब दिशा और सब जगह में परिपूर्ण हो रहा है, सब के ऊपर विराजमान है, "स्वयम्भूः" जिसका आदिकारण माता, पिता, उत्पादक कोई नहीं किन्तु वही सब का आदिकारण है।

"याथातथ्यतोर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः, समाभ्यः" उस ईश्वर ने

अपनी प्रजा को यथावत् सत्य, सत्यविद्या जो चार वेद उनका सब मनुष्यों के परमहितार्थ उपदेश किया है। उस हमारे दयामय पिता परमेश्वर ने बड़ी कृपा से अविद्यान्धकार का नाशक, वेदविद्यारूप सूर्य्य प्रकाशित किया है और सब का आदिकारण परमात्मा है, ऐसा अवश्य मानना चाहिये। ऐसे विद्यापुस्तक का भी आदिकारण ईश्वर को ही निश्चित मानना चाहिये।

विद्या का उपदेश ईश्वर ने अपनी कृपा से किया है, क्योंकि हम लोगों के लिये उसने सब पदार्थों का दान दिया है तो विद्यादान क्यों न करेगा ?

सर्वोत्कृष्ट विद्यापदार्थ का दान परमात्मा ने अवश्य किया है तो वेद के विना अन्य कोई पुस्तक संसार में ईश्वरोक्त नहीं है। जैसा पूर्ण विद्यावान् और न्यायकारी ईश्वर है वैसा ही वेद-पुस्तक भी है। अन्य कोई पुस्तक ईश्वरकृत वेदतुल्य वा अधिक नहीं है।

अधिक विचार इस विषय का "सत्यार्थप्रकाश" और "ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" मेरे किये ग्रन्थों में देख लेना ॥ २ ॥

पदार्थः—(सः) वह परमात्मा (पर्यगात्) आकाश के समान सब जगह में परिपूर्ण=व्यापक है (शुक्रम्) सब जगत् का करने वाला (अकायम्) वह कभी अवतार=शरीर धारण नहीं करता (अव्रणम्) अखण्डैकरस अच्छेद्य अभेद्य निष्कम्प अचल. अंशांशिभाव से रहित (अस्नाविरम्) नाड़ी आदि के प्रतिबन्ध निरोध एवं आवरण रहित (शुद्धम्) निर्मल (अपापविद्धम्) न्यायकारी (कविः) त्रैकालज्ञ=सर्ववित्, महाविद्वान् (मनीषी) सब जीवों के मन=विज्ञान का साक्षी, सबके मन का दमन करने वाला (परिभूः) सब दिशा और सब जगह में परिपूर्ण, सबके ऊपर विराजमान (स्वयंभूः) जिसका आदिकारण कोई नहीं किन्तु वही सबका आदिकारण (याथातथ्यतः) यथावत्

(अर्थात्) सत्य विद्या जो जो वेद उनका (व्यदधात्) सब मनुष्यों से परमहितार्थ उपदेश किया है (शाश्वतीभ्यः) सब (समाभ्यः) प्रजा को ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः। यद् ब्रह्म शुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धं पर्यगाद्। यः कविर्मनीषीः, परिभूः स्वयम्भूः परमात्मा शाश्वतीभ्यः समाभ्यो याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् स एव युष्माभिरुपासनीयः ॥

मूल प्रार्थना

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ ३ ॥ यजु० ३६। १८ ॥

व्याख्यान—हे अनन्तबल महावीर ईश्वर ! "दृते" हे दुष्टस्वभावनाशक ! विदीर्णकर्म अर्थात् विज्ञानादि शुभ गुणों का नाशकर्म करने वाला मुझको मत रक्खो (मत करो) किन्तु उससे मेरे आत्मादि को विद्या, सत्य धर्मादि शुभगुणों में सदैव अपनी कृपा=सामर्थ्य से स्थित करो।

"दृꣳह मा" हे परमैश्वर्यवन् भगवन् ! धर्मार्थकाममोक्षादि तथा विज्ञानादि दान से अत्यन्त मुझको बढ़ा।

"मित्रस्येत्यादि०" हे सर्वसुहृदीश्वर सर्वान्तर्यामिन् ! सब भूत प्राणीमात्र मित्रदृष्टि से यथावत् मुझको देखें सब मेरे मित्र हो जायँ, कोई मुझसे किञ्चिन्मात्र भी वैर न करे।

"मित्रस्याऽहं, चेत्यादि" हे परमात्मन् ! आप की कृपा से मैं भी निर्वैर हो के सब भूत प्राणी और अप्राणी चराचर जगत् को मित्रदृष्टि से अपने प्राणवत् प्रिय जानूँ, अर्थात् "मित्रस्य, चक्षुषेत्यादि" पक्षपात छोड़ के सब जीव देहधारीमात्र अत्यन्त प्रेम से परस्पर अपना वर्त्ताव करें।

अन्याय से युक्त होके किसी पर कभी हम लोग न वर्तें। यह परमधर्म का सब मनुष्यों के लिए परमात्मा ने उपदेश किया है, सब को यही मान्य होने के योग्य है ॥ ३ ॥

पदार्थः—(दृते) हे अनन्तबल महावीर दुष्टस्वभाव नाशक

ईश्वर (दृँह) विज्ञानादि दान से अत्यन्त बढ़ा (मा) मुझको (मित्रस्य) मित्र की (चक्षुषा) दृष्टि से (सर्वाणि) सब (भूतानि) भूत=प्राणिमात्र (समीक्षन्ताम्) देखें (मित्रस्य) मित्र की (अहम्) मैं भी निर्वैर होके (चक्षुषा) दृष्टि से (सर्वाणि) सब (भूतानि) चराचर जगत् को (समीक्षे) अपने प्राणवत प्रिय जानूँ (मित्रस्य चक्षुषा) अत्यन्त प्रेम से (समीक्षामहे) पक्षपात छोड़ के सब जीव देहधारी मात्र परस्पर वर्ताव करें ।।

अन्वयः—हे दृते । येन सर्वाणि भूतानि मित्रस्य चक्षुषा मा समीक्षन्ताम् । अहं मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । एवं वयं सर्वे परस्परान् मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे तत्रास्मान् दृंह ।।

मूल स्तुति

तदे॒वाग्निस्तदा॑दि॒त्यस्तद्वा॒युस्तदु॑ च॒न्द्रमाः॑। तदे॒व शु॒क्रं तद्ब्रह्म॒ ता आपः॒ स प्र॒जाप॑तिः ॥ ४ ॥ यजु० ३२ । १ ॥

व्याख्यान—जो सब जगत् का कारण एक परमेश्वर है, उसी का नाम अग्नि है (ब्रह्मह्यग्निः शतपथे) सर्वोत्तम ज्ञानस्वरूप जानने के योग्य, प्रापणीयस्वरूप और पूज्यतमेत्यादि अग्नि शब्द का अर्थ है। "आदित्यो वै ब्रह्म, वायुर्वै ब्रह्म, चन्द्रमा वै ब्रह्म, शुक्रं हि ब्रह्म, सर्वं जगत्कर्तृ ब्रह्म, ब्रह्म वै बृहत्, आपो वै ब्रह्मेत्यादि" शतपथ तथा ऐतरेय ब्राह्मण के प्रमाण हैं। "तदादित्यः" जिसका कभी नाश न हो और स्वप्रकाशस्वरूप हो, इससे परमात्मा का नाम आदित्य है। "तद्वायुः" सब जगत् का धारण करने वाला, अनन्त बलवान् प्राणों से भी जो प्रियस्वरूप है, इससे ईश्वर का नाम वायु है। पूर्वोक्त प्रमाण से "तदु चन्द्रमाः" जो आनन्दस्वरूप और स्वसेवकों को परमानन्द देने वाला है, इससे पूर्वोक्त प्रकार से चन्द्रमा परमात्मा को जानना। "तदेव, शुक्रम्" वही चेतनस्वरूप ब्रह्म सब जगत् का कर्त्ता है, "तद्ब्रह्म" सो अनन्त चेतन, सबसे बड़ा है और धर्मात्मा स्वभक्तों को अत्यन्त सुख, विद्यादि सद्गुणों से बढ़ाने वाला है, "ता आपः" उसी को सर्वज्ञ चेतन सर्वत्र व्याप्त होने से आप नामक जानना। "स, प्रजापतिः" सो ही सब जगत् का पति (स्वामी) और पालन करनेवाला है; अन्य कोई नहीं। उसी को हम लोग इष्टदेव तथा पालक मानें; अन्य को नहीं ॥ ४ ॥

पदार्थः—(तद्) वह (एव) ही (अग्निः) सब जगत् का कारण एक परमेश्वर, सर्वोत्तम, ज्ञानस्वरूप, जानने के योग्य, प्रापणीयस्वरूप और पूज्यतम (तद्) वह (आदित्यः) अविनाशी, स्वप्रकाशस्वरूप (तद्) वह (वायुः) सब जगत् का धारण करने वाला, अनन्त बलवान्

प्राणों से भी प्रियस्वरूप (तद्) वह (उ) ही (चन्द्रमाः) आनन्दस्वरूप और स्वसेवकों को आनन्द देने वाला (तद्) वह (एव) ही (शुक्रम्) चेतनस्वरूप ब्रह्म जगत् का कर्त्ता (तद्) सो (ब्रह्म) अनन्त, चेतन, सबसे बड़ा (ताः) वह (आपः) सर्वज्ञ, चेतन, सर्वत्र व्याप्त (सः) सो हीं (प्रजापतिः) सब जगत् का पति=स्वामी और पालन करने वाला ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः । तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तच्चन्द्रमास्तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स उ प्रजापतिरस्त्येवं यूयं विजानीत ॥

मूल प्रार्थना

ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये । वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ ॥ ८ ॥
यजु० ३६ । १ ॥

व्याख्यान—हे करुणाकर परमात्मन् ! आप की कृपा से मैं ऋग्वेदादिज्ञानयुक्त होके उसका वक्ता होऊँ, तथा यजुर्वेदाभिप्रायार्थ सहित सत्यार्थ मननयुक्त मन को प्राप्त होऊँ, ऐसे ही सामवेदार्थ निश्चय निदिध्यासन सहित प्राण को सदैव प्राप्त होऊँ। "वागोजः" वाग्बल, वक्तृत्वबल, मनोविज्ञानबल मुझको आप देवें। अन्तर्यामी की कृपा से मैं यथावत् प्राप्त होऊँ "सहौजः" नैरोग्यदृढ़त्वादि गुणयुक्त को मैं आपके अनुग्रह से सदैव प्राप्त होऊँ।

"मयि, प्राणापानौ" हे सर्वजनबलशरीरजीवनाधार ! प्राण (जिससे कि उर्ध्व चेष्टा होती है) और अपान (अर्थात् जिससे नीचे की चेष्टा होती है) ये दोनों मेरे शरीर में सब इन्द्रिय सब धातुओं को शुद्धि करने तथा नैरोग्य बल पुष्टि सरलगति कराने और मर्मस्थलों की रक्षा करने वाले हों, उनके अनुकूल प्राणादि को प्राप्त होके आप की कृपा से हे ईश्वर ! सदैव सुखयुक्त आपकी आज्ञा और उपासना में तत्पर रहूँ ॥ ५ ॥

पदार्थः—(ऋचम्) ऋग्वेदादि ज्ञानयुक्त होके (वाचम्) उसका वक्ता (प्रपद्ये) होऊं (मनः) सत्यार्थ मनन युक्त मन को (यजुः) यजुर्वेदाभिप्रायार्थ सहित (प्रपद्ये) प्राप्त होऊं (साम) सामवेदार्थ निश्चय निदिध्यासन सहित (प्राणम्) प्राण को (प्रपद्ये) सदैव

---

१. इस वाक्य के साथ चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये, का अर्थ छूटा हुआ है। मूल द्रष्टव्य।

प्राप्त होऊँ [(चक्षुः) नेत्रबल को तथा (श्रोत्रम्) कर्ण बल को (प्रपद्ये) प्राप्त होऊँ] (वागोजः) वाग्बल, वक्तृत्व बल मनोविज्ञान बल (सहौजः) शरीर बल नैरोग्य दृढ़त्वादिगुणयुक्त को (मयि) मेरे शरीर में (प्राणापानौ) प्राण और अपान को ।।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा मयि प्राणापानौ दृढौ भवेतां मम वागोजः प्राप्नुयात् तया ताभ्यां च सहाऽहमोजः प्राप्नुयाम् । ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये सामप्राणं प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये तथा यूयमेतानि प्राप्नुत ।।

मूल स्तुति

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ ६ ॥
यजु० ३२ । १० ॥

व्याख्यान—वह परमेश्वर हमारा "बन्धुः" दुःखनाशक और सहायक है, तथा "जनिता" सब जगत् तथा हम लोगों का भी पालन करने वाला पिता, तथा हम लोगों के कामों की सिद्धि का विधाता पूर्ण काम की सिद्धि करनेवाला वही है। सब जगत् का भी विधाता रचने और धारण करनेवाला एक परमात्मा ही है; अन्य कोई नहीं। "धामानि वेदेत्यादि" "विश्वा" "सब धाम अर्थात् अनेक लोक लोकान्तरों को रच के अनन्त सर्वज्ञता से यथार्थ जानता है।

वह कौन परमेश्वर है कि जिससे देव अर्थात् विद्वान् लोग (विद्वाꣳसो हि देवाः। शतपथ ब्रा०) अमृत, मरणादि दुःखरहित मोक्षपद में अर्थात् सब दुःखों से छूट के सर्वव्यापी, पूर्णानन्दस्वरूप, परमात्मा को प्राप्त होके परमानन्द में रहते हैं ?

तृतीयेत्यादि एक स्थूल (जगत् पृथिव्यादि), दूसरा सूक्ष्म (आदिकरण, सर्वदोषरहित अनन्तानन्दस्वरूप परब्रह्म उस धाम में "अध्यैरयन्त" धर्मात्मा विद्वान् लोग स्वच्छन्द (स्वेच्छा) से वर्त्तते हैं, सब बाधाओं से छूट के सर्वदा विज्ञानवान् शुद्ध होके देश, काल, वस्तु परिच्छेदरहित सर्वगत "धामन्" आधारस्वरूप परमात्मा में रहते हैं, उससे जन्म-मरणादि दुःखसागर में नहीं गिरते ॥ ६ ॥

पदार्थः—(सः) वह परमेश्वर (नः) हमारा (बन्धुः) दुःखनाशक और सहायक (जनिता) सब जगत् तथा हम लोगों का भी

पालन करने वाला पिता (स:) वह (विधाता) कामों की सिद्धि करने वाला एक परमात्मा (धामानि) अनेक लोक लोकान्तरों को (वेद) यथार्थ जानता है (भुवनानि) लोकान्तरों को (विश्वा) सब (यत्र) जिससे (देवा:) विद्वान् लोग (अमृतम्) मोक्ष पद को (आनशाना:) प्राप्त हो के (तृतीये) तृतीय परब्रह्म में (धामन्) आधारस्वरूप परमात्मा में (अध्यैरयन्त) धर्मात्मा विद्वान् लोग स्वच्छन्द=स्वेच्छा से वर्तते हैं ॥

अन्वय:—हे मनुष्या: ! यत्र तृतीये धामन्नमृतमानशाना देवा अध्यैरयन्त यो विश्वा भुवनानि धामानि च वेद स नो बन्धुर्जनिता स विधाताऽस्तीति निश्चिनुत ॥

मूल प्रार्थना

यतो॑ यतः॒ स॒मीह॑से॒ ततो॑ नो॒ अभ॑यं कुरु। शं नः॑ कुरु प्र॒जाभ्यो॒ऽभ॑यं नः प॒शुभ्यः॑ ॥ ७ ॥ यजु० ३६ । २२ ॥

व्याख्यान—हे महेश्वर, दयालो ! जिस जिस देश से आप "समीहसे" सम्यक् चेष्टा करते हो उस उस देश से हमको अभय करो, अर्थात् जहाँ जहाँ से हमको भय प्राप्त होने लगे वहाँ वहाँ से सर्वथा हम लोगों को अभय (भयरहित) करो, तथा प्रजा से हमको सुख करो। हमारी प्रजा सब दिन सुखी रहे, भय देनेवाली कभी न हो, तथा पशुओं से भी हम को अभय करो। किञ्च—किसी से किसी प्रकार का भय हम लोगों को आप की कृपा से कभी न हो। जिससे हम लोग निर्भय होके सदैव परमानन्द को भोगें और निरन्तर आपका राज्य तथा आपकी भक्ति करें ॥ ७ ॥

पदार्थः—(यतः+यतः) जिस जिस देश से (समीहसे) सम्यक् चेष्टा करते हो (ततः) उस उस देश से (नः) हमको (अभयम्) भय-रहित (कुरु) करो (शम्) सुख (नः) हमको (कुरु) करो (प्रजाभ्यः) प्रजा से (अभयम्) भयरहित (नः) हमको (पशुभ्यः) पशुओं से ॥

अन्वयः—हे भगवन्नीश्वर ! त्वं कृपाकटाक्षेण यतो यतः समीहसे ततो नोऽभयं कुरु। नः प्रजाभ्यो नः पशुभ्यश्च शम् अभयं च कुरु ॥

मूल स्तुति

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ ८ ॥

यजु० ३१ । १८ ॥

व्याख्यान—सहस्रशीर्षादि विशेषणोक्त पुरुष सर्वत्र परिपूर्ण (पूर्णत्वात्पुरि शयनाद्वा पुरुष इति निरुक्तोक्तेः) है, उस पुरुष को मैं जानता हूँ, अर्थात् सब मनुष्यों को उचित है कि उस परमात्मा को अवश्य जानें, उसको कभी न भूलें, अन्य किसी को ईश्वर न जानें। वह कैसा है कि "महान्तम्" बड़ों से भी बड़ा उससे बड़ा वा तुल्य कोई नहीं है। "आदित्यवर्णम्" आदित्यादि का रचक और प्रकाशक वही एक परमात्मा है, तथा वह सदा स्वप्रकाशस्वरूप ही है। किंच "तमसः परस्तात्" तम जो अन्धकार अविद्यादि दोष उससे रहित ही है, तथा स्वभक्त, धर्मात्मा सत्यप्रेमी जनों को भी अविद्यादि दोषरहित सद्यः करनेवाला वही परमात्मा है।

विद्वानों को ऐसा निश्चय है कि परब्रह्म के ज्ञान और उस ी कृपा के विना कोई जीव कभी सुखी नहीं होता। "तमेव विदित्वेत्यादि०" उस परमात्मा को जान के जीव मृत्यु को उल्लङ्घन कर सकता है, अन्यथा नहीं, क्योंकि "नाऽन्यः, पन्था, विद्यतेऽयनाय" विना परमेश्वर की भक्ति और उसके ज्ञान के मुक्ति का मार्ग कोई नहीं है; ऐसी परमात्मा की दृढ़ आज्ञा है।

सब मनुष्यों को इसमें वर्त्तना चाहिए और सब पाखण्ड और जंजाल अवश्य छोड़ देना चाहिये ॥ ८ ॥

पदार्थः—(वेद) जानता हूँ (अहम्) मैं (एतम्) उस को (पुरुषम्) सहस्रशीर्षादि विशेषणोक्त, सर्वत्र परिपूर्ण पुरुष को

(महान्तम्) बड़ों से भी बड़े को (आदित्यवर्णम्) आदित्यादि के रचक, प्रकाशक, सदा प्रकाशस्वरूप को (तमसः) अन्धकार, अविद्यादि दोष से (परस्तात्) रहित (तम्) उसको (एव) ही (विदित्वा) जान के (मृत्युम्) मृत्यु को (अत्येति) जीव उल्लंघन कर सकता है (न) नहीं (अन्यः) कोई/विना (पन्थाः) मुक्ति का मार्ग (विद्यते) है (अयनाय) परमेश्वर की भक्ति और उसके ज्ञान के ॥

अन्वयः—हे जिज्ञासो ! अहं यमेतं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् वर्त्तमानं पुरुषं वेद तमेव विदित्वा भवान् मृत्युमत्येति । अन्यः पन्था अयनाय न विद्यते ।

मूल प्रार्थना

तेजो॑ऽसि॒ तेजो॒ मयि॑ धेहि । वी॒र्य॒मसि वी॒र्यं॑ मयि॑ धेहि ।
बल॑मसि॒ बलं॒ मयि॑ धेहि । ओजो॒ऽस्योजो॒ मयि॑ धेहि ।
म॒न्युर॑सि म॒न्युं मयि॑ धेहि । सहो॑ऽसि॒ सहो॒ मयि॑ धेहि ॥९॥
यजु० १९ । ९ ॥

व्याख्यान—हे स्वप्रकाश, अनन्त तेज ! आप अविद्यान्धकार से रहित हो, किंच—सत्य विज्ञान तेजस्वरूप हो, आप कृपादृष्टि से मुझ में वही तेज धारण करो जिससे मैं निस्तेज, दीन और भीरु कहीं कभी न होऊँ ।

हे अनन्त वीर्य परमात्मन् ! आप वीर्यस्वरूप हो, आप सर्वोत्तम बल स्थिर मुझ में भी रक्खें ।

हे अनन्तपराक्रम ! आप ओजः (पराक्रमस्वरूप) हो सो मुझ में भी उस पराक्रम को सदैव धारण करो ।

हे दुष्टानामुपरि क्रोधकृत् ! मुझमें भी दुष्टों पर क्रोध धारण कराओ ।

हे अनन्त सहनस्वरूप ! मुझ में भी आप सहनसामर्थ्य धारण करो अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा इनके तेजादि गुण कभी मुझ में से दूर न हों, जिससे मैं आप की भक्ति का स्थिर अनुष्ठान करूँ और आप के अनुग्रह से संसार में भी सदा सुखी रहूँ ॥ ९ ॥

पदार्थः—(तेजः) हे स्वप्रकाश अनन्त तेज ! आप अविद्यान्धकार से रहित (असि) हो (तेजः) वही तेज (मयि) मुझमें (धेहि) धारण करो (वीर्यम्) हे अनन्तवीर्य परमात्मन् ! आप वीर्यस्वरूप (असि) हो (वीर्यम्) सर्वोत्तम बल (मयि) मुझ में भी (धेहि) स्थिर

रखो [(बलम्) हे अनन्तबल परमात्मन् ! आप बलस्वरूप (असि) हो (बलम्) उत्तम बल (मयि) मुझ में भी (धेहि) धारण करो] (ओजः) हे अनन्तपराक्रम ! आप पराक्रमस्वरूप (असि) हो (ओजः) उस पराक्रम को (मयि) मुझ में भी (धेहि) सदैव धारण करो (मन्युः) हे दुष्टों पर क्रोध करने वाले आप मन्यु (असि) हो (मन्युम्) दुष्टों पर क्रोध को (मयि) मुझ में भी (धेहि) धारण कराओ (सहः) हे अनन्त-सहनस्वरूप आप अनन्त सहनशक्ति वाले (असि) हो (सहः) सहन-सामर्थ्य को (मयि) मुझ में भी (धेहि) धारण करो ॥

अन्वयः—हे शुभगुणकर राजन् ! यत् त्वयि तेजोऽस्त्यस्ति तत्तेजो मयि धेहि यत् त्वयि वीर्यमसि तद्वीर्यं मयि धेहि यत् त्वयि बलमसि तद् बलं मयि धेहि यत् त्वय्योजोऽसि तदोजो मयि धेहि यत्त्वयि मन्युरसि तन्मन्युं मयि धेहि यस्त्वयि सहोऽसि तत्सहो मयि धेहि ॥

मूल स्तुति

परीत्यं भूतानि परीत्यं लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च । उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि संविवेश ॥ १० ॥ यजु० ३२ । ११ ॥

व्याख्यान—सब जीवों में (अर्थात् आकाश और प्रकृति से लेके पृथिवीपर्य्यन्त सब संसार में) वह परमेश्वर व्याप्त होके परिपूर्ण भर रहा है, तथा सब लोक, सब पूर्वादि दिशा और ऐशान्यादि उपदिशा, ऊपर, नीचे अर्थात् एक कण भी उसके विना अपर्याप्त (खाली) नहीं ।

"प्रथमजाम्" प्रथमोत्पन्न जीव, सब संसार से आदि कार्य जीव को ही समझना सो जीव अपने आत्मा से अत्यन्त सत्याचरण, विद्या, श्रद्धा, भक्ति से "ऋतस्य" यथार्थ सत्यस्वरूप परमात्मा को "उपस्थाय" यथावत् जान, उपस्थित (निकट प्राप्त) "अभिसंविवेश" अभिमुख होके उसमें प्रविष्ट अर्थात् परमानन्दस्वरूप परमात्मा में प्रवेश करके, सब दुःखों से छूट, उसी परमानन्द में रहता है ॥ १० ॥

पदार्थः—(परीत्य) व्याप्त हो के (भूतानि) सब भूत, आकाश और प्रकृति से ले के पृथिवी पर्यन्त सब संसार में (परीत्य) व्याप्त हो के (लोकान्) सब लोक (परीत्य) एक कण भी उसके विना अपर्याप्त (खाली) नहीं (सर्वाः) सब (प्रदिशः) ऐशान्यादि उपदिशा (दिशः) सब पूर्वादिदिशा (च) और (उपस्थाय) यथावत् जानकर उपस्थित (निकट प्राप्त) (प्रथमजाम्) मुख्य प्राणी (ऋतस्य) यथार्थ सत्यस्वरूप परमात्मा को (आत्मना) अपने आत्मा से, अत्यन्त सत्याचरण, विद्या श्रद्धा भक्ति से (आत्मानम्) परमानन्दस्वरूप परमात्मा

में (अभिसंविवेश) प्रवेश करके सब दुःखों से छूट उसी परमानन्द में रहता है ॥

अन्वयः—हे विद्वन् ! त्वं यो भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च परीत्य ऋतस्यात्मानमभिसंविवेश । प्रथमजामुपस्थायात्मना तं प्राप्नुहि ॥

मूल प्रार्थना

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥ ११ ॥
यजु० ३४। ३६ ॥

व्याख्यान—हे भगवन्! परमैश्वर्यवन्! भग ऐश्वर्य के दाता, संसार वा परमार्थ में आप ही हो, तथा "भगप्रणेतः" आप के ही स्वाधीन सकल ऐश्वर्य है; अन्य किसी के आधीन नहीं। आप जिसको चाहो उसको ऐश्वर्य देओ, सो आप कृपा से हम लोगों का दारिद्रच छेदन करके हम को परमैश्वर्यवाले करें, क्योंकि ऐश्वर्य के प्रेरक आप ही हो। हे "सत्यराधः" भगवन्! सत्यैश्वर्य की सिद्धि करनेवाले आप ही हो, सो आप नित्य ऐश्वर्य हम को दीजिये, तथा जो मोक्ष कहाता है उस सत्य ऐश्वर्य का दाता आप से भिन्न कोई भी नहीं है। हे सत्यभग! पूर्ण ऐश्वर्य, सर्वोत्तम बुद्धि हम को आप दीजिये जिससे हम लोग आप के गुण और आपकी आज्ञा का अनुष्ठान ज्ञान इन को यथावत् प्राप्त हों। हमको सत्यबुद्धि, सत्यकर्म और सत्यगुणों को "उदवः" (उद्गमय प्रापय) प्राप्त कर, जिससे हम लोग सूक्ष्म से भी सूक्ष्म पदार्थों को यथावत् जानें।

"भग प्रनो जनय" हे सर्वैश्वर्योत्पादक! हमारे लिये ऐश्वर्य को अच्छे प्रकार से उत्पन्न कर, सर्वोत्तम गाय, घोड़े और मनुष्य इनसे सहित अत्युत्तम ऐश्वर्य हम को सदा के लिये दीजिये।

हे सर्वशक्तिमन्! आपकी कृपा से सब दिन हम लोग उत्तम-उत्तम पुरुष स्त्री और सन्तान भृत्यवाले हों। आप से यह हमारी अधिक प्रार्थना है कि कोई मनुष्य हम में दुष्ट और मूर्ख न रहे, न उत्पन्न हो, जिससे हम लोगों की सर्वत्र सत्कीर्त्ति हो, निन्दा कभी न हो ॥ ११ ॥

पदार्थः—(भगप्रणेतः) ऐश्वर्य के प्रेरक (भग) हे भगवन् परमैश्वर्यवन् ! (सत्यराधः) सत्य ऐश्वर्य की सिद्धि करने वाले तथा मोक्ष=सत्य ऐश्वर्य के देने वाले हो (भग) हे सत्य भग ! (इमाम्) इनको (धियम्) सर्वोत्तम बुद्धि/सत्य बुद्धि सत्यकर्म सत्य गुणों को (उदवः) प्राप्त कर (ददत्) दीजिये (नः) हम को (भग) हे सर्वैश्वर्योत्पादक (प्र) अच्छे प्रकार (नः) हमारे लिये (जनय) ऐश्वर्य को उत्पन्न कर (गोभिः) सर्वोत्तम गायों सहित (अश्वैः) सर्वोत्तम घोड़ों सहित (भग) हे सर्वशक्तिमन् ! (प्र) अधिक प्रार्थना है (नृभिः) सर्वोत्तम मनुष्यों सहित (नृवन्तः) उत्तम उत्तम पुरुष स्त्री और सन्तान; भृत्य वाले हम लोग (स्याम) हों ॥

अन्वयः—हे भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भग ! त्वं नोऽस्माकमिमाँ धियं ददत्सदुदव । हे भग ! त्वं गोभिरश्वैर्नृभिस्सह नोऽस्मान् प्रजनय । हे भंग ! ये वयं नृवन्तः प्रस्याम तथा विधेहि ॥

मूल स्तुति

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ १२ ॥ यजु० ४० । ५ ॥

व्याख्यान—"तद् एजति" वह परमात्मा सब जगत् को यथायोग्य अपनी-अपनी चाल पर चला रहा है, सो अविद्वान् लोग ईश्वर में भी आरोप करते हैं कि वह भी चलता होगा, परन्तु वह सब में पूर्ण है, कभी चलायमान नहीं होता, अतएव "तन्नैजति" (यह प्रमाण है) स्वतः वह परमात्मा कभी नहीं चलता, एकरस निश्चल होके भरा है। विद्वान् लोग इसी रीति से ब्रह्म को जानते हैं।

"तद्दूरे" अधर्मात्मा, अविद्वान्, विचारशून्य, अजितेन्द्रिय, ईश्वर-भक्तिरहित इत्यादि दोषयुक्त मनुष्यों से वह ईश्वर बहुत दूर है, अर्थात् वे कोटि-कोटि वर्ष तक उस को नहीं प्राप्त होते इससे वे तबतक जन्म-मरणादि दुःखसागर में इधर उधर घूमते फिरते हैं कि जबतक उसको नहीं जानते। "तद्वन्तिके" सत्यवादी, सत्यकारी, सत्यमानी, जितेन्द्रिय, सर्वजनोपकारक विद्वान् विचारशील पुरुषों के "अन्तिके" अत्यन्त निकट है।

किंच—वह सब के आत्माओं के बीच में अन्तर्यामी, व्यापक होके सर्वत्र पूर्ण भर रहा है। वह आत्मा का भी आत्मा है, क्योंकि परमेश्वर सब जगत् के भीतर और बाहर तथा मध्य अर्थात् एक तिलमात्र भी उसके विना खाली नहीं है। वह अखण्डैकरस सब में व्यापक हो रहा है उसी को जानने से सुख और मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं ॥ १२ ॥

पदार्थः—(तद्) वह परमात्मा (एजति) सब जगत् को अपनी-अपनी चाल पर चला रहा है (तत्) वह परमात्मा (न) कभी

नहीं (एजति) चलता है (तद्) वह ईश्वर (दूरे) अधर्मात्मा आदि मनुष्यों से बहुत दूर है (तद्) वह परमात्मा (अन्तिके) सत्यवादी आदि पुरुषों के अत्यन्त निकट है (तद्) वह परमेश्वर (अन्तः) भीतर (अस्य) इस (सर्वस्य) सब जगत् के (तदु) और वह (सर्वस्य) सब जगत् के (अस्य) इस (बाह्यतः) बाहर ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! तद्ब्रह्मैजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके तदस्य सर्वस्यान्तरस्तदु सर्वस्यास्य बाह्यतो वर्त्तत इति निश्चिनुत ॥

मूल प्रार्थना

आयुर्यज्ञेनं कल्पतां प्राणो यज्ञेनं कल्पतां चक्षुर्यज्ञेनं कल्पताᳬं श्रोत्रं यज्ञेनं कल्पतां वाग्यज्ञेनं कल्पतां मनो यज्ञेनं कल्पतामात्मा यज्ञेनं कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेनं कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेनं कल्पताᳬं स्वर्यज्ञेनं कल्पतां पृष्ठं यज्ञेनं कल्पतां यज्ञो यज्ञेनं कल्पताम् । स्तोमंश्च यजुंश्च ऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरं च । स्वर्देवाऽअगन्मामृताऽअभूम प्रजापतेः प्रजाऽअभूम वेट् स्वाहा ॥ १३ ॥

यजु० १८ । २९ ॥

व्याख्यान—(यज्ञो वै विष्णुः, यज्ञो वै ब्रह्मेत्याद्यैतरेय-शतपथब्राह्मणश्रु०) यज्ञ=यजनीय जो सब मनुष्यों का पूज्य इष्टदेव परमेश्वर उसके अर्थ तथा उसके संग अतिश्रद्धा से यज्ञ जो परमात्मा उसके लिए सब मनुष्य सर्वस्व समर्पण यथावत् करें। यही इस मन्त्र में उपदेश और प्रार्थना है कि हे सर्वस्वामिन् ईश्वर! जो यह आप की आज्ञा है कि सब लोग सब पदार्थ मेरे अर्पण करें, इस कारण हम लोग "आयुः" उमर, प्राण, चक्षु (आंख), कान, वाणी, मन, आत्मा=जीव, ब्रह्मा=वेदविद्या और विद्वान्, ज्योति (सूर्यादि लोक अग्न्यादि पदार्थ), स्वर्ग (सुखसाधन), पृष्ठ (पृथिव्यादि सब लोक आधार) तथा पुरुषार्थ, यज्ञ (जो जो अच्छा काम हम लोग करते हैं), स्तोम=स्तुति, यजुर्वेद, ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, बृहद्रथन्तर, महारथन्तर साम इत्यादि सब पदार्थ आप के समर्पण करते हैं।

हम लोग तो केवल आप के ही शरण हैं जैसे आप की इच्छा हो वैसा हमारे लिये आप कीजिये, परन्तु हम लोग आप के सन्तान आ की कृपा से "स्वरगन्म" उत्तम सुख को प्राप्त हों जबतक जीवें तब

तक सदा चक्रवर्त्ती राज्यादि भोग से सुखी रहें और मरणानन्तर भी हम सुखी ही रहें।

हे महादेवामृत ! हम लोग देव (परमविद्वान्) हों, तथा अमृत= मोक्ष जो आप की प्राप्ति, उसको प्राप्त हों। "वेट्स्वाहा" आप की आज्ञा का पालन और आप की प्राप्ति में उद्योगी हों, तथा अन्तर्यामी आप हृदय में आज्ञा करो अर्थात् जैसा हमारे हृदय में ज्ञान हो वैसा ही सदा भाषण करें; इससे विपरीत कभी नहीं।

हे कृपानिधे ! हम लोगों का योगक्षेम (सब निर्वाह) आप ही सदा करो। आप के सहाय से सर्वत्र हम को विजय और सुख मिले ॥ १३ ॥

पदार्थः—(आयुः) उमर (यज्ञेन) परमेश्वर के अर्थ (कल्पताम्) अति श्रद्धा से समर्पित है (प्राणः) प्राण (चक्षुः) आँख (श्रोत्रम्) कान (वाक्) वाणी (मनः) मन (आत्मा) जीव (ब्रह्मा) वेदविद्या और विद्वान् (ज्योतिः) सूर्यादिलोक, अग्न्यादिपदार्थ (स्वः) स्वर्ग= सुख साधन (पृष्ठम्) पृथिवी आदि सब लोक आधार तथा पुरुषार्थ (यज्ञः) यज्ञ=जो जो अच्छा काम हम लोग करते हैं (स्तोमः) स्तुति (च) और (यजुः) यजुर्वेद (च) और (ऋक्) ऋग्वेद (च) और (साम) सामवेद (च) अथर्ववेद (बृहच्च रथन्तरं च) बृहद्रथन्तर साम (च) इत्यादि (स्वः) उत्तम सुख को (देवाः) हम विद्वान् लोग (अगन्म) प्राप्त हों (अमृताः) परम विद्वान् तथा अमृत जो आपकी प्राप्ति उसको प्राप्त (अभूम) हों (प्रजापतेः) आपके (प्रजाः) सन्तान हम लोग (अभूम) हों (वेद) आपकी आज्ञा का पालन और आप की प्राप्ति में उद्योगी (स्वाहा) जैसा हमारे हृदय में ज्ञान हो वैसा ही सदा भाषण करें॥

अन्वयः—हे मनुष्य ! ते तव प्रजानामाधिपत्यायायुर्यज्ञेन

कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पेतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग् यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पतां स्वर्यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पतां स्तोमश्च यजुश्च ऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरं च यज्ञेन कल्पताम्। हे देवा विद्वांसः! यथा वयममृताः स्वरगन्म प्रजापतेः प्रजा अभूम वेट् स्वाहायुक्ताश्चाभूम तथा यूयमपि भवत ॥

मूल स्तुति

यस्मान्न जातः परोऽअन्योऽअस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा । प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥ १४ ॥ यजु० ८ । ३६ ॥

व्याख्यान—जिससे बड़ा, तुल्य वा श्रेष्ठ न हुआ, न है और न कोई कभी होगा, उसको परमात्मा कहना । जो "विश्वा भुवानानि" सब भुवन (लोक) सब पदार्थों के निवासस्थान असंख्यात लोकों को आविवेश=प्रविष्ट हो के पूर्ण हो रहा है, वही ईश्वर प्रजा का पति (स्वामी) है । सब प्रजा को रमा रहा और सब प्रजा में रम रहा है । "त्रीणीत्यादि" तीन ज्योति=अग्नि, वायु और सूर्य इनको जिसने रचा है, सब जगत् के व्यवहार और पदार्थविद्या की उत्पत्ति के लिये इन तीनों को मुख्य समझना । "स षोडशी" सोलहकला जिसने उत्पन्न की हैं, इससे सोलह कलावान् ईश्वर कहाता है । वे सोलह-कला ये हैं—ईक्षण (विचार) १ प्राण २ श्रद्धा ३ आकाश ४ वायु ५ अग्नि ६ जल ७ पृथिवी ८ इन्द्रिय ९ मन १० अन्न ११ वीर्य (पराक्रम) १२ तप (धर्मानुष्ठान) १३ मन्त्र (वेदविद्या) १४ कर्मलोक (चेष्टा-स्थान १५ लोक और नाम १६, इतनी कलाओं के बीच में सब जगत् है, और परमेश्वर में अनन्त कला हैं ।

उसकी उपासना छोड़ के जो दूसरे की उपासना करता है, वह सुख को प्राप्त कभी नहीं होता किन्तु सदा दुःख में ही पड़ा रहता है ॥१४॥

पदार्थः—(यस्मात्) जिससे (न) नहीं (जात) हुआ (परः) बड़ा / श्रेष्ठ (अन्यः) कोई (अस्ति) है (यः) जो (आविवेश) आवेश=

प्रविष्ट होके पूर्ण हो रहा है (भुवनानि) भुवन=लोकों को (विश्वा) सब (प्रजापतिः) प्रजा का स्वामी है (प्रजया) सब प्रजा को/सब प्रजा में (सꣳ रराणः) रमा रहा है/रम रहा है (त्रीणि) तीन (ज्योतीꣳषि) ज्योति अग्नि वायु और सूर्य को (सचते) रचा है (सः) वह (षोडशी) सोलह कलावान् ईश्वर ॥

अन्वयः—यस्मात् परोऽन्यो न जातः किञ्च यो विश्वा भुवनान्याविवेश, स प्रजापतिः प्रजया संरराणः षोडशी त्रीणि ज्योतींषि सचते ॥
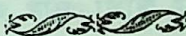
मूल स्तुति

स नः॑ पि॒तेव॑ सू॒नवेऽग्ने॑ सू॒पाय॒नो भ॑व । सच॑स्वा नः स्व॒स्तये॑ ॥ १५ ॥ यजु० ३ । २४ ॥

व्याख्यान—(ब्रह्मह्यग्निः, इत्यादि शतपथादिप्रामाण्याद् ब्रह्मैवात्राग्निर्ग्राह्यः) हे विज्ञानस्वरूपेश्वराग्ने ! आप हमारे लिये "सूपायनः" सुख से प्राप्त श्रेष्ठोपाय के प्रापक, अत्युत्तम स्थान के दाता कृपा से सर्वदा हो, तथा रक्षक भी हमारे आप ही हो। हे स्वस्तिद परमात्मन् ! सब दुःखों का नाश करके हमारे लिये सुख का वर्त्तमान सदैव कराओ, जिससे हमारा वर्त्तमान श्रेष्ठ ही हो।

"स नः पितेव सूनवे" जैसे करुणामय पिता अपने पुत्र को सुखी ही रखता है, वैसे आप हम को सदा सुखी रक्खो, क्योंकि जो हम लोग बुरे होंगे तो उसमें आप की शोभा नहीं होना। किञ्च—सन्तानों को सुधारने से ही पिता की शोभा और बड़ाई होती है; अन्यथा नहीं ॥१५॥

पदार्थः—(सः) आप (नः) हमारे लिये/हमको (पिता) करुणामय पिता (इव) जैसे (सूनवे) अपने पुत्र को (अग्ने) हे विज्ञानस्वरूपेश्वराग्ने ! (सूपायनः) श्रेष्ठोपाय के प्रापक, अत्युत्तम स्थान के दाता (भव) सर्वदा हो (सचस्व) सदा सुखी रखो (नः) हमारे लिये (स्वस्तये) हे स्वस्तिद परमात्मन् ! सब दुःखों का नाश करके ॥

अन्वयः—हे अग्ने जगदीश्वर ! यस्त्वं कृपया सूनवे पितेव नोऽस्मभ्यं सूपायनो भवसि, स त्वं नोऽस्मान् स्वस्तये सततं सचस्व संयोजय ॥

मूल स्तुति

विभूरसि प्रवाहणः । वह्निरसि हव्यवाहनः । श्वात्रोऽसि प्रचेतास्तुथोऽसि विश्ववेदाः ॥ १६ ॥ यजु० ५ । ३१ ॥

उशिगसि कविः । अङ्घारिरसि बम्भारिः । अवस्यूरसि दुवस्वान् । शुन्ध्यूरसि मार्जालीयः सम्राडसि कृशानुः । परिषद्योऽसि पवमानः । नभोऽसि प्रतक्वा । मृष्टोऽसि हव्यसूदनः ऋतधामासि स्वर्ज्योतिः ॥ १७ ॥ यजु० ५ । ३२ ॥

समुद्रोऽसि विश्वव्यचाः । अजोऽस्येकपात् । अहिरसि बुध्न्यः । वागस्यैन्द्रमसि सदोऽसि । ऋतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्तम् । अध्वनामध्वपते प्र मा तिर स्वस्ति मेऽस्मिन् पथि देवयाने भूयात् ॥ १८ ॥ यजु० ५ । ३३ ॥

व्याख्यान—हे व्यापकेश्वर ! आप विभु हो अर्थात् सर्वत्र प्रकाशित वैभवैश्वर्ययुक्त हो किन्तु और कोई नहीं, विभु आप सब जगत् के प्रवाहण (स्वस्वनियमपूर्वक चलाने वाले) तथा सब के निर्वाहकारक भी हो । हे स्वप्रकाशक सर्वरसवाहकेश्वर ! आप वह्नि हैं अर्थात् सब हव्य उत्कृष्ट रसों के भेदक आकर्षक तथा यथावत् स्थापक हो । हे आत्मन् ! आप शीघ्र व्यापनशील हो तथा पकृष्ट ज्ञानस्वरूप प्रकृष्ट ज्ञान के देनेवाले हो । हे सर्ववित् ! आपतुथ और विश्ववेदा हो, "तुथो वै ब्रह्म" (यह शतपथ की श्रुति है) सब जगत् में विद्यमान प्राप्त और लाभ करानेवाले हो ॥ १६ ॥

हे सर्वप्रिय ! आप "उशिक्" कमनीयस्वरूप अर्थात् सब लोग

जिसको चाहते हैं, क्योंकि आप कवि पूर्ण विद्वान् हो, तथा आप अङ्घारि हो अर्थात् स्वभक्तों का जो अघ (पाप) उसके अरि (शत्रु) हो उस समस्त पाप के नाशक हो, तथा "बम्भारिः" स्वभक्तों और सब जगत् के पालन तथा धारण करने वाले हो "अवस्यूरसि दुवस्वान्" अन्नादि पदार्थ अपने भक्तों धर्मात्माओं को देने की इच्छा सदा करते हो, तथा परिचरणीय=विद्वानों से सेवनीयतम हो। "शुन्ध्यूरसि मार्ज्जालीयः" शुद्धस्वरूप और सब जगत् के शोधक तथा पापों का मार्जन (निवारण) करने वाले आप ही हो; अन्य कोई नहीं। "सम्राडसि कृशानुः" सब राजाओं के महाराज तथा कृश=दीनजनों के प्राण के सुखदाता आप ही हो "परिषद्योसि पवमानः" हे न्यायकारिन् ! पवित्र परमेश्वर सभा के आज्ञापक, सभ्य, सभापति, सभाप्रिय, सभारक्षक आप ही हो तथा पवित्रस्वरूप, पवित्रकारक सभा से ही सुखदायक, पवित्रप्रिय आप ही हो। "नभोऽसि प्रतक्वा" हे निर्विकार ! आकाशवत् आप क्षोभरहित अतिसूक्ष्म होने से आपका नाम नभ है, तथा "प्रतक्वा" सब के ज्ञाता, सत्यासत्यकारी जनों के कर्मों को साक्ष्य रखने वाले कि जिसने जैसा पाप वा पुण्य किया हो उस को वैसा फल मिले, अन्य का पुण्य वा पाप अन्य को कभी न मिले। "मृष्टोसि हव्यसूदनः" मृष्ट शुद्धस्वरूप सब पापों के मार्जक शोधक तथा "हव्यसूदनः" मिष्ट, सुगन्ध, रोगनाशक, पुष्टिकारक इन द्रव्यों से वायु वृष्टि की शुद्धि करने कराने वाले हो। अतएव सब द्रव्यों के विभागकर्त्ता आप ही हो इससे आपका नाम "हव्यसूदन" है। "ऋतधामासि स्वर्ज्योतिः" हे भगवन् ! आपका ही धाम=स्थान सर्वगत सत्य और यथार्थस्वरूप है, यथार्थ (सत्य) व्यवहार में ही आप निवास करते हो मिथ्या में नहीं। "स्वः" आप सुखस्वरूप और सुखकारक हो तथा "ज्योतिः" स्वप्रकाश और सब के प्रकाशक आप ही हैं। १७॥

"समुद्रोऽसि विश्वव्यचाः" हे द्रवणीयस्वरूप ! सब भूतमात्र आप ही में द्रव हैं, क्योंकि कार्य कारण में ही मिले हैं। आप सब के कारण हो तथा सहज से सब जगत् को विस्तृत किया है इससे आप "विश्वव्यचाः" हैं। "अजोऽस्येकपात्" आपका जन्म कभी नहीं होता और यह सब जगत् आपके किञ्चिन्मात्र एक देश में है, आप अनन्त हो। "अहिरसि बुध्न्यः" आपकी हीनता कभी नहीं होती तथा सब जगत् के मूलकारण और अन्तरिक्ष में भी सदा आप ही पूर्ण रहते हो। "वागस्यैन्द्रमहि सदोऽसि" सब शास्त्र के उपदेशक अनन्तविद्यास्वरूप होने से आप वाक् हो, परमैश्वर्यस्वरूप सब विद्वानों में अत्यन्त शोभायमान होने से आप ऐन्द्र हो, सब संसार आप में ठहर रहा है, इससे आप सदा (सभास्वरूप) हो।

"ऋतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्तम्" सत्यविद्या और धर्म ये दोनों मोक्षस्वरूप आप की प्राप्ति के द्वार हैं उनको संतापयुक्त हम लोगों के लिये कभी मत रक्खो किन्तु सुखस्वरूप हो खुले रक्खो जिससे हम लोग सहज से आप को प्राप्त हों।

"अध्वनामित्यादि" हे अध्वपते ! परमार्थ और व्यवहार मार्गों में मुझ को कहीं क्लेश मत होने दे किन्तु उन मार्गों में मुझ को स्वस्ति (आनन्द) ही आप की कृपा से रहे, किसी प्रकार का दुःख न रहे ॥ १८ ॥

पदार्थः—(विभूः) हे व्यापकेश्वर ! सर्वत्र प्रकाशित, वैभवैश्वर्ययुक्त (असि) हो (प्रवाहणः) स्वस्व नियमपूर्वक चलाने वाले तथा सब के निर्वाहकारक (वह्निः) हे स्वप्रकाशक सर्वरसवाहकेश्वर ! (असि) हो (हव्यवाहनः) सब हव्य = उत्कृष्ट रसों के भेदक, आकर्षक तथा यथावत् स्थापक (श्वात्रः) हे आत्मन् ! आप शीघ्र व्यापनशील (असि) हो (प्रचेताः) प्रकृष्ट ज्ञान स्वरूप, प्रकृष्ट ज्ञान के देने वाले

(तुथः) हे सर्ववित् ! (असि) हो (विश्ववेदाः) सब जगत् में विद्यमान प्राप्त और लाभ कराने वाले ॥ १६ ॥

पदार्थः—(उशिक्) हे सर्वप्रिय ! कमनीयस्वरूप (असि) हो (कविः) पूर्ण विद्वान् (अङ्घारिः) स्वभक्तों के अघ=पापके अरिः= नाशक (असि) हो (बम्भारिः) स्वभक्तों और सर्वजगत् के पालन तथा धारण करने वाले (अवस्यूः) अन्नादि पदार्थ अपने भक्त धर्मात्माओं के देने के सदा इच्छुक (असि) हो (दुवस्वान्) परिचरणीय विद्वानों से सेवनीयतम (शुन्ध्यूः) शुद्धस्वरूप और सब जगत् के शोधक (असि) हो (मार्जालीयः) पाप का मार्जन=निवारण करने वाले (सम्राड्) सब राजाओं के महाराज (असि) हो (कृशानुः) दीपों के प्राण के सुखदाता (परिषद्यः) हे न्यायकारिन् परमेश्वर ! सभा के आज्ञापक, सभ्य, सभापति, सभाप्रिय, सभारक्षक, सभा के ही सुख-दायक (असि) हो (पवमानः) हे पवित्र परमेश्वर ! पवित्रस्वरूप पवित्रकारक पवित्रप्रिय (नभः) हे निर्विकार ! आकाशवत् क्षोभरहित अतिसूक्ष्म (असि) हो (प्रतक्वा) सबके ज्ञाता सत्यासत्यकारी जनों के कर्मों की साक्ष्य रखने वाले (मृष्टः) शुद्धस्वरूप सब पापों के मार्जक शोधक (असि) हो (हव्यसूदनः) सब द्रव्यों के विभाग कर्त्ता/मिष्ट, सुगन्ध, रोगनाशक द्रव्यों से पुष्टिकारक द्रव्यों से वायु वृष्टि की शुद्धि कराने वाले (ऋतधामा) हे भगवन् ! आप का ही धाम=स्थान सर्व-गत सत्य और यथार्थस्वरूप (असि) हो (स्वः) सुखस्वरूप और सुख-कारक (ज्योतिः) स्वप्रकाश और सुख के प्रकाशक ॥ १७ ॥

पदार्थः—(समुद्रः) हे द्रवणीय स्वरूप ! सब भूतमात्र आप में ही द्रव हैं क्योंकि आप सबके कारण (असि) हो (विश्वव्यचाः) सहज से सब जगत् को विस्तृत किया है (अजः) अजन्मा (असि) हो (एकपात्) यह सब जगत् आपके किञ्चिन्मात्र एक देश में है (अहिः) होनतारहित (असि) हो (बुध्न्यः) सब जगत् के मूल कारण और

अन्तरिक्ष में भी सदा परिपूर्ण (वाक्) सब शास्त्र के उपदेशक अनन्त-विद्यास्वरूप (असि) हो (ऐन्द्रम्) परमैश्वर्यस्वरूप सब विद्वानों में अत्यन्त शोभायमान (असि) हो (सदः) सब संसार को अपने में ठहराने वाले, सभास्वरूप (असि) हो (ऋतस्य) सत्य विद्या और धर्म ये दोनों मोक्षस्वरूप आपकी प्राप्ति के (द्वारौ) द्वार हैं (मा-मा) कभी मत (सन्ताप्तम्) सन्तापयुक्त रखो (अध्वनाम्) परमार्थ और व्यवहार मार्गों के (अध्वपते) हे अध्वपते! (मा) मत (प्र+तिर) मुझको क्लेशयुक्त होने दे (स्वस्ति) आनन्द (मे) मुझ को (अस्मिन्) इस (पथि) व्यवहार मार्ग में (देवयाने) परमार्थ मार्ग में (भूयात्) आपकी कृपा से रहे ॥ १८ ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर! यस्मात्त्वं यथाऽऽकाशस्तथा विभूरसि, यथा वायुर्महानदो वा तथा प्रवाहणोऽसि, यथा वह्निस्तथा हव्यवाहनोऽसि, यथा प्राणस्तथा प्रचेता श्वात्रोऽसि, यथा सूत्रात्मा पवनस्तथा विश्ववेदास्तुथश्चासि, तस्मात् सत्कर्त्तव्योऽसीति वयं विजानीमः ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे भगवन्! यतस्त्वम् उशिगसि, अंघारिः कविरसि बम्भारिरवस्यूरसि दुवस्वान् शुन्ध्यूर्मार्जालीयोऽसि पवमानः परिषद्योऽसि यथा प्रतक्वा तथान्तरिक्षप्रकाशका नमोऽसि यथा हव्यसूदनस्तथा मृष्टोऽसि यथा स्वर्ज्योतिर्ऋतधामाऽसि तथा सत्यस्थायी वर्त्तसे तथैव तत्तद्गुणेन प्रसिद्धो भवान् सर्वैरुपासनीयोऽस्तीति विजानीमः ॥ १७ ॥

अन्वयः—यथेश्वरः समुद्रो विश्वव्यचा अस्ति स एकपादजोऽस्ति अहिर्बुध्न्योऽसि। हे अध्वपते! यथैन्द्रसदोऽस्ति यथा स ऋतस्य द्वारौ सन्तापयति तथा मा सन्तापयेः। यथा चास्मिन् देवयाने पथि स्वस्ति भूयात्तथा त्वं सततं प्रयतस्व ॥ १८ ॥ ●

मूल स्तुति

देव कृतस्यैनसोऽवयजनमसि । मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि । पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमसि । आत्मकृतस्यैनसोऽवयजनमसि । एनस एनसोऽवयजनमसि । यच्चाहमेनो विद्वांश्चकार । यच्चाविद्वांस्तस्य सर्वस्यैनसोऽवयजनमसि ॥ १९ ॥

यजु० ८ । १३ ॥

व्याख्यान—हे सर्वपापप्रणाशक । "देवकृतः०" इन्द्रिय विद्वान् और दिव्यगुणयुक्त जन के दुःख के नाशक एक ही आप हो अन्य कोई नहीं, एवं मनुष्य (मध्यस्थजन), पितृ (परमविद्यायुक्तजन) और "आत्मकृत०" जीव के पापों तथा "एनस०" पापों से भी बड़े पापों से आप ही अवयजन हो अर्थात् सर्व पापों से अलग हो और हम सब मनुष्यों को भी पाप से दूर रखने वाले एक आप ही दयामय पिता हो ।

हे महानन्तविद्य ! जो-जो मैंने विद्वान् वा अविद्वान् हो के पाप किया हो उन सब पापों का छुड़ानेवाला आप के विना कोई भी इस संसार में हमारा शरण नहीं है । इससे हमारे अविद्यादि सब पाप छुड़ा के शीघ्र हम को शुद्ध करो ॥ १९ ॥

पदार्थः—(देवकृतस्य) हे सर्वपापप्रणाशक ! इन्द्रिय विद्वान् और दिव्यगुणयुक्त जन के (एनसः) दुःख के (अवयजनम्) नाशक (असि) हो (मनुष्यकृतस्य) मनुष्य=मध्यस्थ जन के (एनसः) पाप से (अवयजनम्) अलग/दूर करने वाले (असि) हो (पितृकृतस्य) पितृ=परमविद्यायुक्त जन के (एनसः) पाप से (अवयजनम्) अलग/दूर करने वाले (असि) हो (आत्मकृतस्य) जीव के (एनसः) पापों से

(अवयजनम्) अलग/दूर करने वाले (असि) हो (एनसः) पापों से भी (एनसः) बड़े पापों से (अवयजनम्) अलग (असि) हो (यत्) जो (च) और (अहम्) मैंने (विद्वान्) विद्वान् होकर (चकार) पाप किया है (यत्) जो (अविद्वान्) अविद्वान् होकर (तस्य) उन का (सर्वस्य) सब का (एनसः) पापों को (अवयजनम्) छुड़ाने वाले (असि) हो ॥

अन्वयः—हे सर्वपापप्रणाशक ! त्वं देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि, मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि, पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमसि, आत्मकृतस्यैनसोऽवयजनमसि । एनस एनसोऽवयजनमसि । हे महानन्तविद्य ! विद्वानहं यच्चैनः पापं चकार कृतवान्, करोमि, करिष्यामि, अविद्वानहं यच्चैनः कृतवान्, करोमि, करिष्यामि वा तस्य सर्वस्यैनसोऽवयजनं चासि ॥

मूल स्तुति

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२०॥
यजु० १३ । ४ ॥

व्याख्यान—जब सृष्टि नहीं हुई थी तब एक=अद्वितीय हिरण्यगर्भ (जो सूर्य्यादि तेजस्वी पदार्थों का गर्भ नाम उत्पत्तिस्थान उत्पादक) है, सो ही प्रथम था। वह सब जगत् का सनातन प्रादुर्भूत प्रसिद्ध पति है। वही परमात्मा पृथिवी से ले के प्रकृतिपर्यन्त जगत् को रच के धारण करता है। "कस्मै" (कः प्रजापतिः, प्रजापतिर्वै कस्तस्मै देवाय, शतपथे) प्रजापति जो परमात्मा उस की पूजा आत्मादि पदार्थों के समर्पण से यथावत् करें, उससे भिन्न की उपासना लेशमात्र भी हम लोग न करें। जो परमात्मा को छोड़ के वा उसके स्थान में दूसरे की पूजा करता है उस की और उस देश भर की अत्यन्त दुर्दशा होती है, यह प्रसिद्ध है।

इससे चेतो मनुष्यो ! जो तुम को सुख की इच्छा हो तो एक निराकार परमात्मा की यथावत् भक्ति करो; अन्यथा तुम को कभी सुख न होगा ॥ २० ॥

पदार्थः—(हिरण्यगर्भः) सूर्यादि तेजस्वी पदार्थों का गर्भ नाम उत्पत्तिस्थान उत्पादक (समबर्तत) था (अग्रे) जब सृष्टि नहीं हुई थी तब/प्रथम (भूतस्य) सब जगत् का (जातः) सनातन, प्रादुर्भूत, प्रसिद्ध (पतिः) स्वामी (एकः) एक (आसीत्) है (सः) वही परमात्मा (दाधार) रचके धारण करता है (पृथिवीम्) पृथिवी से ले के प्रकृति पर्यन्त जगत् को (द्याम्) द्युलोक को (उत) और (इमाम्) इस क

(कस्मै) प्रजापति की (देवाय) जो परमात्मा उसकी (हविषा) आत्मादि पदार्थों के समर्पण से (विधेम) पूजा यथावत् करें ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा वयं योऽस्य भूतस्य जातः पतिरेको हिरण्यगर्भोऽग्रे समवर्त्ततासीत् स इमां सृष्टिं रचयित्वोतापि पृथिवीं द्यां दाधार तस्मै कस्मै सुखस्वरूपाय देवाय परमेश्वराय हविषा विधेम तथा यूयमप्येनं सेवध्वम् ॥
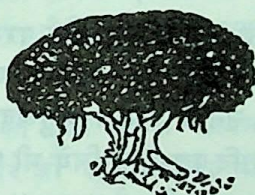
मूल प्रार्थना

इन्द्रोविश्वस्य राजति । शं नोऽअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ २१ ॥ यजु० ३६ । मं० ८ ॥

शं नो वातः पवताᳩंशं नस्तपतु सूर्यः । शं नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्योऽअभिवर्षतु ॥ २२ ॥ यजु० ३६ । मं० १० ॥

अहानि शं भवन्तु नः शᳩं रात्रीः प्रतिधीयताम् । शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रावरुणा रातहव्या । शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ शमिन्द्रासोमा सुविताय शंयोः ॥ २३ ॥
यजु० ३६ । मं० ११ ॥

व्याख्यान—हे इन्द्र ! आप परमैश्वर्ययुक्त सब संसार के राजा हो, सर्वप्रकाशक हो । हे रक्षक ! आप कृपा से हम लोगों के "द्विपदे" जो पुत्रादि, उन के लिए परमसुखदायक हो, तथा "चतुष्पदे" हस्ती, अश्व और गवादि पशुओं के लिये भी परम सुखकारक हो, जिससे हम लोगों को सदा आनन्द ही रहे ॥ २१ ॥

हे सर्वनियन्तः ! हमारे लिये सुखकारक शीतल मन्द और सुगन्ध सदैव वायु चले । ऐसे सूर्य भी सुखकारक तपे तथा मेघ भी सुख का शब्द लिये अर्थात् गर्जन पूर्वक सदैव काल काल में सुखकारक वर्षा वर्षे । जिससे आप के कृपापात्र हम लोग सुखानन्द ही में सदा रहें ॥ २२ ॥

हे क्षणादि कालपते ! सब दिवस आप के नियम से सुखरूप ही हमको हों, हमारे लिये सर्व रात्रि भी आनन्द से बीतें । हे भगवन् ! दिन और रात्रियों को सुखकारक ही आप स्थापन करो जिससे सब समय में हम लोग सुखी ही रहें ।

हे सर्वस्वामिन् ! "इन्द्राग्नी" सूर्य तथा अग्नि ये दोनों हमको आप के अनुग्रह से और नानाविधि रक्षाओं से सुखकारक हों।

"इन्द्रावरुणा रातहव्या" हे प्राणाधार ! होम से शुद्धिगुणयुक्त हुए आपकी प्रेरणा से वायु और चन्द्र हम लोगों के लिये सुखरूप ही सदा हों।

"इन्द्रापूषणा, वाजसातौ" हे प्राणपते ! आप की रक्षा से पूर्ण आयु और बलयुक्त प्राण वाले हम लोग अपने अत्यन्त पुरुषार्थयुक्त युद्ध में स्थिर रहें, जिससे शत्रुओं के सम्मुख हम निर्बल कभी न हों।

"इन्द्रासोमा सुविताय शंयोः" (प्राणापानौ वा इन्द्राग्नी इत्यादि शतपथे) हे महाराज ! आप के प्रबन्ध से राजा और प्रजा परस्पर विद्यादि सत्यगुणयुक्त होके अपने ऐश्वर्य का उत्पादन करें, तथा आप की कृपा से परस्पर प्रीतियुक्त हों, अत्यन्त सुख लाभों को प्राप्त हों।

आप हम पुत्र लोगों को सुखी देख के अत्यन्त प्रसन्न हों और हम भी प्रसन्नता से आप और जो आपकी सत्य आज्ञा उस में ही तत्पर हों ॥ २३ ॥

पदार्थः—(इन्द्रः) हे इन्द्र आप परमैश्वर्यंयुक्त/हे रक्षक/हे सर्वनियन्तः ! हे क्षणादिकालपते ! हे सर्वस्वामिन् ! हे प्राणाधार ! हे प्राणपते ! हे महाराज ! (विश्वस्य) सब संसार के (राजति) राजा हो, सर्वप्रकाशक हो (शम्) परमसुखदायक (नः) हम लोगों के (अस्तु) हो (द्विपदे) पुत्रादि के लिये (शम्) परमसुखदायक (चतुष्पदे) हस्ती अश्व और गवादि पशुओं के लिये ॥ २१ ॥

पदार्थः—(शम्) सुखकारक शीतल मन्द और सुगन्ध (नः) हमारे लिये (वातः) वायु (पवताम्) चले (शम्) सुखकारक (नः)

हमारे लिये (तपतु) तपे (सूर्यः) सूर्य (शम्) सुखकारक (नः) हमारे लिये (कनिक्रदद्) गर्जनपूर्वक (देवः) (पर्जन्यः) मेघ (अभिवर्षतु) वर्षे ॥ २२ ॥

पदार्थः—(अहानि) सब दिवस (शम्) सुखरूप (भवन्तु) हों (नः) हम को (शम्) आनन्द से/सुखरूप (रात्रीः) सर्व रात्रि/रात्रियों का (प्रतिधीयताम्) बीतें/स्थापन करो (शम्) सुखकारक (नः) हमको (इन्द्राग्नी) सूर्य तथा अग्नि (भवताम्) हों (अवोभिः) नानाविध रक्षाओं से (शम्) सुखरूप (नः) हम लोगों के लिये (इन्द्रावरुणा) वायु और चन्द्र (रातहव्या) होम से शुद्धिगुण युक्त हुये (शम्) स्थिर (नः) हम लोग (इन्द्रापूषणा) पूर्ण आयु और बलयुक्त प्राण वाले (वाजसातौ) पुरुषार्थयुक्त युद्ध में (शम्) परस्पर विद्यादि सत्य गुण युक्त हो के (इन्द्रासोमा) राजा और प्रजा (सुविताय) उत्पादन करें (शंयोः) अपने ऐश्वर्य का ॥ २३ ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर ! यो भवानिन्द्र इव विश्वस्य राजति तस्य भवतः कृपया नो द्विपदे शमस्तु नश्चतुष्पदे शमस्तु ॥

अन्वयः—हे परमेश्वर विद्वन् वा ! यथा वातो नः शं पवतां सूर्यो नस्तपतु कनिक्रदद्देवो नः शं भवन्तु पर्जन्यो नोऽभिवर्षतु तथाऽस्मान् शिक्षय ॥

अन्वयः—हे परमेश्वर विद्वन् वा ! यथाऽवोभिः सह शंयोः सुविताय नोऽहानि शं भवन्तु रात्रीश्शं प्रतिधीयतामिन्द्राग्नी नः शं भवतां रातहव्या इन्द्रावरुणा नः शं भवतां वाजसाताविन्द्रापूषणा नः शं भवताम् इन्द्रासोमा च शं भवतां तथाऽस्माननुशिक्षेताम् ॥

मूल स्तुति

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत् । त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पिताऽसत् ॥ २४ ॥ यजु० ३२ । ९ ॥

व्याख्यान—हे वेदादिशास्त्र और विद्वानों के प्रतिपादन करने योग्य ! जो अमृत (मरणादि दोषरहित), मुक्तों का धाम (निवासस्थान), सर्वगत, सब का धारण और पोषण करनेवाला, सब की बुद्धियों का साक्षी ब्रह्म है उस आप का उपदेश तथा धारण जो विद्वान् जानता है वह गन्धर्व कहाता है (गच्छतीति गं ब्रह्म तद्धरतीति स गन्धर्वः) सर्वगत ब्रह्म को जो धारण करनेवाला उसका नाम गन्धर्व है। तथा परमात्मा के तीन पद हैं—जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने के सामर्थ्य, तथा ईश्वर को जो स्वहृदय में जानता है वह पिता का भी पिता है अर्थात् विद्वानों में भी विद्वान् है ।। २४ ।।

पदार्थः—(तद्) उस आपका (प्र+वोचेत्) उपदेश तथा धारण करना जानता है (अमृतम्) अमृत=मरणादि दोष रहित (नु) [निश्चय से] (विद्वान्) विद्वान् (गन्धर्वः) सर्वगत ब्रह्म को धारण करने वाला (धाम) मुक्तों का धाम=निवासस्थान, सर्वगत (विभृतम्) सबका धारण और पोषण करने वाला (गुहा) सबकी बुद्धि का साक्षी (सत्) ब्रह्म है (त्रीणि) तीन (पदानि) पद हैं/जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय करने के सामर्थ्य (निहिता) [विद्यमान] (गुहा) स्वहृदय में (अस्य) परमात्मा के (यः) जो (तानि) इनको=उत्पत्ति स्थिति प्रलय तथा ईश्वर को (वेद) जानता है (सः) वह (पितुः) पिता का भी/विद्वानों में भी (पिता) पिता/विद्वान् ।।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यो गन्धर्वो विद्वान् गुहा विभृतममृतं धाम तत् सन्त प्रवोचेत् यान्यस्य गुहा निहितानि पदानि त्रीणि सन्ति तानि च वेद स पितुः पिताऽसत् ॥

मूल प्रार्थना

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳशान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिस्सर्वꣳ शान्तिश्शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥२५॥

यजु० ३६ । १७ ॥

व्याख्यान—हे सर्वदुःख की शान्ति करनेवाले ! सब लोकों से ऊपर जो आकाश सो सर्वदा हम लोगों के लिये शान्त (निरुपद्रव) सुखकारक ही रहे । अन्तरिक्ष=मध्यस्थ लोक और उसमें स्थित वायु आदि पदार्थ; पृथिवी, पृथिवीस्थ पदार्थ; जल, जलस्थ पदार्थ; ओषधि, तत्रस्थ गुण; वनस्पति, तत्रस्थ पदार्थ; विश्वेदेव (जगत् के सब विद्वान्) तथा विश्वद्योतक वेदमन्त्र, इन्द्रिय, सूर्यादि, उनकी किरण, तत्रस्थ गुण; ब्रह्म=परमात्मा तथा वेदशास्त्र, स्थूल और सूक्ष्म, चराऽचर जगत् ये सब पदार्थ हमारे लिये हे सर्वशक्तिमन् परमात्मन् ! आप की कृपा से शान्त (निरुपद्रव) सदानुकूल सुखदायक हों । मुझ को भी शान्ति प्राप्त हो जिससे मैं भी आप की कृपा से शान्त=दुष्ट क्रोधादि उपद्रव रहित होऊँ, तथा सब संसारस्थ जीव भी दुष्ट क्रोधादि उपद्रव रहित हों ॥ २५ ॥

पदार्थः—(द्यौः) सब लोकों से ऊपर आकाश सो (शान्तिः) शान्त=निरुपद्रव सुखकारक ही रहे (अन्तरिक्षम्) मध्यस्थ लोक और उसमें वायु आदि पदार्थ (शान्तिः) पूर्ववत् (पृथिवी) पृथिवी, पृथिवीस्थ पदार्थ (शान्तिः) पूर्ववत् (आपः) जल, जलस्थ पदार्थ (शान्तिः) पूर्ववत् (ओषधयः) ओषधि तत्रस्थ गुण (शान्तिः) पूर्ववत् (वनस्पतयः) वनस्पति तत्रस्थ पदार्थ (शान्तिः) पूर्ववत् (विश्वेदेवाः) जगत् के सब विद्वान्, तथा द्योतक वेदमन्त्र, इन्द्रिय, सूर्यादि उनकी किरण तत्रस्थ गुण (शान्तिः) पूर्ववत् (ब्रह्म) परमात्मा तथा वेदशास्त्र (शान्तिः) पूर्ववत् (सर्वम्) स्थूल और सूक्ष्म चराचर जगत् ये सब पदार्थ (शान्तिः) पूर्ववत् (शान्तिः) सब संसारस्थ जीव (एव) भी (शान्तिः) दुष्ट क्रोधादि उपद्रव रहित हों (सा) वह (मा) मुझ को भी (शान्तिः) शान्ति (एधि) प्राप्त हो ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! या द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिर्मेधि सा शान्ति-र्युष्माकमपि प्राप्नोतु ॥

मूल स्तुति

नमः शम्भवायं च मयोभवायं च नमः शंकुरायं च मयस्कुरायं च । नमः शिवायं च शिवतंराय च ॥ २६ ॥

यज० १६ । ४१ ॥

व्याख्यान—हे कल्याणस्वरूप, कल्याणकर ! आप शंभव हो (मोक्ष सुखस्वरूप और मोक्ष सुख के करनेवाले हो), आपको नमस्कार है। आप मयोभव हो, सांसारिक सुख के करनेवाले आप को मैं नमस्कार करता हूँ, आप शंकर हो, आप से ही जीवों का कल्याण होता है, अन्य से नहीं, तथा मयस्कर अर्थात् मन, इन्द्रिय, प्राण और आत्मा को सुख करनेवाले आप ही हो। आप शिव (मङ्गलमय) हो तथा आप शिवतर (अत्यन्त कल्याणस्वरूप और कल्याणकारक) हो इससे आप को हम लोग बारम्बार नमस्कार करते हैं।

(नमो नम इति यज्ञः शतपथे) श्रद्धा भक्ति से जो जन ईश्वर को नमस्कारादि करता है सो मङ्गलमय ही होता है ॥ २६ ॥

पदार्थः—(नमः) नमस्कार है। मैं नमस्कार करता हूँ (शंभवाय) कल्याणस्वरूप, कल्याणकर, मोक्षसुखस्वरूप और मोक्षसुख के करने वाले को (च) और (मयोभवाय) सांसारिक सुख के करने वाले को (च) और (नमः) पूर्ववत् (शंकराय) जीवों के कल्याण करने वाले को (च) और (मयस्कराय) मन, इन्द्रिय, प्राण और आत्मा को सुख करने वाले को (च) और (नमः) पूर्ववत् (शिवाय) मङ्गलमय को (च) और (शिवतराय) अत्यन्तकल्याणस्वरूप और कल्याणकारक को ॥

अन्वयः—ये मनुष्याः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च नमः कुर्वन्ति ते कल्याणमाप्नुवन्ति ॥ ●

मूल प्रार्थना

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥ २७ ॥
यजु० २५ । २१ ॥

व्याख्यान—हे देवेश्वर ! देव विद्वानो ! हम लोग कानों से सदैव भद्र कल्याण को ही सुनें, अकल्याण की बात भी हम कभी न सुनें । हे यजनीयेश्वर ! हे यज्ञकर्त्तारो ! हम आँखों से कल्याण (मंगलसुख) को ही सदा देखें ।

हे जनो ! हे जगदीश्वर ! हमारे सब अङ्ग उपाङ्ग (श्रोत्रादि इन्द्रिय तथा सेनादि उपांग) स्थिर (दृढ़) सदा रहें, जिनसे हम लोग स्थिरता से आप की स्तुति और आपकी आज्ञा का अनुष्ठान सदा करें, तथा हम लोग आतमा, शरीर, इन्द्रिय और विद्वानों के हितकारक आयु को विविध सुखपूर्वक प्राप्त हों अर्थात् सदा सुख में ही रहें ॥ २७ ॥

पदार्थः—(भद्रम्) कल्याण को ही (कर्णेभिः) कानों से (शृणुयाम) हम लोग सुनें (देवाः) हे देवेश्वर !/देव विद्वानो ! (भद्रम्) कल्याण=मङ्गलसुख को ही (पश्येम) हम सदा देखें । (अक्षभिः) आँखों से (यजत्राः) हे यजनीयेश्वर ! हे यज्ञकर्त्तारो ! (स्थिरैः) दृढ़ (अङ्गैः) अङ्ग, उपाङ्ग=श्रोत्रादि इन्द्रिय तथा सेनादि उपाङ्ग से (तुष्टुवांसः) आपकी स्तुति और आपकी आज्ञा का अनुष्ठान सदा करें (तनूभिः) आत्मा शरीर सहित (व्यशेमहि) विवध सुखपूर्वक प्राप्त हों (देवहितम्) इन्द्रिय और विद्वानों के हितकारक (यद्) [जो] (आयुः) आयु को ॥

अन्वयः—हे देवेश्वर ! यजत्रा देवा विद्वांसो वा ! भवत्सङ्गेन वयं कर्णेभिर्भद्रं शृणुयामाक्षभिर्भद्रं पश्येम स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसः सन्तस्तनूभिर्यद्देवहितमायुस्तद् व्यशेमहि ॥

———

मूल स्तुति

ब्रह्म॑ जज्ञा॒नं प्र॑थ॒मं पु॒रस्ता॒द्वि सी॑म॒तः सु॒रुचो॑ वे॒नऽआ॑वः । स बु॒ध्न्या॒ऽउप॒मा अ॑स्य वि॒ष्ठाः स॒तश्च॒ योनि॒मस॑तश्च॒ विवः ॥ २८ ॥ यजु० १३ । ३ ॥

व्याख्यान—हे महीय परमेश्वर ! आप बड़ों से भी बड़े हो, आप से बड़ा वा आप के तुल्य कोई नहीं है। "जज्ञानम्" सब जगत् में व्यापक (प्रादुर्भूत) हो सब जगत् के प्रथम (आदिकारण) आप ही हो। सूर्यादि लोक "सीमतः" सीमा से युक्त (मर्यादासहित) "सुरुचः" आप से प्रकाशित हैं। "पुरस्तात्" इन को पूर्व रच के आप ही धारण कर रहे हो। (व्यावः) इन सब लोकों को विविध नियमों से पृथक्-पृथक् यथायोग्य वर्त्ता रहे हो। "वेनः" आप के आनन्दस्वरूप होने से ऐसा कोई जन संसार में नहीं है जो आप की कामना न करे। किन्तु सब ही आप को मिला चाहते हैं। तथा आप अनन्त विद्यायुक्त हो, सब रीति से रक्षक आप ही हो। सो ही परमात्मा "बुध्न्याः" अन्तरिक्षान्तर्गत दिशादि पदार्थों को "विवः" विवृत (विभक्त) करता है, वे अन्तरिक्षादि उपमा सब व्यवहारों में उपयुक्त होते हैं और वे इस विविध जगत् के निवासस्थान हैं।

सत्=विद्यमान स्थूल जगत्, असत्=अविद्या चक्षुरादि इन्द्रियों से अगोचर, इस विवध जगत् की योनि=आदि कारण आप को ही वेद शास्त्र और विद्वान् लोग कहते हैं। इससे इस जगत् के माता पिता आप ही हैं; हम लोगों के भजनीय इष्टदेव हैं ॥ २८ ॥

पदार्थः—(ब्रह्म) हे महीय परमेश्वर ! आप बड़ों से भी बड़े हो। आपसे बड़ा वा आपके तुल्य कोई नहीं है (जज्ञानम्) सब जगत् में व्यापक=प्रादुर्भूत हो (प्रथमम्) सब जगत् के आदिकारण आप ही हो (पुरस्तात्) पूर्व (सीमतः) विवध सीमा से युक्त=मर्यादा सहित (सुरुचः) सूर्यादि लोक आपसे ही प्रकाशित हैं (वेनः) आनन्द-स्वरूप, कामना करने योग्य, प्राप्त करने योग्य, अनन्तविद्यायुक्त (वि-आवः) सब लोकों को विवध नियमों से प्रथक्-पृथक् यथायोग्य वर्त्ता रहे हो (सः) सो ही आप (बुध्न्याः) अन्तरिक्षान्तर्गत दिशादि पदार्थों को (उपमाः) वे अन्तरिक्षादि उपमा=सब व्यवहारों में उप-युक्त होते हैं (अस्य) इस जगत् के (विष्ठाः) निवास स्थान हैं (सतः) विद्यमान स्थूल जगत् की (च) तथा (योनिम्) आदिकारण आपको (असतः) अविद्या चक्षुरादि इन्द्रियों से अगोचर इस विविध जगत् की (विवः) विवृत=विभक्त करता है ॥

अन्वयः—यज्जज्ञानं प्रथमं ब्रह्म यः सुरुचो वेनो यस्यास्य बुध्न्या विष्ठा उपमाः सन्ति स सर्वभावः स विसीमतः सतश्चासतश्च योनिं विवस्तत् सर्वैरुपासनीयम् ॥

मूल प्रार्थना

सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मः ॥ २९ ॥

यजु० ६ । २२ । ३६ । मं० २३ ॥

व्याख्यान—हे सर्वमित्रसम्पादक ! आप की कृपा से प्राण और जल तथा विद्या और ओषधी "सुमित्रिया" (सुखदायक) हम लोगों के लिये सदा हो; कभी प्रतिकूल न हों। और जो हम से द्वेष=अप्रीति शत्रुता करता है तथा जिस दुष्ट से हम द्वेष करते हैं, हे न्यायकारिन् ! उसके लिये "दुर्मित्रिया" पूर्वोक्त प्राणादि प्रतिकूल दुःखकारक ही हो, अर्थात् जो अधर्म करे उस को आप के रचे जगत् के पदार्थ दुःखदायक ही हों जिससे वह अधर्म न करे और हम को दुःख न दे सके। हम लोग सदा सुखी ही रहें ॥ २९ ॥

पदार्थः—(सुमित्रियाः) सुखदायक (नः) हम लोगों के लिये (आपः) प्राण, जल तथा विद्या (ओषधयः) ओषधि (सन्तु) सदा हो (दुर्मित्रियाः) प्रतिकूल=दुःखकारक (तस्मै) उसके लिये (सन्तु) हों (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) द्वेष, अप्रीति, शत्रुता करता है (यम्) जिस दुष्ट से (च) तथा (वयम्) हम (द्विष्मः) द्वेष करते हैं ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! या इमा आप ओषधयो नः सुमित्रियाः सन्तु ता योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तस्मै दुर्मित्रियाः सन्तु ॥

मूल प्रार्थना

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ२ऽआविवेश ॥३०॥

यजु० १७। १७॥

व्याख्यान—"होता" उत्पत्ति समय में देने और प्रलय समय में सबको लेनेवाला परमात्मा ही है। "ऋषिः" सर्वज्ञ इन सब लोक लोकान्तर भुवनों का अपने सामर्थ्य कारण में होम (प्रलय करके) "न्यसीदत्" नित्य अवस्थित है। सो ही हमारा पिता है। फिर जब द्रविण द्रव्यरूप जगत् को स्वेच्छा से उत्पन्न किया चाहता है उस "आशिषा" सामर्थ्य से यथायोग्य विविध जगत् को सहज-स्वभाव से रच देता है। इस चराचर "प्रथमच्छत्" विस्तीर्ण जगत् को रच के अनन्तस्वरूप से आच्छादित करता है और अन्तर्यामी, साक्षी-स्वरूप उसमें प्रविष्ट हो रहा है अर्थात् बाहर और भीतर परिपूर्ण हो रहा है वही हमारा निश्चित पिता है।

उसकी सेवा छोड़ के जो मनुष्य अन्य मूर्त्यादि की सेवा करता है वह कृतघ्नत्वादि महादोषयुक्त हो के सदैव दुःखभागी होता है। और जो मनुष्य परमदयामय पिता की आज्ञा में रहता है, वह सर्वानन्द का सदैव भोग करता है॥ ३०॥

पदार्थः—(यः) [जो] (इमाः) इन (विश्वा) सब (भुवनानि) लोक लोकान्तरों को (जुह्वत्) अपने सामर्थ्य कारण में होम करके (ऋषिः) सर्वज्ञ (होता) उत्पत्ति समय में देने और प्रलय समय में सबको लेने वाला परमात्मा (न्यसीदत्) नित्य अवस्थित है (पिता) पिता है (नः) हमारा (सः) सो ही (आशिषा) सामर्थ्य से। सहज-

स्वभाव से (द्रविणम्) द्रव्य रूप जगत् को (इच्छमानः) स्वेच्छा से उत्पन्न किया चाहता है (प्रथमच्छत्) विस्तीर्ण जगत् को रच के अनन्त स्वरूप से आच्छादित करता है (अवरान्) बाहर और भीतर (आविवेश) अन्तर्यामी साक्षी स्वरूप से प्रविष्ट हो रहा है/परिपूर्ण हो रहा है ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! य ऋषिर्होता नः पिता परमेश्वर इमा विश्वा भुवनानि न्यसीदत् सर्वांल्लोकान् जुह्वत् स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवरानाविवेशेति यूयं विजानीत ॥

मूल स्तुति

इषे पिन्वस्व । ऊर्जे पिन्वस्व । ब्रह्मणे पिन्वस्व । क्षत्राय पिन्वस्व । द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व । धर्मासि सुधर्मं । अमेन्यस्मे नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय ॥ ३१ ॥
यजु० ३८ । १४ ॥

व्याख्यान—हे सर्वसौख्यप्रदेश्वर ! हमको "इषे" उत्तमान्न के लिये पुष्ट कर, अन्न के अपचन वा कुपच के रोगों से बचा तथा विना अन्न के दुःखी हम लोग कभी न हों। हे महाबल ! "ऊर्जे" अत्यन्त पराक्रम के लिये हमको पुष्ट कर। हे वेदोत्पादक ! "ब्रह्मणे" सत्य वेदविद्या के लिये बुद्ध्यादि बल से सदैव हमको पुष्ट और बलयुक्त कर। हे महाराजाधिराज परब्रह्मन् ! "क्षत्राय" अखण्ड चक्रवर्त्ती राज्य के लिये शौर्य, धैर्य, नीति, विनय, पराक्रम और बलादि उत्तम गुणयुक्त कृपा से हम लोगों को यथावत् पुष्ट कर। अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों तथा हम लोग पराधीन कभी न हों। हे स्वर्गपृथिवीश ! "द्यावापृथिवीभ्याम्" स्वर्ग (परमोत्कृष्ट मोक्षसुख) पृथिवी (संसारसुख) इन दोनों के लिये हमको समर्थ कर।

हे सुष्ठु धर्मशील ! तू धर्मकारी हो तथा धैर्यस्वरूप ही है, हम लोगों को भी कृपा से धर्मात्मा कर। "अमेनि" तू निर्वैर है हम को भी निर्वैर कर, तथा कृपादृष्टि से "अस्मे" (अस्मभ्यम्) हमारे लिये "नृम्णानि" विद्या, पुरुषार्थ, हस्ती, अश्व, सुवर्ण, हीरादि रत्न, उत्कृष्ट राज्य, उत्तम पुरुष और प्रीत्यादि पदार्थों को धारण कर। जिससे हम लोग किसी पदार्थ के विना दुःखी न हों।

हे सर्वाधिपते ! ब्राह्मण (पूर्णविद्यादि सद्गुणयुक्त), क्षत्र (बुद्धि

विद्या तथा शौर्यादि गुणयुक्त), "विश" अनेक विद्योद्यम, बुद्धि, विद्या, धन और धान्यादि बलयुक्त तथा शूद्रादि भी सेवादि गुणयुक्त उत्तम हमारे राज्य में हों। इन सबका धारण आप ही करो जिससे अखण्ड ऐश्वर्य हमारा आप की कृपा से सदा बना रहे ॥ ३१ ॥

पदार्थः—(इषे) उत्तम अन्न के लिये (पिन्वस्व) पुष्टकर (ऊर्जे) अत्यन्त पराक्रम के लिये (पिन्वस्व) पुष्ट कर (ब्रह्मणे) सत्य वेद विद्या के लिये (पिन्वस्व) सदैव हमको पुष्ट और बलयुक्त कर (क्षत्राय) अखण्ड चक्रवर्ती राज्य के लिये (पिन्वस्व) शौर्य, धैर्य, नीति, विनय, पराक्रम और बलादि उत्तम गुण युक्त कृपा से हम लोगों को यथावत् पुष्ट कर (द्यावापृथिवीभ्याम्) स्वर्ग=सर्वोत्कृष्ट मोक्षसुख, पृथिवी=संसारसुख इन दोनों के लिये (पिन्वस्व) हम लोगों को समर्थ कर (धर्म) धर्मात्मा तथा धैर्यस्वरूप (असि) तुम हो (सुधर्म) हे सुष्ठु धर्मशील (अमेनि) निर्वैर (अस्मे) हमारे लिये (नृम्णानि) विद्या, पुरुषार्थ, हस्ती, अश्व, सुवर्ण, हीरादिरत्न उत्कृष्ट राज्य उत्तम पुरुष और प्रीति-आदि पदार्थों को (धारय) धारण कर (ब्रह्म) ब्राह्मण=पूर्णविद्यादिसद्गुणयुक्त का (धारय) धारण आप ही करो (क्षत्रम्) क्षत्र=बुद्धि, विद्या तथा शौर्यादि गुणयुक्त का (धारय) धारण आप ही करो (विशम्) अनेक विध उद्यम, बुद्धि, विद्या, धन, धान्य आदि बलयुक्त तथा शूद्रादि भी सेवादिगुणयुक्त का (धारय) धारण आप ही करो ॥

अन्वयः—हे धर्म सुधर्म पुरुष स्त्रि वा! त्वम् अमेन्यसि येनाऽस्मे नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय। तेनेषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व ब्रह्मणे पिन्वस्व क्षत्राय पिन्वस्व द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व ॥

मूल स्तुति

किꣳस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्कथासीत् । यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा विद्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥ ३२ ॥ यजु० १७ । १८ ॥

व्याख्यान—(प्रश्नोत्तर विद्या से) इस संसार का अधिष्ठान क्या है ? कारण और उत्पादक कौन है ? किस प्रकार से है ? तथा रचना करने वाला अधिष्ठान क्या है ? तथा निमित्तकारण और साधन जगत् वा ईश्वर के क्या हैं ?

(उत्तर)—"यतः" जिसका विश्व (जगत् कर्म) किया हुआ है, उस विश्वकर्मा परमात्मा ने अनन्त सामर्थ्य से इस जगत् को रचा है। वही इस सब जगत् का अधिष्ठान, निमित्त और साधनादि है। उसने अपने अनन्त सामर्थ्य से इस सब जगत् को यथायोग्य रचा, और भूमि से लेके स्वर्ग पर्यन्त रच के अपनी महिमा से "और्णोत्" आच्छादित कर रक्खा है। और परमात्मा का अधिष्ठानादि परमात्मा ही है; अन्य कोई नहीं। सब का भी उत्पादन, रक्षण, धारणादि वही करता है, तथा आनन्दमय है, और वह ईश्वर "विश्वचक्षाः" सब संसार का द्रष्टा है। उस को छोड़ के अन्य का आश्रय जो करता है वह दुःखसागर में क्यों न डूबेगा ? ॥ ३२ ॥

पदार्थः—(किंस्वित्) क्या (आसीत्) है (अधिष्ठानम्) इस संसार का अधिष्ठान/रचना करने वाला अधिष्ठान (आरम्भणम्) कारण उत्पादक/निमित्त कारण और साधन जगत् वा ईश्वर के (कतमत्स्वित्) कौन/क्या हैं (कथा) किस प्रकार से (आसीत्) है (यतः) जिसका (भूमिम्) भूमि से लेके स्वर्ग पर्यन्त (जनयन्) रच

के (विश्वकर्मा) विश्वकर्मा परमात्मा ने अनन्त सामर्थ्य से इस जगत् को रचा है (विद्याम्) [हम उसको जानें] (और्णोत्) आच्छादित कर रखा है (महिना) अपनी महिमा से (विश्वचक्षाः) ईश्वर सब संसार का द्रष्टा है ॥

अन्वयः—हे विद्वन्नस्य जगतोऽधिष्ठानं किं स्विदासीत्। आरम्भणं कतमत् कथा स्विदासीत्। यतो विश्वकर्मा विश्वचक्षा जगदीश्वरो भूमिं द्यां च जनयत् महिना व्यौर्णोत् ॥

मूल प्रार्थना

तनूपा ऽ अंग्नेऽसि तन्वं मे पाहि । आयुर्दा अंग्नेऽस्यायुंर्मे देहि । वर्चोदा अंग्नेऽसि वर्चो मे देहि । अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्मऽआपृंण ॥ ३३ ॥ यजु० ३ । १७ ॥

व्याख्यान—हे सर्वरक्षकेश्वराग्ने ! तू हमारे शरीर का रक्षक है, सो शरीर को कृपा से पालन कर। हे महावैद्य ! आप आयु (उमर) बढ़ाने वाले हो, मुझ को सुखरूप उत्तमायु दीजिये। हे अनन्त विद्यातेजयुक्त ! आप "वर्चः" विद्यादि तेज अर्थात् यथार्थ विज्ञान देने वाले हो, मुझको सर्वोत्कृष्ट विद्यादि तेज देओ।

पूर्वोक्त शरीरादि की रक्षा से हम को सदा आनन्द में रक्खो और जो-जो कुछ भी शरीरादि में "ऊनम्" न्यून हो उस-उस को कृपादृष्टि से सुख और ऐश्वर्य के साथ सब प्रकार से आप पूर्ण करो। किसी आनन्द वा श्रेष्ठ पदार्थ की न्यूनता हमको न रहे।

आप के पुत्र हम लोग जब पूर्णानन्द में रहेंगे तभी आप पिता की शोभा है, क्योंकि लड़के लोग छोटी वा बड़ी चीज अथवा सुख पिता-माता को छोड़ किससे मांगें ? सो आप सर्वशक्तिमान् हमारे पिता सब ऐश्वर्य तथा सुख देने वालों में पूर्ण हो ॥ ३३ ॥

पदार्थः—(तनूपाः) शरीर का रक्षक (अग्ने) हे सर्वरक्षकेश्वराग्ने ! (असि) तू है (तन्वम्) शरीर को (मे) हमारे (पाहि) कृपा से पालन कर (आयुर्दाः) आयु=उमर बढ़ाने वाले (अग्ने) हे महा वैद्य ! (असि) आप हो (आयुः) सुखरूप उत्तम आयु (मे) मुझ को (देहि) दीजिये (वर्चोदाः) विद्यादि तेज अर्थात् विज्ञान् देने वाले (अग्ने) हे अनन्त विद्या तेजयुक्त (असि) आप हो (वर्चः) सर्वोत्कृष्ट

विद्यादि तेज (मे) मुझ को (देहि) दो (अग्ने) [हे सब गुणों से परिपूर्ण ईश्यर !] (यत्) जो-जो कुछ भी (मे) मेरे (तन्वाः) शरीरादि में (ऊनम्) न्यून हो (तत्) उस-उस को (मे) मेरे (आपृण) कृपादृष्टि से सुख और ऐश्वर्य के साथ सब प्रकार से पूर्ण करो ।।

अन्वयः—हे अग्ने जगदीश्वर ! यद् यस्मात्त्वं तनूपा असि तत् तस्मान्मे मम तन्वं पाहि। हे अग्ने ! यद् यस्मात् त्वमायुर्दा असि तत्तस्मान्मे मह्यं पूर्णमायुर्देहि। हे अग्ने ! यद् यस्मत्त्वं वर्चोदा असि तत्तस्मान्मे मह्यं वर्चः पूर्णविद्यां देहि। हे अग्ने ! मे मम तन्वा यद् यावदूनं बुद्धिबलशौर्यादिकमपर्याप्तमस्ति तत्तावदापृण समन्तात् प्रपूरय ।।

मूल प्रार्थना

विश्वतंश्चक्षुरुत विश्वतों मुखो विश्वतों बाहुरुत विश्वतं-स्पात् । सं बाहुभ्यां धमंति संपतत्रैर्द्यावाभूमीं जनयंन् देव एकंः ॥ ३४ ॥ यजु० १७ । १९ ॥

व्याख्यान—विश्व (सब जगत् में) जिस का चक्षु (दृष्टि) जिस से अदृष्ट कोई वस्तु नहीं, तथा सर्वत्र, मुख, बाहु, पग अन्य श्रोत्रादि भी हैं, जिसकी दृष्टि में अर्थात् सर्वदृक्, सर्ववक्ता, सर्वाधारक और सर्वगत, ईश्वर व्यापक है। उसी से जब डरेगा तभी धर्मात्मा होगा; अन्यथा कभी नहीं।

वही विश्वकर्म्मा परमात्मा एक ही अद्वितीय है। प्रथिवी से लेके स्वर्गपर्य्यन्त जगत् का कर्त्ता है। जिस २ ने जैसा २ पाप या पुण्य किया है, उस २ को न्यायकारी, दयालु, जगत्पिता पक्षपात छोड़ के अनन्त बल और पराक्रम इन दोनों बाहुओं से सम्यक् "पतत्रैः" प्राप्त होने वाले सुख-दुःख फल दोनों से प्राप्त सब जीवों को "धमति" (धमन-कम्पन) यथायोग्य जन्ममरणादि को प्राप्त करा रहा है।

उसी निराकार, अज, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयामय ईश्वर से अन्य को कभी न मानना चाहिये। वही याचनीय, पूजनीय, हमारा प्रभु स्वामी इष्टदेव है। उसी से सुख हम को होगा; अन्य से कभी नहीं ॥ ३४ ॥

पदार्थः—(विश्वतश्चक्षुः) विश्व=सब जगत् में जिसका चक्षु=दृष्टि, जिससे अदृष्ट कोई वस्तु नहीं सर्वदृक् (उत्) तथा विश्व-तोमुखः) सर्वत्रमुख / सर्ववक्ता (विश्वतोबाहुः) सर्वत्रबाहु / सर्वधारक (उत) अन्य श्रोत्रादि भी हैं (विश्वतस्पात्) सर्वत्र पग / पर्वगत (बाहु-

-भ्याम्) अनन्त बल और पराक्रम इन दोनों बाहुओं से (सम्+धमति) यथायोग्य जन्म-मरणादि को प्राप्त करा रहा है (सम्+पतत्रैः) सम्यक् प्राप्त होने वाले सुख-दुःख फल दोनों से प्राप्त सब जीवों को (द्यावाभूमी) पृथिवी से ले के स्वर्ग पर्यन्त (जनयन्) जगत् का कर्त्ता है (देवः) विश्वकर्मा परमात्मा (एकः) एक ही अद्वितीय है ।।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यूयं यो विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वस्पाद्। एको देवः पतत्रैर्द्यावाभूमी संजनयन् सन् बाहुभ्यां सर्वं जगत् संधमति तमेवेष्टमुपास्यमभिरक्षकं परमेश्वरं जानीत ।।

मूल स्तुति

भूर्भुवः स्वः। सुप्रजाः प्रजाभिः स्याꣳ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः। नर्य प्रजां मे पाहि। शꣳस्य पशून्मे पाहि। अथर्य पितुं मे पाहि॥ ३५॥ यजु० ३। ३७॥

व्याख्यान—हे सर्वमङ्गलकारकेश्वर ! आप "भूः" सदा वर्त्तमान हो, "भुवः" वायु आदि पदार्थों के रचने वाले, "स्व" सुखरूप हो, हम को सुख दीजिये।

हे सर्वाध्यक्ष ! आप कृपा करो जिससे कि मैं पुत्र पौत्रादि उत्तम गुणवाली प्रजा से श्रेष्ठ प्रजावाला होऊँ। सर्वोत्कृष्ट वीर योद्धाओं से "सुवीरः" युद्ध में सदा विजयी होऊँ। हे महापुष्टिप्रद ! आप के अनुग्रह से अत्यन्त विद्यादि, तथा सोमलता आदि ओषधि, सुवर्णादि और नैरोग्यादि से सर्वपुष्टि युक्त होऊँ। हे "नर्य" नरों के हितकारक ! मेरी प्रजा की रक्षा आप करो। हे "शंस्य" स्तुति करने के योग्य ईश्वर ! हस्त्यश्वादि पशुओं का आप पालन करो। हे "अथर्य" व्यापक ईश्वर ! "पितुम्" मेरे अन्न की रक्षा कर।

हे दयानिधे ! हम लोगों को सब उत्तम पदार्थों से परिपूर्ण और सब दिन आप आनन्द में रक्खो॥ ३५॥

पदार्थः—(भूः) हे सर्वमङ्गलकारकेश्वर ! आप सदा वर्त्तमान हो (भुवः) वायु आदि पदार्थों के रचने वाले (स्वः) सुखरूप (सुप्रजाः) श्रेष्ठ प्रजा वाला मैं (प्रजाभिः) पुत्र-पौत्रादि उत्तम गुण वाली प्रजा से (स्याम्) होऊँ (सुवीरः) युद्ध में सदा विजयी मैं (वीरैः) सर्वोत्कृष्ट वीर योद्धाओं से (सुपोषः) सर्वपुष्टियुक्त (पोषैः) अत्यन्त विद्यादि, सोमलता आदि ओषधि, सुवर्णादि और नैरोग्यादि से (नर्य)

हे नरों के हितकारक ईश्वर ! (प्रजाम्) प्रजा को (मे) मेरी (पाहि) रक्षा करो (शंस्य) हे स्तुति करने योग्य ईश्वर ! (पशून्) हस्त्यश्वादि पशुओं का (मे) मेरे (पाहि) पालन करो (अथर्य) हे व्यापक ईश्वर ! (पितु) अन्न की (मे) [मेरे] (पाहि) रक्षा कर ।।

अन्वयः—हे नर्य ! त्वं कृपया मम प्रजां पाहि मे मम पशून्पाहि । हे अथर्य ! मे मम पितुं पाहि । हे शंस्य जगदीश्वर ! भवत्कृपयाहं भूर्भुवः स्वः प्राणापानव्यानैर्युक्तः सन् प्रजाभिः सुप्रजा वीरैः सुवीरः पोषैः सह च सुपोषः स्यां नित्यं भवेयम् ।।

मूल प्रार्थना

किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष ऽआंस यतो द्यावांपृथिवी निष्टतुक्षुः । मनींषिणो मनंसा पृच्छतेदु तद्यद॒ध्यतिष्ठ॒द्भुवंनानि धारयंन् ॥ ३६ ॥ यजु० १७ । २० ॥

व्याख्यान—(प्रश्न) विद्या क्या है ? वन और वृक्ष किसको कहते हैं ?

(उत्तर) जिस सामर्थ्य से विश्वकर्मा ईश्वर ने जैसे तक्षा (बढ़ई) अनेक विध रचना से अनेक पदार्थ रचता है, वैसे ही स्वर्ग (सुख-विशेष) और भूमि=मध्य (सुखवाला लोक) तथा नरक (दुःख-विशेष) और सब लोकों को रचा है। उसी को वन और वृक्ष आदि कहते हैं।

हे "मनीषिणः" विद्वानो ! जो सब भुवनों का धारण करके सब जगत् में और सबके ऊपर विराजमान हो रहा है, उस के विषय में प्रश्न तथा उसका निश्चय तुम लोग करो। "मनसा" उसके विज्ञान से जीवों का कल्याण होता है; अन्यथा नहीं ॥ ३६ ॥

पदार्थः—(किंस्वित्) विद्या क्या है (वनम्) वन (कः) किस को (उ) और (सः) उसी को=विश्वकर्मा परमात्मा को (वृक्षः) वृक्ष (आस) कहते हैं (यतः) जिस सामर्थ्य से (द्यावापृथिवी) स्वर्ग सुख विशेष और भूमि मध्य=सुख वाला लोक तथा नरक=दुःखविशेष और सब लोकों को (निष्टतक्षुः) विश्वकर्मा ईश्वर ने जैसे तक्षा= बढ़ई अनेक विध रचना से अनेक पदार्थ रचता है, वैसे ही रचा है (मनीषिणः) हे विद्वानो ! (मनसा) उसके विज्ञान से (पृच्छत) प्रश्न करो (इद्) उसका निश्चय (तद्) उसके विषय में (यद्)

जो (अध्यतिष्ठत्) सब जगत् में और सबके ऊपर विराजमान हो रहा है (भुवनानि) सब भुवनों को (धारयन्) धारण करके ॥ ३६ ॥

अन्वयः—हे मनीषिणः! यूयं मनसा विदुषः प्रति किं स्विद् वनं क उ स वृक्ष आसेति पृच्छत यतो द्यावापृथिवी को निष्टतक्षुः। यद्यो भुवनानि धारयन्नध्यतिष्ठत् तदिदु ब्रह्म विजानीतेत्युत्तरम्।

मूल स्तुति

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शत-मदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ ३७ ॥
यजु० ३६ । २४ ॥

व्याख्यान—वह ब्रह्म, "चक्षुः" सर्वदृक् चेतन है, तथा देव अर्थात् विद्वानों के लिये वा मन आदि इन्द्रियों के लिये हितकारक मोक्षादि सुख का दाता है। "पुरस्तात्" सब का आदि प्रथम कारण वही है। "शुक्रम्" सब का करने वाला किंवा शुद्धस्वरूप है। "उच्चरत्" प्रलय के ऊर्ध्व वही रहता है।

उसी की कृपा से हम लोग शत (१००) वर्ष तक देखें, जीवें, सुनें, कहें, कभी पराधीन न हों, अर्थात् ब्रह्मज्ञान बुद्धि और पराक्रम सहित इन्द्रिय तथा शरीर सब स्वस्थ रहें। ऐसी कृपा आप करें कि कोई अङ्ग मेरा निर्बल (क्षीण) और रोगयुक्त न हो, तथा शत (१००) वर्ष से अधिक भी आप कृपा करें कि शत (१००) वर्ष के उपरान्त भी हम देखें, जीवें, सुनें, कहें और स्वाधीन ही रहें ॥ ३७ ॥

पदार्थः—(तत्) वह ब्रह्म (चक्षुः) सर्वदृक् चेतन है (देवहितम्) देव अर्थात् विद्वानों के लिये वा मन आदि इन्द्रियों के लिये हितकारक मोक्षादि सुख का दाता है (पुरस्तात्) सबका आदि प्रथम कारण वही है (शुक्रम्) सबका करने वाला किंवा शुद्ध स्वरूप है (उच्चरत्=उत्+चरत्) प्रलय के ऊर्ध्व वही रहता है (पश्येम) देखें (शरदः) वर्ष तक (शतम्) शत (जीवेम) जीवें (शरदः) वर्ष तक (शतम्) शत (शृणुयाम) सुनें (शरदः) वर्ष तक (शतम्) शत

(प्रब्रवाम) कहें (शरदः) वर्ष तक (शतम्) शत (अदीनाः) कभी पराधीन नहीं (स्याम) हों (शरदः) वर्ष तक (शतम्) शत (भूयः) उपरान्त (च) भी (शरदः) वर्ष (शतात्) शत (१००) से ॥

अन्वयः—हे परमात्मन् ! भवान् यद्देवहितं शुक्रं चक्षुरिव वर्त्तमानं ब्रह्म पुरस्तादुच्चरत् तत्त्वां शतं शरदः पश्येम शतं शरदो जीवेम शतं शरदः शृणुयाम शतं शरदः प्रब्रवाम शतं शरदोऽदीनाः स्याम शताच्छरदो भूयश्च पश्येम जीवेम शृणुयाम प्रब्रवामोऽदीनाः स्याम च ॥

मूल प्रार्थना

या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा। शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥ ३८ ॥ यजु० १७ । २१ ॥

व्याख्यान–हे सर्वविधायक विश्वकर्मन्नीश्वर ! जो तुम्हारे सुरचित उत्तम, मध्यम, निकृष्ट त्रिविध धाम (लोक) हैं उन सब लोकों की शिक्षा हम आप के सखाओं को कर। यथार्थविद्या होने से सब लोकों में सदा सुखी ही रहें, तथा इन लोकों के "हविषि" दान और ग्रहण व्यवहार में हम लोग चतुर हों।

हे "स्वधावः" स्वसामर्थ्यादि धारण करने वाले ! हमारे शरीरादि पदार्थों का आप ही बढ़ाने वाले हैं। "यजस्व" हमारे लिये विद्वानों का सत्कार, सब सज्जनों के सुखादि की संगति, विद्यादि गुणों का दान आप स्वयं करो।

आप अपनी उदारता से ही हमको सब सुख दीजिये। किञ्च—हम लोग तो आप के प्रसन्न करने में कुछ भी समर्थ नहीं हैं, सर्वथा आप के अनुकूल वर्त्तमान नहीं कर सकते परन्तु आप तो अधमोद्धारक हैं, इस से हम को स्वकृपा से सुखी करें ॥ ३८ ॥

पदार्थः—(या) जो (ते) तुम्हारे सुरचित (धामानि) त्रिविध धाम=लोक हैं (परमाणि) उत्तम (या) जो (अवमा) निकृष्ट (या) जो (मध्यमा) मध्यम (विश्कर्मन्) हे सर्वविधायक विश्वकर्मन्नीश्वर ! (उत) तथा (इमा) उन सब लोकों की (शिक्षा) शिक्षा कर (सखिभ्यः) आपके सखाओं को (हविषि) इन लोकों के दान और ग्रहण व्यवहार में (स्वधावः) हे स्वसामर्थ्यादि धारण करने वाले !

(स्वयम्) स्वयं (यजस्व) हमारे लिये विद्वानों का सत्कार सब सज्जनों के सुखादि को संगति विद्यादि गुणों का दान करें (तन्वम्) हमारे शरीरादि पदार्थों को (वृधानः) आप ही बढ़ाने वाले हैं ॥

अन्वयः—हे स्वधावो विश्वकर्मन् जगदीश्वर ! ते सृष्टौ या परमाणि याऽवमा या मध्यमा धामानि सन्ति तानीमा हविषि स्वयं यजस्व । उताप्यस्माकं तन्वं वृधानो ऽस्मभ्यं सखिभ्यः शिक्ष ॥

मूल स्तुति

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु । शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥ ३९ ॥

यजु० ३६ । २ ॥

व्याख्यान—हे सर्वसन्धायकेश्वर ! मेरे चक्षु (नेत्र), हृदय (प्राणात्मा), मन, बुद्धि, विज्ञान, विद्या और सब इन्द्रिय, इन के छिद्र, निर्बलता, राग, द्वेष, चाञ्चल्य यद्वा मन्दत्वादि विकार इनका निवारण (निर्मूल) करके सत्य धर्मादि में स्थापन आप ही करो, क्योंकि आप बृहस्पति (सब से बड़े) हो, सो अपनी बड़ाई की ओर देख के इस बड़े काम को आप अवश्य करें, जिससे हम लोग आप और आप की आज्ञा के सेवन में यथार्थ तत्पर हों। मेरे सब छिद्रों को आप ही ढांकें।

आप सब भुवनों के पति हैं इसलिये आप से वारम्वार प्रार्थना हम लोग करते हैं कि सब दिन हम लोगों पर कृपादृष्टि से कल्याण-कारक हों।

हे परमात्मन् ! आप के विना हमारा कल्याणकारक कोई नहीं है। हम को आप का ही सब प्रकार का भरोसा है, सो आप ही पूरा करेंगे ॥ ३९ ॥

पदार्थः—(यत्) जो (मे) मेरे (छिद्रम्) छिद्र=निर्बलता, राग चांचल्य/सब छिद्रों को (चक्षुषः) चक्षु=नेत्र का (हृदयस्य) हृदय=प्राणात्मा का (मनसः) मन, बुद्धि, विज्ञान, विद्या और सब इन्द्रियों के (वा) यद्वा (अतितृण्णम्) मन्दत्वादि विकार को (बृहस्पतिः) सबसे बड़े आप (मे) मेरे (तद्) इनका निवारण=

निर्मूल करके (दधातु) सत्यधर्मादि में स्थापन करो/इन छिद्रों को आप ही ढांकें। (शम्) कल्याणकारक (नः) हम लोगों पर (भवतु) हों [(भुवनस्य) संसार के (यः) जो (पतिः) रक्षक] ॥

अन्वयः—यन्मे चक्षुषो हृदयस्य छिद्र मनसो वातितृण्ण-मस्ति तद् बृहस्पतिर्मे दधातु यो भुवनस्य पतिरस्ति स नः शम्भवतु ॥

मूल प्रार्थना

वि॒श्वक॑र्मा॒ विम॑ना॒ आद्विहा॑या धा॒ता वि॑धा॒ता प॑र॒मोत स॒न्दृक् । तेषा॑मि॒ष्टानि॒ समि॒षा म॑दन्ति॒ यत्रा॑ सप्तऽऋ॒षीन् प॒र एक॑मा॒हुः ॥ ४० ॥ यजु० १७ । २६ ॥

व्याख्यान—सर्वज्ञ, सर्वरचक, ईश्वर विश्वकर्मा (विविध-जगदुत्पादक) है, तथा "विमनाः" विविध (अनन्त) विज्ञानवाला है, तथा "आद्विहाया" सर्वव्यापक और आकाशवत् निर्विकार अक्षोभ्य सर्वाधिकरण है, वही सब जगत् का "धाता" धारणकर्त्ता है "विधाता" विविध विचित्र जगत् का उत्पादक है, तथा "परम, उत" सर्वोत्कृष्ट है, "सन्दृक्" यथावत् सब के पाप और पुण्यों को देखने वाला है।

जो मनुष्य उसी ईश्वर की भक्ति, उसी में विश्वास और उसी का सत्कार (पूजा) करते हैं, उसको छोड़ के अन्य किसी को लेशमात्र भी नहीं मानते, उन पुरुषों को ही सब इष्ट सुख मिलते हैं; औरों को नहीं। वह ईश्वर अपने भक्तों को सुख में ही रखता है और वे भक्त सम्यक् स्वेच्छापूर्वक "मदन्ति" परमानन्द में ही रहते हैं, दुःख को नहीं प्राप्त होते।

वह परमात्मा एक=अद्वितीय है, जिस परमात्मा के सामर्थ्य में सप्त अर्थात् पंच प्राण, सूत्रात्मा और धनञ्जय ये सब प्रलयविषयक कारणभूत ही रहते हैं।

वही जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय में निर्विकार आनन्द-स्वरूप रहता है। उसी की उपासना करने से हम सदा सुख में रह सकते हैं ॥ ४० ॥

पदार्थः—(विश्वकर्मा) सर्वज्ञ, सर्वरचक ईश्वर विविध

जगदुत्पादक है (विमनाः) विविध=अनन्त विज्ञान वाला है (आद्-विहाया) सर्वव्यापक और आकाशवत् निर्विकार अक्षोभ्य सर्वाधिकरण है (धाता) सब जगत् का धारण कर्त्ता है (विधाता) विविध विचित्र जगत् का उत्पादक है (परमः) सर्वोत्कृष्ट है (उत) तथा (सन्दृक्) यथावत् सब के पाप और पुण्यों को देखने वाला है (तेषाम्) उन पुरुषों को (इष्टानि) सब इष्ट सुख मिलते हैं (सम्) सम्यक् (इषा) स्वेच्छा-पूर्वक (मदन्ति) परमानन्द में ही रहते हैं (यत्र) जिस परमात्मा के सामर्थ्य में (सप्त) सप्त अर्थात् (ऋषीन्) पंच प्राण, सूत्रात्मा और धनञ्जय (पर) वह परमात्मा (एकम्) एक अद्वितीय (आहुः) है ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! विश्वकर्मा यो विमना विहाया धाता विधाता संदृक् परोऽस्ति यमेकमाहुराद् यत्र सप्तऋषीन् प्राप्येषा जीवाः संमदन्त्युत यस्तेषां परमेष्टानि साध्नोति तं परमेश्वरं यूयमुपाध्वम् ॥

मूल स्तुति

चतुः स्रक्तिर्नाभिर्ऋृतस्य सप्रथाः स नो विश्वायुः सप्रथाः स नः सर्वायुः सप्रथाः । अप द्वेषो ऽअप ह्वरोऽन्यव्रतस्य सश्चिम ॥ ४१ ॥ यजु० ३८ । २० ॥

व्याख्यान—हे महावैद्य ! सर्वरोगनाशकेश्वर ! चार कोणवाली नाभि (मर्मस्थान) ऋत की भरी, नैरोग्य और विज्ञान का घर "सप्रथाः" विस्तीर्ण सुखयुक्त आप की कृपा से हो, तथा आप की कृपा से "विश्वायुः" पूर्ण आयु हो। आप जैसे सर्वसामर्थ्य विस्तीर्ण हो, वैसे ही विस्तृत सुख से विस्तार सहित सर्वायु हमको दीजिये।

हे ईश ! हम "अपद्वेषः" द्वेष रहित आपकी कृपा से तथा "अपह्वरः" चलन (कम्पन) रहित हों। आप की आज्ञा और आप से भिन्न को लेशमात्र भी ईश्वर न मानें, यही हमारा व्रत है। इससे अन्य व्रत को कभी न मानें किन्तु आप को "सश्चिम" सदा सेवें यही हमारा परमनिश्चय है इस परमनिश्चय की रक्षा आप ही कृपा से करें ॥ ४१ ॥

पदार्थः—(चतुःस्रक्तिः) चार कोणे वाली (नाभिः) नाभिः= मर्मस्थान (ऋतस्य) ऋत की भरी नैरोग्य और विज्ञान का घर (सप्रथाः) विस्तीर्ण सुखयुक्त (सः) वह (नः) [हमारी] (विश्वायुः) पूर्ण आयु हो (सप्रथाः) जैसे सर्वसामर्थ्य से विस्तीर्ण हो वैसे (सः) आप (नः) हमको (सर्वायुः) सर्वायु (सप्रथाः) विस्तृत सुख से विस्तार सहित (अपद्वेषः) द्वेष रहित (अपह्वरः) चलन=कम्पन रहित हो

(अन्यव्रतस्य) आपकी आज्ञा और आपसे भिन्न को लेशमात्र भी ईश्वर न मानें यही हमारा व्रत है (सश्चिम) आपको सदा सेवें ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा चतुःस्रक्तिर्नाभिरिव सप्रथा अन्यव्रतस्य ऋतस्य परमात्मनः सेवां करोति स सप्रथा विश्वायुर्नोऽस्मान् बोधयतु स सप्रथाः सर्वायुर्नः परमेश्वरविद्यां ग्राहयतु येन वयं द्वेषो ह्वरोऽपसश्चिम तथा यूयमपि कुरुत ॥

मूल प्रार्थना

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामधा एक एव तꣳ सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥ ४२ ॥ यज० १७ । २७ ॥

व्याख्यान—हे मनुष्यो ! जो अपना पिता (नित्य पालन करनेवाला), जनिता (जनक) उत्पादक, "विधाता" सब मोक्षसुखादि कामों का विधायक (सिद्धिकर्त्ता), "विश्वा" सब भुवन लोकलोकान्तर धाम अर्थात् स्थिति के स्थानों को यथावत् जाननेवाला, सब जातमात्र भूतों में विद्यमान है।

जो दिव्य सूर्यादिलोक तथा इन्द्रियादि और विद्वानों का नाम व्यवस्थादि करनेवाला एक=अद्वितीय वही है; अन्य कोई नहीं। वही स्वामी और पितादि हम लोगों का है, इसमें शंका नहीं रखनी, तथा उसी परमात्मा के सम्यक् प्रश्नोत्तर करने में विद्वान् वेदादि शास्त्र और प्राणीमात्र प्राप्त हो रहे हैं। क्योंकि—

सब पुरुषार्थ यही है कि परमात्मा, उस की आज्ञा और उस के रचे जगत् का यथार्थ से निश्चय (ज्ञान) करना। उसी से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार प्रकार के पुरुषार्थ के फलों की सिद्धि होती है; अन्यथा नहीं। इस हेतु से तन, मन, धन और आत्मा इनसे प्रयत्नपूर्वक ईश्वर के साहाय्य से सब मनुष्यों को धर्मादि पदार्थों की यथावत् सिद्धि अवश्य करनी चाहिये ॥ ४२ ॥

पदार्थः—(यः) जो (नः) अपना (पिता) नित्य पालन करने वाला (जनिता) जनक=उत्पादक (यः) जो (विधाता) सब मोक्ष सुखादि कामों का विधायक=सिद्धिकर्त्ता (धामानि) स्थिति के स्थानों

को (वेद) यथावत् जानने वाला है। सब जातमात्र भूतों में विद्यमान है (भुवनानि) लोकलोकान्तरों को (विश्वा) सब (यः) जो (देवानाम्) दिव्य सूर्यादि लोक तथा इन्द्रियादि और विद्वानों का (नामधा) नाम व्यवस्थादि करने वाला (एकः) एक अद्वितीय (एव) वही है (तम्) उसी परमात्मा के (सम्प्रश्नम्) सम्यक् प्रश्नोत्तर करने में (भुवना) विद्वान्, वेदादिशास्त्र (यन्ति) प्राप्त हो रहे हैं (अन्या) प्राणी मात्र॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! यो नः पिता जनिता यो विधाता विश्वा भुवनानि धामानि वेद यो देवानां नामधा एक एवास्ति यमन्या भुवना यन्ति सम्प्रश्नं तं यूयं जानीत॥

मूल स्तुति

यज्जाग्रंतो दूरमुदैति दैवं तदुं सुप्तस्य तथैवैतिं । दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंङ्कल्पमस्तु ॥ ४३ ॥
यजु० ३४ । १ ॥

व्याख्यान—हे धर्म्मनिरुपद्रव परमात्मन् ! मेरा मन सदा शिवसंकल्प=धर्मकल्याणसंकल्पकारी ही आप की कृपा से हो, कभी अधर्मकारी न हो। वह मन कैसा है ? कि जागते हुए पुरुष का दूर-दूर जाता आता है, दूर जाने का जिस का स्वभाव ही है, अग्नि, सूर्यादि, श्रोत्रादि इन्द्रिय, इन ज्योति=प्रकाशकों का भी ज्योति=प्रकाशक है, अर्थात् मन के विना किसी पदार्थ का प्रकाश कभी नहीं होता। वह एक बड़ा चञ्चल वेग वाला मन आप की कृपा से स्थिर, शुद्ध, धर्म्मात्मा, विद्यायुक्त हो सकता है "दैवम्" देव (आतमा का) मुख्य साधक भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान-काल का ज्ञाता है। वह आप के वश में ही है, उम को आप हमारे वश में यथावत् करें। जिस से हम कुकर्म्म में कभी न फसें, सदैव विद्या, धर्म्म और आपकी सेवा में ही रहें ॥ ४३ ॥

पदार्थः—(यत्) [जो] (जाग्रतः) जागते हुए पुरुष का (दूरम्) दूर-दूर (उदैति) जाता आता है (दैवम्) देव=आत्मा का साधक मुख्य साधक, भूत भविष्यत् वर्त्तमान काल का ज्ञाता है [(तद्) वह मन (उ) निश्चय से (सुप्तस्थ) सोते हुए पुरुष का (तथैव) वैसे ही (एति) जाता आता है] (दूरङ्गमम्) दूर जाने का जिसका स्वभाव ही है (ज्योतिषाम्) अग्नि सूर्यादि, श्रोत्रादि इन्द्रिय इन ज्योति-प्रकाशकों का भी (ज्योतिः) प्रकाशक है (एकम्) एक बड़ा चंचल वेग

वाला (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मन (शिवसंकल्पम्) शिवसंकल्प= धर्म, कल्याण संकल्पकारी, स्थिर, शुद्ध, धर्मात्मा, विद्यायुक्त (अस्तु) आपकी कृपा से हो/हो सकता है ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर विद्वन् वा! भवदनुग्रहेण यद्दैवं दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं जाग्रतो दूरमुदैति। तदु सुप्तस्य तथैवान्तरेति तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

मूल प्रार्थना

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥ ४४ ॥
यजु० १७ । ३१ ॥

व्याख्यान—हे जीवो ! जो परमात्मा इन सब भुवनों का बनानेवाला विश्वकर्मा है उसको तुम लोग नहीं जानते हो । इसी हेतु से तुम "नीहारेण" अत्यन्त अविद्या से आवृत मिथ्यावाद नास्तिकत्व बकवाद करते हो । इससे दुःख ही तुम को मिलेगा; सुख नहीं । तुम लोग "असुतृपः" केवल स्वार्थसाधक प्राणपोषणमात्र में ही प्रवृत्त हो रहे हो । "उक्थशासश्चरन्ति" केवल विषय भोगों के लिये ही अवैदिककर्म करने में प्रवृत्त हो रहे हो । और जिसने ये सब भुवन रचे हैं उस सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, परब्रह्म से उलटे चलते हो । अतएव उसको तुम नहीं जानते ।

(प्रश्न) वह ब्रह्म और हम जीवात्मा लोग ये दोनों एक हैं नहीं ?

(उत्तर) "यद्युष्माकमन्तरं बभूव" बह्म और जीव की एकता वेद और युक्ति से सिद्ध कभी नहीं हो सकती, क्योंकि जीव ब्रह्म का पूर्व से ही भेद है ।

जीव अविद्या आदि दोषयुक्त हैं ब्रह्म अविद्यादि दोषयुक्त नहीं है इस से यह निश्चित है कि जीव और ब्रह्म एक न थे, न होंगे और न हैं । किंच—व्याप्यव्यापक, आधाराधेय, सेव्यसेवकादि सम्बन्ध तो जीव के साथ ब्रह्म का है । इस से जीव ब्रह्म की एकता मानना किसी मनुष्य को योग्य नहीं ॥ ४४ ॥

पदार्थः—(न) नहीं (तम्) उसको (विदाथ) तुम लोग जानते

हो (यः) जो परमात्मा (इमा) इन सब भुवनों का (जजान) बनाने वाला है, विश्वकर्मा है (अन्यत्) एकता वेद और युक्ति से सिद्ध कभी नहीं हो सकती (युष्माकम्) ब्रह्म और जीव की (अन्तरम्) जीव-ब्रह्म का भेद (बभूव) पूर्व से ही है (नीहारेण) अत्यन्त अविद्या से (प्रावृताः) आवृत (जल्प्या) नास्तिकत्व बकवाद करते हो (च) और (असुतृपः) केवल स्वार्थ-साधक, प्राण पोषण मात्र में प्रवृत्त (उक्थ-शासः) केवल विषय-भोगों के लिये ही अवैदिक कर्म करने में प्रवृत्त (चरन्ति) परब्रह्म से उलटे चलते हो ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथाऽब्रह्मविदो जना नीहारेण चाज्ञानेन प्रावृता जल्प्या असुतृपश्चोक्थशासश्चरन्ति तथा भूता यूयं तं न विदाथ य इमा जजान यद् ब्रह्म युष्माकं सकाशादन्यदन्तरं बभूव तदतिसूक्ष्ममात्मन आत्मभूतं न विदाथ ॥

मूल स्तुति

भग एव भगवाँ२ऽअस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुर एता भवेह ॥४५॥
यजु० ३४ । ३८ ॥

व्याख्यान—हे सर्वाधिपते, महाराजेश्वर! आप भग परमैश्वर्यस्वरूप होने से भगवान् हो। हे (देवाः) विद्वानो! "तेन" (भगवता प्रसन्नेश्वरसहायेन) उस भगवान् प्रसन्न ईश्वर के सहाय से हम लोग परमैश्वर्ययुक्त हों।

हे "भग" परमेश्वर! सर्व संसार "तन्त्वा" उन आप को ही ग्रहण करने को अत्यन्त इच्छा करता है, क्योंकि कौन ऐसा भाग्यहीन मनुष्य है जो आप को प्राप्त होने की इच्छा न करे। सो आप हम को प्रथम से प्राप्त हों, फिर कभी हम से आप और ऐश्वर्य अलग न हो। आप अपनी कृपा से इसी जन्म में परमैश्वर्य्य का यथावत् भोग हम लोगों को करावें, परजन्म में तो कर्मानुसार फल होता ही है, तथा आप की सेवा में हम नित्य तत्पर रहें ॥ ४५ ॥

पदार्थः—हे सर्वाधिपते महाराजेश्वर! आप भग=परमैश्वर्ययुक्त (एव) होने से (भगवान्) भगवान् (अस्तु) हो (देवाः) हे विद्वानो! (तेन) उस भगवान् प्रसन्न ईश्वर के सहाय से (वयम्) हम लोग (भगवन्तः) परमैश्वर्ययुक्त (स्याम) हों (तम्) उन (त्वा) आपको (भग) हे परमेश्वर! (सर्वः) सर्व संसार (इत्) ही (जोहवीति) ग्रहण करने को अत्यन्त इच्छा करता है (सः) सो (नः) हम को (भग) आप (पुरः) प्रथम से (एता) प्राप्त (भव) हों (इह) इसी जन्म में ॥

अन्वयः—हे देवाः! यो भग एव भगवानस्तु तेन वयं भगवन्तः स्याम। हे भग! तं त्वा सर्व इज्जोहवीति। भग! स त्वम् इह नः पुर एता भव ॥ ●

मूल प्रार्थना

गणानां त्वा गणपतिंᳫ हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिंᳫ हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिंᳫ हवामहे वसो मम। अहमजानि गर्भधमात्वमजासि गर्भधम् ॥ ४६ ॥ यजु० २३ । १९ ॥

व्याख्यान—हे समूहाधिपते ! आप मेरे सब समूहों के पति होने से आपको गणपति नाम से ग्रहण करता हूँ तथा मेरे प्रिय कर्मकारी पदार्थ और जनों के पालक भी आप ही हैं। इनसे आपको प्रियपति मैं अवश्य जानूं। इसी प्रकार मेरी सब निधियों के पति होने से आप को मैं निश्चित निधिपति जानूं।

हे "वसो" सब जगत् को जिस सामर्थ्य से उत्पन्न किया है, उस अपने सामर्थ्य का धारण और पोषण करने वाला आप को ही मैं जानूं। सब का कारण आपका सामर्थ्य है, यही सब जगत् का धारण और पोषण करता है। यह जीवादि जगत् तो जन्मता और मरता है परन्तु आप सदैव अजन्मा और अमृतस्वरूप हैं। आप की कृपा से अधर्म, अविद्या, दुष्टभावादि को "अजानि" दूर फेंकूँ तथा हम सब लोग आप की ही "हवामहे" अत्यन्त स्पर्धा (प्राप्ति की इच्छा) करते हैं।

सो आप अब शीघ्र हम को प्राप्त होओ जो प्राप्त होने में आप थोड़ा भी विलम्ब करेंगे तो हमारा कुछ भी ठिकाना न लगेगा ॥ ४६ ॥

पदार्थः—(गणानाम्) हे समूहाधिपते ! आप मेरे सब समूहों के पति होने से (त्वा) आपको (गणपतिम्) गणपति नाम से (हवामहे) ग्रहण करता हूँ (प्रियाणाम्) मेरे प्रिय कर्मकारी, पदार्थ और जनों के पालक भी आप ही हो (त्वा) आपको (प्रियपतिम्) प्रिय पति

(हवामहे) मैं अवश्य जानूं (निधीनाम्) सब निधियों के पति होने से (त्वा) आपको (निधिपतिम्) निश्चित निधिपति (हवामहे) जानूं (वसो) हे वसो ! (मम) अपने सामर्थ्य का (अहम्) मैं (अजानि) दूर फेंकूं (गर्भधम्) सब जगत् को जिस सामर्थ्य से उत्पन्न किया है उस अपने सामर्थ्य का धारण और पोषण करने वाला आपको/सबका कारण आपका सामर्थ्य जो सब जगत् का धारण पोषण करता है/अधर्म, अविद्या, दुष्टभावादि को (आ) सदैव (त्वम्) आप (अजासि) अजन्मा और अमृत स्वरूप हैं (गर्भधम्) यह जीवादि जगत् तो जन्मता और मरता है ।।

अन्वय:—हे समूहाधिपते जगदीश्वर ! वयं गणानां गणपतिं त्वा हवामहे प्रियाणां प्रियपतिं त्वा हवामहे । निधीनां निधिपतिं त्वा हवामहे । हे वसो ! मम न्यायाधीशो भूयाः । यं गर्भधं त्वमाजासि तं गर्भधमहमाजानि ।।

मूल प्रार्थना

अग्ने॑ व्रतपते व्र॒तं च॑रिष्यामि॒ तच्छ॑केयं॒ तन्मे॑ राध्यताम् । इ॒दम॒हमनृ॑तात्स॒त्यमुपै॑मि ॥ ४७ ॥ यजु० १ । ५ ॥

व्याख्यान—हे सच्चिदानन्द स्वप्रकाशस्वरूप ईश्वराग्ने ! ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास आदि सत्यव्रतों का आचरण मैं करूंगा सो इस व्रत को आप कृपा से सम्यक् सिद्ध करें, तथा मैं अनृत=अनित्य देहादि पदार्थों से पृथक् हो के इस यथार्थ=सत्य जिसका कभी व्यभिचार विनाश नहीं होता उस विद्यादिलक्षण धर्म को प्राप्त होता हूँ ।

इस मेरी इच्छा को आप पूरी करें जिससे मैं सभ्य, विद्वान्, सत्याचरणी आप की भक्तियुक्त धर्मात्मा होऊँ ॥ ४७ ॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सच्चिदानन्द स्वप्रकाशस्वरूप ईश्वराग्ने! (व्रतपते) हे व्रतों के पालक ईश्वर ! (व्रतम्) ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास आदि सत्य व्रतों का (चरिष्यामि) आचरण मैं करूंगा (तत्) मैं सभ्य विद्वान् सत्याचरणी धर्मात्मा, आपकी भक्तियुक्त (शकेयम्) होऊँ (तत्) सो इस व्रत को (मे) मेरी (राध्यताम्) सम्यक् सिद्ध करें/इच्छा को आप पूरी करें (इदम्) इस (अहम्) मैं (अनृतात्) अमृत=अनित्य देहादि पदार्थों से पृथक् होके (सत्यम्) यथार्थ सत्य जिसका कभी व्यभिचार=नाश नहीं होता उस विद्यादि-लक्षण युक्त धर्म को (उपैमि) प्राप्त होऊँ ।।

अन्वयः—हे व्रतपते अग्ने सत्यधर्मोपदेशकेश्वर ! अहं यदिद-मनृतात् पृथग्वर्त्तमानं सत्यं व्रतमाचरिष्यामि तन्मे मम भवता स्व-कृपया राध्यतां संसेध्यतां यदुपैमि प्राप्नोमि यच्चानुष्ठातुं शकेयं तदपि सर्वं राध्यतां संसेध्यताम् ॥

मूल स्तुति

य आ॑त्म॒दा ब॑ल॒दा यस्य॒ विश्व॑ऽउ॒पास॑ते प्र॒शिषं॒ यस्य॑ दे॒वाः । यस्य॑ च्छा॒याऽमृतं॒ यस्य॑ मृ॒त्युः कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ४८ ॥ यजु० २५ । १३ ॥

व्याख्यान—हे मनुष्यो ! जो परमात्मा अपने लोगों को "आत्मदा:" आत्मा का देनेवाला तथा आत्मज्ञानादि का दाता है जीवप्राणदाता, तथा "बलदा:" त्रिविध बल—एक मानस विज्ञानबल, द्वितीय इन्द्रियबल अर्थात् श्रोत्रादि को स्वस्थता तेजोवृद्धि, तृतीय शरीरबल महापुष्टि दृढाङ्गता और वीर्यादि वृद्धि इन तीनों बलों का जो दाता है, जिसके "प्रशिषम्" अनुशासन (शिक्षामर्यादा) को यथावत् विद्वान् लोग मानते हैं। सब प्राणी और अप्राणी=जड़ चेतन, विद्वान् वा मूर्ख उस परमात्मा के नियमों को कोई कभी उल्लङ्घन नहीं कर सकता; जैसे कि कान से सुनना, आँख से देखना इसको उलटा कोई नहीं कर सकता है। जिसकी छाया=आश्रय ही अमृत= विज्ञानी लोगों का मोक्ष कहाता है, तथा जिसकी अछाया (अकृपा) दुष्ट जनों के लिये वारम्वार मरण और जन्मरूप महाक्लेशदायक है।

हे सज्जन मित्रो ! वही एक परमसुखदायक पिता है। आओ अपने सब मिल के प्रेम विश्वास और भक्ति करें, कभी उसको छोड़ के अन्य को उपास्य न मानें। वह अपने को अत्यन्त सुख देगा इस में कुछ सन्देह नहीं ॥ ४८ ॥

पदार्थ:—(य:) जो परमात्मा (आत्मदा:) आत्मा का देने वाला तथा आत्मज्ञानादि का दाता है, जीव प्राणदाता (बलदा) त्रिविध बल (विज्ञानबल, इन्द्रियबल, शरीरबल) का दाता (यस्य) जिसके (विश्वे) सब प्राणी-अप्राणी, जड़-चेतन, विद्वान् वा मूर्ख

(उपासते) यथावत् मानते हैं (प्रशिषम्) अनुशासन=शिक्षा मर्यादा को (यस्य) उस परमात्मा के नियमों का (देवाः) विद्वान् लोग (यस्य) जिसकी (छाया) आश्रय ही (अमृतम्) विज्ञानी लोगों का मोक्ष कहाता है (यस्य) जिसकी अछाया=अकृपा (मृत्युः) दुष्ट जनों के लिये वारम्वार मरण और जन्मरूप महाक्लेशदायक है (कस्मै) परमसुखदायक (देवाय) पिता की (हविषा) हम सब मिलकर प्रेम विश्वास और भक्ति (विधेम) करें ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! य आत्मदा बलदा यस्य प्रशिषं विश्वे देवा उपासते यस्य सकाशात् सर्वे व्यवहारा जायन्ते यस्यच्छायाऽमृतं यस्याज्ञाभङ्गो मृत्युस्तस्मै कस्मै देवाय वयं हविषा विधेम ॥

मूल स्तुति

उपहूताऽइह गावऽउपहूताऽअजावयः । अथोऽअन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः । क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवꣳशग्मꣳ शंय्योः शंय्योः ॥ ४९ ॥ यजु० ३ । ४३ ॥

व्याख्यान—हे पश्वाधिपते, महात्मन् ! आप की ही कृपा से उत्तम-उत्तम गाय, भैंस, घोड़े, हाथी, बकरी, भेड़ तथा उपलक्षण से अन्य सुखदायक पशु और अन्न, सर्वरोगनाशक ओषधियों का उत्कृष्ट रस "नः" हमारे घरों में नित्य स्थिर (प्राप्त) रख । जिससे किसी पदार्थ के विना हम को दुःख न हो ।

हे विद्वानो ! "वः" युष्माकम् तुम्हारे संग और ईश्वर की कृपा से क्षेम-कुशलता और शान्ति तथा सर्वोपद्रव विनाश के लिये "शिवम्" मोक्ष-सुख, "शग्मम्" और इस संसार के सुख को मैं यथावत् प्राप्त होऊँ। मोक्ष-सुख और प्रजा सुख इन दोनों की कामना करनेवाला जो मैं हूँ, उन मेरी उक्त दोनों कामनाओं को आप यथावत् शीघ्र पूरी कीजिये ।

आपका यही स्वभाव है कि अपने भक्तों की कामना अवश्य पूरी करना ॥ ४९ ॥

पदार्थः—(उपहूताः) नित्य स्थिर=प्राप्त रख (इह) [इस संसार में] (गावः) उत्तम गाय, भैंस, घोड़े, हाथी (उपहूताः) नित्य स्थिर=प्राप्त रख (अजावयः) बकरी, भेड़ तथा उपलक्षण से अन्य सुखदायक पशु (अथो) और (अन्नस्य) अन्न, सर्वरोगनाशक ओषधियों का (कीलालः) उत्कृष्ट रस (उपहूतः) नित्य स्थिर=प्राप्त रख (गृहेषु) घरों में (नः) हमारे (क्षेमाय) कुशलता के लिये (वः) तुम्हारे

(शान्त्यै) शान्ति तथा सर्वोपद्रव विनाश के लिये (प्रपद्ये) मैं यथावत् प्राप्त होऊँ (शिवम्) मोक्ष-सुख को (शग्मम्) इस संसार के सुख को (शंयोः) मोक्ष सुख की कामना (शंयोः) प्रजा सुख की कामना ॥

अन्वयः—इहास्मिन् संसारे वो युष्माकं (संगेन कृपया वा) शान्त्यै नोऽस्माकं क्षेमाय गृहेषु गाव उपहूता अजावय उपहूता अथोऽन्नस्य कीलल उपहूतोऽस्त्वेवं कुर्वन्नहं गृहस्थः शंयोः शिवं शग्मं च प्रपद्ये ॥

मूल प्रार्थना

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम् ।
पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ।५०।
यजु० २५ । १८ ॥

व्याख्यान—हे सुख और मोक्ष की इच्छा करने वाले जनो ! उस परमात्मा को ही "हूमहे" हम लोग प्राप्त होने के लिये अत्यन्त स्पर्धा करते हैं कि उस को हम कब मिलेंगे, क्योंकि वह ईशान (सब जगत् का स्वामी) है और ईशन (उत्पादन) करने की इच्छा करने-वाला है। दो प्रकार का जगत् है अर्थात् चर और अचर, इन दोनों प्रकार के जगत् का पालन करने वाला वही है। "धियञ्जिन्वम्" विज्ञानमय, विज्ञानप्रद और तृप्तिकारक ईश्वर से अन्य कोई नहीं है। उसको "अवसे" अपनी रक्षा के लिये हम स्पर्धा (इच्छा) से आह्वान करते हैं ॥

जैसे वह ईश्वर "पूषा" हमारे लिये पोषणप्रद है वैसे ही "वेद-साम्" धन और विज्ञानों की वृद्धि का "रक्षिता" रक्षक है, तथा "स्वस्तये" निरुपद्रवता के लिये हमारा "पायुः" पालक वही है, और "अदब्धः" हिंसारहित है।

इसलिये ईश्वर जो निराकार, सर्वानन्दप्रद है, हे मनुष्यो ! उस को मत भूलो, विना उसके कोई सुख का ठिकाना नहीं है ॥ ५० ॥

पदार्थः—(तम्) उस परमात्मा को (ईशानम्) सब जगत् के स्वामी और ईशन उत्पादन करने की इच्छा करने वाले को (जगतः) चर जगत् का (तस्थुषः) अचर जगत् का (पतिम्) पालन करने वाले को (धियम्) विज्ञानमय, विज्ञानप्रद को (जिन्वम्) तृप्तिकारक

को (अवसे) अपनी रक्षा के लिये (हूमहे) अत्यन्त स्पर्धा करते हैं/स्पर्द्धा=इच्छा से आह्वान करते हैं (वयम्) हम लोग (पूषा) पोषणप्रद है (नः) हमारे लिये (यथा) जैसे (वेदसाम्) धन और विज्ञानों की (असत्) है (वृधे) वृद्धि का (रक्षिता) रक्षक (पायुः) पालक (अदब्धः) हिंसारहित (स्वस्तये) निरुपद्रवता के लिये ।।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! वयमवसे जगतस्तस्थुषस्पतिं धियं जिन्वं तमीशानं हूमहे स यथा नो वेदसां वृधे पूषा रक्षिता स्वस्तये पायुरदब्धोऽसत्तथा यूयं कुरुत स च युष्मभ्यमप्यस्तु ।।

मूल स्तुति

मयीदमिन्द्रऽइन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम्।
अस्माकꣳ सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिषः ॥ ५१ ॥
यजु० २ । १० ॥

व्याख्यान—हे इन्द्र परमैश्वर्यवन् ईश्वर ! "मयि" मुझ में विज्ञानादिशुद्ध इन्द्रिय "रायः" और उत्तम धन को 'मघवानः" परम धनवान् आप "सचन्ताम्" सद्यः प्राप्त करो।

हे सर्व काम पूर्ण करने वाले ईश्वर ! आपकी कृपा से हमारी आशा सत्य ही होनी चाहिये, (पुनरुक्त अत्यन्त प्रेम और त्वरा द्योतनार्थ है)। हे भगवन् ! हम लोगों की इच्छा आप शीघ्र ही सत्य कीजिये जिससे हमारी न्याययुक्त इच्छा के सिद्ध होने से हम लोग परमानन्द में सदा रहें ॥ ५१ ॥

पदार्थः—(मयि) मुझ में (इदम्) विज्ञानादि (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् ईश्वर ! (इन्द्रियम्) शुद्ध इन्द्रिय को (दधातु) [धारण करो] (अस्मान्) [हमको] (रायः) उत्तम धन को (मघवानः) परम धनवान् आप (सचन्ताम्) सद्यः प्राप्त करो (अस्माकम्) हमारी (सन्तु) होनी चाहिये (आशिषः) आशा (सत्याः) सत्य ही (नः) हम लोगों की (सन्तु) शीघ्र ही कीजिये (आशिषः) इच्छा ॥

अन्वयः—हे परमैश्वर्यवन् ईश्वर ! मयीदम् इन्द्रियं रायश्च दधातु। तत्कृपया स्वपुरुषार्थेन च यथा वयं मघवानो भवेम तथाऽस्मान् रायः सचन्ताम्। एवञ्चास्माकमाशिषः सत्याः सन्तु। नोऽस्माकं चाशिषः न्यायेच्छाविशिष्टाः क्रियाः सत्याः सन्तु ॥

मूल प्रार्थना

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् । सनिं मेधामयासिषथं स्वाहा ॥ ५२ ॥ यजु० ३२ । १३ ॥

व्याख्यान—हे सभापते, विद्यामय, न्यायकारिन्, सभासद्, सभाप्रिय ! सभा ही हमारा राजा न्यायकारी हो, ऐसी इच्छा वाले आप हमको कीजिये । किसी एक मनुष्य को हम लोग राजा कभी न मानें, किन्तु आप को ही हम सभापति, सभाध्यक्ष, राजा मानें । आप अद्भुत=आश्चर्य विचित्र शक्तिमय हैं, तथा प्रियस्वरूप ही हैं । इन्द्र जो जीव उसको कमनीय (कामना के योग्य) आप ही हैं । "सनिम्" सम्यक् भजनीय और सेव्य भी जीवों के आप ही हैं । मेधा अर्थात् विद्या, सत्यधर्मादि धारणवाली बुद्धि को हे भगवन् ! मैं याचता हूँ । सो आप कृपा करके मुझ को देओ । "स्वाहा" यही स्वकीय वाक् आह=कहती है कि एक ईश्वर से भिन्न कोई जीवों को सेव्य नहीं है । यही वेद में ईश्वराज्ञा है, सो सब मनुष्यों को मानना अवश्य योग्य है ॥ ५२ ॥

पदार्थः—(सदसस्पतिम्) सभापति सभाध्यक्ष राजा को (अद्भुतम्) अद्भुत=आश्चर्य विचित्र शक्तिमय को (प्रियम्) प्रिय स्वरूप को (इन्द्रस्य) इन्द्र जो जीव उसके (काम्यम्) कमनीय= कामना के योग्य को (सनिम्) सम्यक् भजनीय और सेव्य को (मेधाम्) विद्या सत्य धर्मादि धारण वाली बुद्धि को (अयासिषम्) मैं याचता हूँ (स्वाहा) यही स्वकीय वाक् कहती है कि एक ईश्वर से भिन्न कोई जीवों का सेव्य नहीं है, यही वेद में ईश्वराज्ञा है ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! अहं स्वाहा यं सदसस्पतिम् अद्भुतम् इन्द्रस्य काम्यं प्रियं परमात्मानमुपास्य संसेव्य च सनिं मेधामयासिषं तं परिचर्यैतां यूयमपि प्राप्नुत ॥ ●

मूल स्तुति

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते । तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥ ८३ ॥ यजु० ३२ । १४ ॥

व्याख्यान—हे सर्वज्ञाग्ने परमात्मन् ! जिस विज्ञानवती यथार्थ धारणावाली बुद्धि को देव (विद्वानों) के वृन्द "उपासते" (धारण करते) हैं, तथा यथार्थ पदार्थ विज्ञान वाले पितर जिस बुद्धि के उपाश्रित होते हैं, उस बुद्धि के साथ इसी समय कृपा से मुझ को मेधावी कर। "स्वाहा" इस को आप अनुग्रह और प्रीति से स्वीकार कीजिये, जिससे मेरी जड़ता सब दूर हो ॥ ५३ ॥

पदार्थः—(याम्) जिस (मेधाम्) यथार्थ धारणा वाली बुद्धि को (देवगणाः) विद्वानों के वृन्द (पितरः) यथार्थ विज्ञान वाले पितर (च) तथा (उपासते) धारण करते हैं। उपाश्रित होते हैं (तया) उस से (माम्) मुझ को (अद्य) इसी समय (मेधया) बुद्धि के साथ (अग्ने) हे सर्वज्ञाग्ने परमात्मन् ! (मेधाविनम्) मेधावी (कुरु) कर (स्वाहा) इस [प्रार्थना] को आप अनुग्रह और प्रीति से स्वीकार कीजिये ॥

अन्वयः—हे अग्ने विद्वन्नध्यापक जगदीश्वर वा ! देवगणाः पितरश्च यां मेधामुपासते तया मेधया माम् अद्य स्वाहा मेधाविनं कुरु ॥

———

मूल प्रार्थना

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः । मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा ॥ ५४ ॥

यजु० ३२ । १५ ॥

व्याख्यान—हे सर्वोत्कृष्टेश्वर ! आप "वरुणः" वर (वरणीय) आनन्दस्वरूप हो, कृपा से मुझ को मेधा=सर्वविद्या-सम्पन्न बुद्धि दीजिये। तथा "अग्निः" विज्ञानमय, विज्ञानप्रद "प्रजापतिः" सब संसार के अधिष्ठाता, पालक; "इन्द्रः" परमैश्वर्य-वान्, "वायुः" विज्ञानवान्, अनन्तबल; "धाता" तथा सब जगत् का धारण और पोषण करने वाले आप, मुझ को अत्युत्तम मेधा (बुद्धि) दीजिये* ॥ ५४ ॥

पदार्थः—(मेधाम्) सर्वविद्यासम्पन्न बुद्धि (मे) मुझ को (वरुणः) वर=वरणीय आनन्दस्वरूप (ददातु) कृपा से दीजिये (मेधाम्) पूर्वोक्त (अग्निः) विज्ञानमय विज्ञानप्रद (प्रजापतिः) सब संसार के अधिष्ठाता पालक (मेधाम्) पूर्वोक्त (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् (च) तथा (वायुः) विज्ञानवान् अनन्तबल (च) तथा (मेधाम) अत्युत्तम मेधा=बुद्धि (धाता) सब जगत् का धारण पोषण करने वाले (ददातु) दीजिये (मे) मुझको (स्वाहा) पूर्व मन्त्रोक्तवत् ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा वरुणः परमेश्वरो विद्वान् वा स्वाहा मे मेधां ददातु अग्निः प्रजापतिर्मेधां ददातु। इन्द्रो मेधां ददातु वायुश्च मेधां ददातु धाता च मे मेधां ददातु तथा युष्मभ्यमपि ददातु ॥●

---

*अनेक बार मांगना ईश्वर से अत्यन्त प्रीतिद्योतनार्थ सद्यः दानार्थ है बुद्धि से उत्तम पदार्थ कोई नहीं है उस के होने से जीव को सब सुख होते हैं इस हेतु से वारम्वार परमात्मा से बुद्धि की ही याचना करनी श्रेष्ठ बात है।

मूल स्तुति

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् । मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा ॥ ५५ ॥ यजु० ३२ । १६ ॥

व्याख्यान—हे महाविद्य महाराज सर्वेश्वर ! मेरा ब्रह्म (विद्वान्) और क्षत्र (राजा, राज्य, महाचतुर न्यायकारी शूरवीर राजादि क्षत्रिय) ये दोनों आपकी अनन्त कृपा से यथावत् अनुकूल हों। "श्रियम्" सर्वोत्तम विद्यादि लक्षणयुक्त महाराज्य श्री को हम प्राप्त हों।

हे "देवाः" विद्वानो ! दिव्य ईश्वरगुण परमकृपा आदि, उत्तम विद्यादि लक्षण समन्वित श्री को मुझ में अचलता से धारण कराओ उस को मैं अत्यन्त प्रीति से स्वीकार करूँ और उस श्री को विद्यादि सद्गुण वा सर्व संसार के हित के लिये तथा राज्यादि प्रबन्ध के लिये व्यय करूँ ॥ ५५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीयुतविरजानन्दसरस्वती-
स्वामिनां महाविदुषां शिष्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना
विरचित-आर्याभिविनये द्वितीयः प्रकाशः सम्पूर्णः ॥
समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

पदार्थः—(इदम्) यह (मे) मेरा (ब्रह्म) ब्रह्म=विद्वान् (च) और (क्षत्रम्) क्षत्र=राजा, राज्य, महाचतुर न्यायकारी शूरवीर राजादि क्षत्रिय (च) और (उभे) दोनों (श्रियम्) सर्वोतम विद्यादि-लक्षण युक्त महाराज्य श्री को (अश्नुताम्) प्राप्त हों (मयि मुझ में (देवाः) हे विद्वानो ! (दधतु) धारण कराओ (श्रियम्) दिव्य ईश्वर

गुण परम कृपा आदि श्री को (उत्तमाम्) उत्तमविद्यादि लक्षण समन्वित श्री को (तस्यै) उसको/उस श्री को विद्यादिसद्गुण वा सर्वसंसार के लिये (ते) तथा राज्यादि प्रबन्ध के लिये (स्वाहा) मैं अत्यन्त प्रीति से स्वीकार करूँ/व्यय करूँ ॥

अन्वयः—हे परमेश्वर ! भवत्कृपया हे विद्वन् ! तव पुरुषार्थेन च स्वाहा मे ममेदं ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुतां यथा देवा मय्युत्तमां श्रियं दधतु तथाऽन्येष्वपि । हे जिज्ञासो ! ते तुभ्यं तस्यै वयं प्रयतेमहि ॥

विषय-सूची

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट के प्रकाशन

सत्यार्थप्रकाश—स्थूलाक्षर—उपहार संस्करण कल्याण साईज, चिकना कागज, फुल कपड़ा जिल्द, मू० १६)

सत्यार्थप्रकाश—(डेमी साईज, मू० ४) **सैकड़ा २५०)**

सत्यार्थप्रकाश—गुटका साईज, पृष्ठ ८५४, सफेद कागज सुन्दर छपाई, फुल कपड़ा कवर, मू० ३.२०, सैकड़ा २००)

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—कल्याण साइज, फुल कपड़ा जिल्द १०)

संस्कारविधि—सफेद कागज, सुन्दर छपाई, अजिल्द ४) कपड़ा जिल्द ६)

दयानन्दलघुग्रन्थसंग्रह—इसमें महर्षि रचित चौदह ग्रन्थों का संग्रह है। पृष्ठ ४४८, मू० अजिल्द ४) सजिल्द ४-५०।

आर्योद्देश्यरत्नमाला स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश—६) सैकड़ा।

पञ्चमहायज्ञविधि—मू०) ५०, , मोटे कवर सहित, सैकड़ा २५)

व्यवहारभानु—मू० २०) सैकड़ा, पृष्ठ ३६।

गोकरुणानिधि—१०) सैकड़ा।

महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र—अमर शहीद पं० लेखराम द्वारा संकलित मौलिक, प्रामाणिक, सर्वोत्तम उर्दू भाषा का सर्वप्रथम हिन्दी में अनुवाद, कल्याण साईज, पृष्ठ ६४८, मू० २४)।

सन्ध्योपासनविधिः—महर्षि दयानन्द कृत संस्कृतार्यभाषा-भाष्य सहित [महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा परिमार्जित सन्ध्याविधि की प्रामाणिक पुस्तक] पृ० ९०, टाइटल सहित, मूल्य १)।

हवन-मन्त्र—विशेष एवं दैनिक अग्निहोत्र, मूल्य २५ पैसे, सैकड़ा १५)।

सृष्टि-संवत् विचार—दो भाग, मू० १-५० तथा १)।

यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय—महर्षि दयानन्द-भाष्य, व्याख्यासहित मू० १)

कालाकाल-मृत्युविचार—पृष्ठ १२०, मू० १-५०।

उपदेश-मञ्जरी—महर्षि दयानन्द के पूना उपदेश विस्तृत विषय-सूची आदि अनेक विशेषतायुक्त मूल्य अजिल्द ४) सजिल्द ५)।

वेदार्थ-समीक्षा—वेदार्थ विषयक महर्षि दयानन्द तथा सायणाचार्यादि की शैलियों पर विचार एवं सायणाचार्यभाष्य के प्रथम मण्डल के प्रारम्भ के २१ सूक्तों की समीक्षा पृष्ठ २१२, मू० १-५० ।

यथार्थ वेदान्त—मूल्य ६० पैसे ।

वेद में अनित्य इतिहास नहीं—मू० १) रुपया

वैदिक मनोविज्ञान—वेद, वेदाङ्ग, उपाङ्ग, मनुस्मृति, ब्राह्मण, आयुर्वेद तथा महर्षि दयानन्दकृत ग्रन्थों से संकलित समन्वय सहित, डेमी साइज, पृ० १८४, मूल्य ३) ।

वैदिक-कोष—महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य एवं सत्यार्थप्रकाश आदि समस्त ग्रन्थों से संग्रहीत वैदिक पदों के अकारादि क्रम से अर्थ, अनेक विशेषताएं भी । मूल्य १००) कमीशन ४० प्रतिशत ।

दयानन्द-यजुर्वेदभाष्यभास्कर—२६५० कल्याण के पृष्ठों में मोटे चिकने बढ़ियाकागज़ पर सुन्दर छपाई, चारों भागों का मूल्य १२०) पूरी कपड़े की धार आकर्षक जिल्द ४० प्रतिशत कमीशन ।

दयानन्द यजुर्वेदभाष्य-भाषानुवाद—अर्थात् दयानन्द यजुर्वेद भाष्य-भास्कर से हिन्दी भाष्य की भाग, मूल्य ५०) कमीशन ४० प्रतिशत ।

● ऋषि सत्यार्थद्रष्टा होते हैं अतः उनका भाष्य ही प्रामाणिक तथा दोष-रहित होता है । ऋषिभाष्य क्रमशः केवल महर्षि दयानन्द का ही प्राप्य है । महर्षि भाष्य कुछ कारणों से प्रायः सभी को समझ में नहीं आता था, वे सब कठिनाइयां इस व्याख्या के द्वारा दूर कर दी गई हैं अतः कथाओं और व्याख्यानों के लिए यह अति उपयोगी बन गया है ।

● पूर्व महर्षिभाष्य में अन्वय सहित पदार्थ न होने से पाठक मन्त्रार्थ को हृदयङ्गम नहीं कर पाते थे। इसमें अन्वय सहित पदार्थ करके इस बाधा को दूर कर दिया गया है।

महर्षि का सम्पूर्ण संस्कृतभाष्य अक्षुण्ण रखा गया है ।

● महर्षि के संस्कृतभाष्य का अभी तक प्राप्त भाषानुवाद अशुद्ध है और धाराप्रवाह भाषा में नहीं है । परन्तु इसमें संस्कृत का भाषानुवाद शुद्ध, सरल एवं मुहावरेदार है ।

विभिन्न विशेष स्थलों की सरल व्याख्या की गई है ।